॥यथार्थ गीता॥

५२०० वर्षको लामो अन्तरालपछि श्रीमद्भगवद्गीताको शाश्वत व्याख्या

॥यथार्थ गीता॥

मानव धर्मशास्त्र

स्वामी अड़गड़ानन्द

NEPALI

लेखक प्रति........

'यथार्थ गीता' को लेखक एउटा सन्त हुनुहुन्छ, जो शैक्षिक उपलब्धिहरूसंग सम्बद्ध न भए पनि सद्‌गुरु-कृपाको फलस्वरूप ईश्वरीय आदेशहरूद्वारा संचालित हुनुहुन्छ। लेख्ने कार्यलाई वहाँले साधना-भजनमा व्यवधान मान्नु हुन्छ; तर गीताको यस भाष्यमा निर्देशन नै निमित्त बन्यो। भगवानले वहाँलाई अनुभवमा भन्नुभयो कि वहाँको सबै वृत्तिहरू शान्त भइसकेको छ, एउटा सानो वृत्ति मात्र बाँकी छ- गीता लेख्ने। पहिले त स्वामीजीले यस वृत्तिलाई भजनद्वारा काट्नको लागि प्रयत्न गर्नुभयो, तर भगवान्‌को आदेशको मूर्तस्वरूप हो - 'यथार्थ गीता'। भाष्यमा जहाँ पनि गल्ती हुन्थ्यो, भगवानले सच्चाई दिनुहुन्थ्यो। स्वामीजीको स्वान्तः सुखाय यो कृति सर्वान्तः सुखाय बनोस्, यसै शुभकामनाको साथ।

- प्रकाशकको तर्फबाट

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

।। श्रीमद्भगवद्गीता ।।

।। यथार्थ गीता ।।

मानव-धर्मशास्त्र

व्याख्याकार :

परमपूज्य श्री परमहंस महाराजज्यूको कृपा-प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दज्यू

श्री परमहंस आश्रम शक्तेषगढ़

ग्राम-पत्रालय- शक्तेषगढ़, जिल्ला- मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, भारत

फोन : (०५४४३) २३८०४०

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

सम्पर्क :

श्री परमहंस आश्रम झौखेल-१

भक्तपुर, काठमाण्डौ, नेपाल – मो०: ९८५१०३४८१०, ९८४१९६२७७५

श्रीकृष्ण जुन स्तरको कुरा गर्दछन्, क्रमशः हिडेर त्यसै स्तरमा उभिएका कुनै महापुरुषले नै भन्न सक्नेछन् कि श्रीकृष्णले जुन बेला गीताको उपदेश दिनुभएको थियो त्यसबेला उहाँको मनको भाव के थियो? मनका सबै भावलाई व्यक्त गर्न सकिंदैन। केहीलाई अभिव्यक्त गर्न सकिन्छ भने कतिपय हाउ-भाउद्वारा व्यक्त गरिन्छ र बाँकी पर्याप्त क्रियात्मक हुन्छन्, जसलाई कुनै साधकले साधनाद्वारा मात्र जान्न सक्छ। जुन स्तरमा श्रीकृष्ण हुनुहुन्थ्यो, क्रमशः त्यस अवस्थामा पुगेका महापुरुषले नै जान्दछ कि गीताले के भन्छ? यस्ता महापुरुषले गीताका पंक्तिहरूलाई दोहोऱ्याउने मात्र गर्दैन बरू त्यसको मूलभाव पनि दर्शाउने गर्छ; किनकि जुन दृश्य श्रीकृष्णको अगाडि थियो त्यही त्यस वर्तमान महापुरुषको अगाडि पनि छ। त्यसैले उसले देख्दछ, तपाईंलाई पनि देखाउँछ, तपाईंभित्र पनि जागृत गराउँछ, त्यस बाटोमा तपाईंलाई हिडाउन पनि सक्दछ।

'पूज्य श्री परमहंसज्यू महाराज' पनि त्यसै स्तरको महापुरुष हुनुहुन्थ्यो। वहाँको वाणी र अन्तःप्रेरणाले गीताको जुन अर्थ मैले ग्रहण गरें त्यसैको संकलन 'यथार्थ गीता' हो।

– स्वामी अड़गड़ानन्द

हाम्रो प्रकाशहरू

पुस्तकहरू		भाषा
यथार्थ गीता	❖ *भारतीय भाषाहरू*	हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती, उर्दू, संस्कृत, उड़िया, बंगला, तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़, आसामी, सिन्धी।
	❖ *विदेशी भाषाहरू*	अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, नेपाली, स्पेनीश, फारसी, नार्वेजीयन, चायनीज, डच, इटालियन, रूसी।
शंका समाधान		हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी।
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति		हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी।
अंग क्यों फड़कते हैं? क्या कहते हैं?		हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, जर्मन।
अनछुए प्रश्न		हिन्दी, मराठी, गुजराती।
एकलव्य का अंगूठा		हिन्दी, मराठी, गुजराती।
भजन किसका करें?		हिन्दी, मराठी, गुजराती, जर्मन, अंग्रेजी, नेपाली।
योगशास्त्रीय प्राणायाम		हिन्दी, मराठी, गुजराती।
षोडशोपचार पूजन-पद्धति		हिन्दी, मराठी, गुजराती।
योगदर्शन-प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या		हिन्दी, गुजराती, संस्कृत।
ग्लोरिस् ऑफ योगा		अंग्रेजी।
प्रश्न समाज के- उत्तर गीता से		हिन्दी।
बारहमासी		हिन्दी।
अहिंसा का स्वरूप		हिन्दी, मराठी, नेपाली।

ऑडियो कैसेट्स

यथार्थ गीता	हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी।
अमृतवाणी (श्री स्वामीज्यूको मुखारविन्दबाट नि:सृत अमृतवाणिहरूको संकलन वाल्यूम १-५५ सम्म।)	हिन्दी।

गुरुवंदना (आरती)

ऑडियो सिडिज् (MP3)

यथार्थ गीता	हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी, जर्मन, बंगला।
अमृतवाणी	हिन्दी।

अनन्तश्री विभूषित,
योगिराज, युग पितामह
परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी
श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया
(चित्रकूट)
को परम पावन चरणमा
सादर समर्पित
अन्तःप्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।।
जय सद्गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।

श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)
जन्मः शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (१९११ ई.)
महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल ७, २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई.
परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT

(विश्व धर्म संसद)

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI - 110 015 (INDIA).

विश्वगौरव सम्मानपत्र

वेदवेदांग आयुर्वेद ज्योतिषादि शास्त्रपरम्परासुरक्षाव्रती, अखिल संस्कृतवाङ्मयसंरक्षण—प्रचार—प्रसारपरधुरंधर आर्षसनातनमर्यादाजीवनपद्धतिसदाचारपरायण, "सर्वभूतहिते रतः—वसुधैव कुटुम्बकम्" के सद्भावना पर्यावरण से ओतप्रोत,

सम्माननीय श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज - परमहंस आश्रम

निवासी शक्तेशगढ़ चुनार (मिर्जापुर) को

अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन में विश्वगौरव सम्मानपत्र से विभूषित किया जाता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

World Religious Parliament is pleased to confer
The Title of Vishwagaurav
In recognition of his meritorious contribution for World Development
through श्रीमद्भगवद्गीता, धर्मशास्त्र, (यथार्थ गीता)
दिनांक कुम्भमेला १०-४-९८ हरिद्वार

Chairman (आरएच)
Presentation Committee

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman
World Religious Parliament

बीसवीं शताब्दी के अंतिम महाकुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में समस्त शंकराचार्यों, महामंडलेश्वरों, ब्राह्मण महासभा और ४४ देशों के धर्मशील विद्वानों की उपस्थिति में विश्व धर्म संसद द्वारा पूज्य स्वामी जी को विश्वगौरव सम्मान पत्र प्रदान किया गया।

विश्व धर्म संसद्

WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI 110 015 (INDIA)

सम्मान प्रमाणपत्र

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" के मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित विश्व में निरोगसमाज की स्थापना तथा शारीरिक मानसिक बौद्धिक सामाजिक स्वास्थ्य की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील एवं बाह्य तथा आन्तरिक पर्यावरण की स्वच्छता के लिए संकल्पित विश्व धर्मसंसद् प्राच्यअर्वाच्य ज्ञान विज्ञान की किसी भी शाखा के माध्यम से मानवता की सेवाओं में समर्पित व्यक्तियों को सम्मान करने में गौरव समझती है।

इसी धारणा-अवधारणा के दृष्टिकोण से उल्लेखनीय ज्ञान तथा सेवाओं के लिए श्री विश्वमानव को एक धर्मशास्त्र दाता विश्वगौरव स्वामी अड़गड़ानन्द जी को — यथार्थ गीता धार्मिक — क्षेत्र/विषय में — विश्वगुरु — सम्माननीय उपाधि से सम्मानित तथा जनसेवा के क्षेत्र में अग्रणी प्रमाणित करती है।

श्रीमद् भगवद् गीता भाष्य "यथार्थ गीता" धर्मशास्त्र है।

World Religious Parliament is pleased to confer the above Title in recognition of his meritorious contribuiton for World Development through ______________________

26-1-2001

Chairman
Presentation Committee
or
Presiding Authority

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman (Indian Region)
World Religious Parliament

विश्व धर्म संसद ने विश्व मानव धर्मशास्त्र श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के भाष्य 'यथार्थ गीता' पर परमपूज्य विश्वगौरव परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्द महाराज जी को प्रयाग के परम पावन पर्व महाकुम्भ के अवसर पर दिनांक २६-१-२००१ को विश्वगुरु की उपाधि से विभूषित किया।

।।श्री काशीविश्वनाथो विजयते।।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्रार्थविद्यावतार-विश्वविश्रुत-महामहोपाध्यायदिविरुदविभूषक
पण्डितसम्राट-प्रातःस्मरणीय श्री शिवकुमारशास्त्रिमिश्रप्रतिष्ठापिता
वाराणसेयसर्वविधविद्वत्समाज-प्रतिनिधिभूता-

श्री काशीविद्वत्परिषद्

पत्राचार कार्यालय :-
डी.१७/५८, दशाश्वमेध,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश
मो. नं. ९४१५ २८५८५६
टे. नं. ०५४२-२४५२११३

दिनांक 1.3.04

श्री काशीविद्वत्परिषद् समय-समय पर धर्म की समीक्षा करती आयी है। धर्म के सम्बन्ध में यह समाज को निर्देश देने का अधिकार रखती है। धार्मिक प्रकरणों में यह भारत की बहुमान्य सर्वोच्च संस्था है। किसी निर्णय को संशोधित करने का अधिकार परिषद् की कार्यकारिणी को है किन्तु धर्म और धर्मशास्त्र अपरिवर्तनशील होने से आदिकाल से धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता ही रही है।
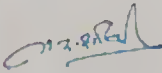
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। गीता, ४/१

अर्जुन! इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में मैंने सर्वप्रथम सूर्य के प्रति कहा। सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा। मनु ने इस स्मृत ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए स्मृति की परम्परा चलायी और अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। कालान्तर में इस स्मृति ज्ञान को महर्षि वेदव्यास ने लिपिबद्ध किया। मानव जीवन का नियमन तथा निःश्रेयस प्रदान करने वाली आदि मनुस्मृति गीता ही है।

मनु के समक्ष अवतरित वेद इसी का विस्तार है। अन्य शास्त्र समयानुसार विश्व की विविध भाषाओं में ईश्वरीय गायन श्रीमद्भगवद्गीता की ही प्रतिध्वनि हैं। गीता की अवधारणा को स्वामी अड़गड़ानन्द जी ने 'यथार्थ गीता' में व्यक्त किया है जो शत-प्रतिशत सत्य है। परा विद्या की परिभाषा है।

स्वामी जी ने गीता की यह व्याख्या देकर विश्व मानव को एक धर्मशास्त्र, एक परमात्मा के पथ को प्रशस्त किया है। धर्मशास्त्र की व्याख्या के रूप में हम सभी 'यथार्थ गीता' की अनुशंसा करते हैं।

गणेशदत्त शास्त्री
मंत्री
श्री काशीविद्वत्परिषद्
भारत

आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी दर्शनरत्नम वाचस्पति
अध्यक्ष
श्री काशीविद्वत्परिषद्
भारत

भारत की सर्वोच्च श्री काशी विद्वत् परिषद् ने दिनांक ०१-०३-२००४ को 'श्रीमद्भगवद्गीता' को धर्मशास्त्र और 'यथार्थ गीता' को परिभाषा के रूप में स्वीकार किया है।

।।श्री काशीविश्वनाथो विजयते।।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्रार्थविद्यावतार-विश्वविश्रुत-महामहोपाध्यायदिविरुदविभूषक
पण्डितसम्राट-प्रातःस्मरणीय श्री शिवकुमारशास्त्रिमिश्रप्रतिष्ठापिता
वाराणसेयसर्वविधविद्वत्समाज-प्रतिनिधिभूता-

श्री काशीविद्वत्परिषद्

पत्राचार कार्यालय :-
डी.१७/५८, दशाश्वमेध,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश
मो. नं. ९४१५ २८५८५६
टे. नं. ०५४२-२४५२११३

दिनांक 1.3.04

श्री परमहंस आश्रम, शक्तेश गढचुनार की अपनी सौभाग्यपूर्ण यात्रा का सुअवसर प्राप्त हुआ है। वहाँ के वर्तमान परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज के दर्शन का स्मरणीय अवसर काशी की विद्वन्मण्डली के साथ मुझे प्राप्त हुआ। श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज ब्रह्मलीन योगिराज स्वामी श्री परमानन्द परमहंस जी के शिष्य है और उनके द्वारा प्राप्त मानव धर्मोपदेश को स्वरचित 'यथार्थ गीता' के माध्यम से मानव मात्र के लिये प्रसारित कर रहे है, जिस गीता का ज्ञान भगवान कृष्ण ने अपने मुखारविन्द से अर्जुन के माध्यम से समस्त मानव के लिये किया था। इसीलिये श्रीमद्भगवद् गीता मानव मात्र का धर्मशास्त्र है। भगवान एक है और सबके है अतः उनकी गीता भी एक आकाश, एक सूर्य और एक चन्द्र के समान सबके लिये है।

इस प्रकार गीता एकतामूलक है और स्वयं भी एकता का मूल है। भगवान ने स्वयं कहा है - ममैवांशो जीव लोकः'' अर्थात् प्राणी मात्र भगवान का ही अंश है तथा अंश अंशी में भेद नही होता है। अतः प्रत्येक प्राणी भगवद्भिन्नता के आधार पर वस्तुगत्या परस्पर में भी अभिन्न ही हैं। ''तद्भिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्व नियमः'' यह वस्तुस्थिति है। अतःगीता एकतामूलक तथा एकता का मूल दोनो ही है। यही गीता की यथार्थता है जिसे पूज्य परमहंस जी महाराज ने ''यथार्थ गीता'' में, जो भाष्यरुप है, प्रतिपादित किया है।

यहाँ ''यथार्थ गीता'' पद से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि कोई अयथार्थ गीता भी है क्योंकि गीता एक है - श्रीमद्भगवद् गीता'। प्रस्तुत 'यथार्थ गीता' श्रीमद्भगवद् गीता' का ही भाष्य है, जिसे स्वयं परमहंस श्री स्वामी जी महाराज ने प्रत्येक अध्याय की अंतिम पुष्पिका में कहा है।- 'यथार्थ गीता' भाष्ये - ऐसा उल्लेख करते हुये। इसलिये 'यथार्थ गीता' का अभिप्रेतार्थ है। गीता की यथार्थता! इस अभिप्रेतार्थ को श्री स्वामी परमहंस जी ने इस सम्पूर्ण भाष्य में प्रतिपादित किया है।

श्रीमद्भगवद् गीता पर अनेक भाष्य निर्मित हुए है - जैसे कर्म की प्रधानता बताते हुए लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य, भगवद्भक्ति प्रधान वैष्णव भाष्य तथा ज्ञान प्रधान शांकरभाष्यादि ग्रन्थ! किन्तु प्रस्तुत यथार्थ गीता में एकेश्वरवाद मुख्यतया प्रतिपादित है जिसका किसी से विरोध नहीं है, प्रत्युत्त सबके साथ एक ईश्वरत्व की अनुभूति के रुप में सामंजस्य प्रकाशक है। क्योंकि कर्मकलाप भी उसी में पर्यवसित, भक्ति भी उसी की, तथा उसी का साक्षात्कार परमपुरुषार्थ मोक्ष का साधक है। भगवान ने स्वयं कहा है-

''यत्करोषि यद्श्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुस्व मदर्पणम्।।
''मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न संशयः।।

तथा ''ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति, ''ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति ''सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिस्यसि'' तथा सर्व कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते'' इत्यादि। इस प्रकार प्रस्तुत ''यथार्थ गीता'' की यथार्थता है - एक परमतत्व परमात्मा के आधार पर सबमें समत्व की अनुभूति -

''समो ऽहं सर्वभूतेषु न में द्वेष्यो ऽस्ति न प्रियः।

इस पवित्र उद्देश के साथ श्री परमहंस स्वामी अडगडानन्दजी महाराज द्वारा संस्थापित एवं संचालित यह परमहंस आश्रम ऋषियों के प्राचीन गुफाओं एवं अरण्यो की तरह इस पर्वत श्रेणी के बीच से लोक में गीतोक्त इस उपदेश को उद्बुद्ध करने वाला है कि शास्त्रानुमोदित स्वाभाविक व्यवहार को अपनाते हुए सबमें ''अभेदभावनयैव यतितव्यम् भाव को लोक कल्याणार्थ प्रसारित करना है।

हरि ॐ तत्सत्

डॉ. [signature]

आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी दर्शनरत्नम वाचस्पति
अध्यक्ष
श्री काशीविद्वत्परिषद्
भारत

भारत की सर्वोच्च श्री काशी विद्वत् परिषद् ने दिनांक ०१-०३-२००४ को 'श्रीमद्भगवद्गीता' को धर्मशास्त्र और 'यथार्थ गीता' को परिभाषा के रूप में स्वीकार किया है।

गीता मानव मात्रको धर्मशास्त्र हो।

-महर्षि वेदव्यास

श्रीकृष्णकालीन महर्षि वेदव्यासभन्दा पहिले कुनै पनि शास्त्र पुस्तकको रूपमा उपलब्ध थिएन। श्रुतज्ञानको त्यस परम्परालाई समाप्त गर्दै वहाँले चार वेद, ब्रह्मसूत्र, महाभारत, भागवत र गीता-जस्तो ग्रन्थहरूमा पूर्व सञ्चित भौतिक र आध्यात्मिक ज्ञानराशिलाई संकलन गरी आखीरमा आफैले निर्णय दिनुभयो-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

(म.भा., भीष्मपर्व अ० ४३/१)

गीता राम्ररी मनन गरेर हृदयमा धारण गर्ने योग्य छ, जुन पद्मनाभ भगवानको श्रीमुखबाट निस्केको वाणी हो भने अरु शास्त्रहरूको संग्रह गर्ने के आवश्यकता?

गीताका सारांश यस श्लोकबाट प्रगट हुन्छ-

एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतम्
एको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मंत्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।

-(गीता-माहात्म्य)

अर्थात् एउटै शास्त्र छ जुन देवकीपुत्र भगवानले श्रीमुखबाट गाउनु भयो- गीता! प्राप्त गर्ने योग्य एउटै देउता छ। त्यस गीतमा जुन सत्य भनियो- आत्मा! आत्माबाहेक अरू केहि पनि सत्य छैन। त्यस गीतमा त्यो महायोगेश्वरले के जप्नको लागि भने?- ओम्। अर्जुन! ओम् अक्षय परमात्माको नाउँ हो, त्यसको जप गर र ध्यान मेरो धर। एउटै धर्म छ- गीतामा वर्णन गरिएको परमदेव एउटा परमात्माको सेवा। वहाँलाई श्रद्धासाथ आफ्नो हृदयमा धारण गर। अतः शुरुदेखि नै गीता तपाईको शास्त्र रहिआएको छ। भगवान् श्रीकृष्णदेखि हजारौं वर्षपछि

भएका महापुरुषहरूले एउटा ईश्वरलाई सत्य बताए, उनी गीता कै संदेशवाहक हुन्। ईश्वरसंग नै लौकिक र पारलौकिक सुखहरूको कामना गर्नु, ईश्वरसंग डराउनु, अरू कसैलाई ईश्वर न मान्नु यहाँसम्म त सबै महापुरुषहरूले भने; तर ईश्वरीय साधना, ईश्वरसम्मको बाटो पार गर्ने तथ्य कुरा मात्र गीतामा राम्ररी क्रमबद्ध ढंगले सुरक्षित छ। गीताबाट सुख-शान्ति पाउनको साथै यसले अक्षय देवत्व पद पनि दिन्छ। हेर्नुस्- गीताको गौरवप्राप्त टीका- '**यथार्थ गीता**'।

आज संसारमा सबै ठाउँमा गीताको समादर छ, तापनि यो कुनै धर्म अथवा सम्प्रदायको साहित्य बन्न सकेन; किनकि सम्प्रदायहरू कुनै न कुनै रूढिबाट ग्रसित भएका छन्। भारतमा प्रगट भएको गीता विश्व-मनीषाको धरोहर हो। अतः यसलाई राष्ट्रीय शास्त्र जस्तो सम्मान दिएर ऊँच-नीच, भेदभाव र झगडाको परम्पराले पिरोलिएका विश्वका सम्पूर्ण जनतालाई शान्ति दिने प्रयास गर्नुहोस्।

।। ॐ ।।

धर्म-सिद्धान्त —एक

१. **सबै प्रभुका पुत्र-**

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। (गीता, १५/७)

सबै मानिस ईश्वरका सन्तान हुन्।

२. **मानव-शरीरको सार्थकता-**

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। (गीता, ९/३३)

सुखरहित, क्षणभंगुर तर दुर्लभ मानिस शरीर पाएर मेरो भजन गर अर्थात् भजनको अधिकार मनुष्यलाई नै प्राप्त छ।

३. **मानिसका मात्र दुई जात-**

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।। (गीता, १६/६)

मानिसहरू दुई प्रकारका मात्र छन्- देवता र असुर। जसको हृदयमा दैवी सम्पत्तिले काम गर्छ त्यो देवता हो र जसका हृदयमा आसुरी सम्पत्तिले काम गर्छ त्यो असुर हो। तेस्रो अरु कुनै जाति सृष्टिमा छैन।

४. **सबै कामना ईश्वरबाट सुलभ-**

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।। (गीता, ९/२०)

मलाई भजेर मानिसहरू स्वर्गसम्मको कामना गर्छन् म तिनीहरूलाई दिन्छु। अर्थात् सबैथोक एक परमात्माबाट सुलभ छ।

५. भगवानको शरणमा पापहरूको नाश–

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। (गीता, ४/३६)

सबै पापीहरूभन्दा बढी पाप गर्नेहरू पनि ज्ञानरूपी डुङ्गाले निःसन्देह पार हुनेछन्।

६. ज्ञान–

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।। (गीता, १३/११)

आत्माको आधिपत्यमा आचरण, तत्वको अर्थरूप मेरो, परमात्माको प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान हो र यसबाहेक अरु जे जति छ त्यो अज्ञान छ। अतः ईश्वरको प्रत्यक्ष जानकारी नै ज्ञान हो।

७. सबैलाई भजनगर्ने अधिकार–

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। (गीता, ९/३०)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।। (गीता, ९/३१)

अत्यन्त दुराचारीले पनि मेरो भजन गरेर चाँडै नै धर्मात्मा हुन्छ र सधैं रहिरहने शाश्वत शान्तिलाई प्राप्त गर्छ। अतः धर्मात्मा त्यो हो जो एक ईश्वरप्रति समर्पित छ र दुराचारीसमेतलाई भजनगर्ने अधिकार छ।

८. भगवत्पथमा बीउको नाश हुँदैन–

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। (गीता, २/४०)

यस आत्मदर्शन–क्रियाको न्यून आचरणले पनि जन्म–मृत्युको डरबाट उद्धार गर्छ।

९. **ईश्वरको निवास-**

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। (गीता, १८/६१)

ईश्वर सबै जगतप्राणीहरूको हृदयमा बस्छ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। (गीता, १८/६२)

सम्पूर्ण भावले त्यो एउटा परमात्माको शरणमा जाऊ। जसको कृपाले तिमी परमशान्ति, शाश्वत परमधाम प्राप्त गर्नेछौ।

१०. **यज्ञ-**

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। (गीता, ४/२७)

सबै इन्द्रियहरूका कार्य तथा मनका चेष्टाहरूलाई ज्ञानले प्रकाशित आत्मामा संयमरूपी योगाग्निमा हवन गर्छन्।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।। (गीता, ४/२९)

धेरै जसो योगी श्वासलाई प्रश्वासमा हवन गर्छन् र धेरै जसोले प्रश्वासलाई श्वासमा हवन गर्छन्। यसभन्दा माथिल्लो अवस्था भएपछि अरू श्वास-प्रश्वासको गतिलाई रोकेर प्राणायाम परायण हुन्छन्। यसप्रकार योग-साधनाको विधि-विशेषको नाउँ यज्ञ हो। त्यस यज्ञलाई कार्यरूप दिनु कर्म हो।

११. **यज्ञ गर्ने अधिकार-**

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। (गीता, ४/३१)

यज्ञ नगर्नेहरूलाई मानव-शरीर पाइदैन अर्थात् यज्ञ गर्ने दोस्रो अधिकार ती सबैलाई छ जसले मानव-शरीर पाएका छन्।

१२. ईश्वरलाई देख्न सकिन्छ-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। (गीता, ११/५४)

अनन्य भक्तिद्वारा म प्रत्यक्ष देख्न, जान्न र प्रवेश गर्नको लागि पनि सजिलो छु।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।। (गीता, २/२९)

यस अविनाशी आत्मालाई कुनै विरलैले आश्चर्य जस्तो देख्छ अर्थात् यो प्रत्यक्ष दर्शन हो।

१३. आत्मा नै सत्य हो, आत्मा नै सनातन हो-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। (गीता, २/२४)

यो आत्मा सर्वव्यापक, अचल-स्थिर रहनेवाला र सनातन हो। आत्मा नै सत्य हो।

१४. विधाताद्वारा निर्मित सृष्टि नाशवान छ-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (गीता, ८/१६)

ब्रह्मा र वहाँबाट निर्मित सृष्टि, देउता र दानव दुःखहरूको खानि, क्षणभंगुर र नाशवान् छन्।

१५. देव-पूजा-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। (गीता, ७/२०)

जसको बुद्धि इच्छाबाट ग्रसित छ, त्यस्ता मूर्खहरू नै परमात्माबाहेक अरु देउताहरूको पूजा गर्छन्।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। (गीता, ९/२३)

देउताहरूलाई पुज्नेले मेरो नै पूजा गर्छ; तर त्यो पूजा विधिहीन छ त्यसैले नष्ट भएर जान्छ।

शास्त्रविधिको त्याग-

अर्जुन! शास्त्र-विधिलाई छाडेर भजन गर्नेहरू मध्ये सात्विक श्रद्धावानले देवताहरूलाई, राजस पुरुषले यक्ष-राक्षसहरूलाई र तामस पुरुषले भूत-प्रेतहरूलाई पूज्दछन्; तर-

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।। (गीता, १७/६)

शरीररूपमा स्थित भूत समुदायलाई र अंतर्यामीरूपमा स्थित म परमात्मालाई उनीहरू कमजोर गर्ने हुन्। उनीहरूलाई तिमी असुर जान। अर्थात् देवताहरूलाई पूजनेहरू पनि आसुरी वृत्तिको अन्तर्गत हुन्छन्।

१६. अधम-

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। (गीता, १६/१९)

जसले यज्ञको निश्चित विधिलाई छाडेर कल्पित विधिहरूद्वारा यजन गर्छन्, उनीहरू नै दुःखदायक, पापाचारी र मानवहरूमा अधम हुन्। अरू कोही पनि अधम छैन।

१७. नियत विधि के हो?-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। (गीता, ८/१३)

ॐ, जो अक्षय ब्रह्मको परिचायक हो, त्यसको जप र म एक परमात्माको स्मरण, तत्त्वदर्शी महापुरुषको संरक्षणमा ध्यान।

१८. **शास्त्र-**

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।। (गीता, १५/२०)

यसप्रकार यो अतिगोप्य शास्त्र मबाट भनियो। स्पष्ट छ कि शास्त्र गीता हो।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। (गीता, १६/२४)

कर्तव्य-अकर्तव्यको निर्धारणमा शास्त्र नै प्रमाण हो। अतः गीतामा निर्धारित विधि अनुसार आचरण गर्नुहोस्।

१९. **धर्म-**

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।। (गीता, १८/६६)

धार्मिक उपद्रवलाई छाडेर एकमात्र मेरो शरणमा आउ। अर्थात् एक भगवान्प्रति पूर्ण समर्पण नै धर्मको मूल हो। त्यस प्रभुलाई पाउने विधिको आचरण नै धर्माचरण हो (अध्याय २, श्लोक ४०) र जसले त्यसलाई गर्छ त्यो ठूलो पापी नै भए पनि चाँडै धर्मात्मा हुन्छ। (अध्याय ९, श्लोक ३०)

२०. **धर्म प्राप्त कहाँबाट गर्ने?-**

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। (गीता, १४/२७)

त्यस अविनाशी ब्रह्मको, अमृतको, शाश्वत धर्मको र अखण्ड एकरस आनन्दको म नै आश्रय हु अर्थात् परमात्मस्थित सद्गुरु नै यी सबैका आश्रय हुन्।

नोट- विश्वको सबैधर्महरूको सत्यधारा गीताको नै प्रसारण हो।

।। ॐ ।।

प्राचीनकालदेखि आजसम्म मनीषीहरूद्वारा दिइएका तथ्यपूर्ण क्रमानुसार सन्देश

श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द, ग्रा.पो.-बरैनी, कछवा, जिल्ला-मिर्जापुर (उ.प्र.)मा आफ्नो निवासको अवधिमा स्वामी श्री अड़गड़ानन्दज्यूले प्रवेश-द्वारको नजिक यो तालिकालाई गंगा दशहरा (सन् १९९३ ई.)को पवित्र पर्वको अवसरमा बोर्डमा अंकित गराउनुभयो।

।। विश्वगुरु भारत ।।

- **सृष्टिको आदिशास्त्र-**
  'इमं विवस्वते योगम्' (गीता, ४/१) भगवान् श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि यो योग मैले सूर्यलाई भने, सूर्यले आफ्नो पुत्र मनुलाई भने, जस अनुसार एक परमात्मा नै सत्य हो, परमतत्व हो, कण-कणमा व्याप्त छ। योग-साधनाद्वारा त्यो परमात्मा दर्शन, स्पर्श र प्रवेशको लागि सजिलो छ। भगवान्द्वारा उपदिष्ट त्यो आदिज्ञान वैदिक ऋषिहरूदेखि लिएर आजसम्म अक्षुण रूपले प्रवाहित छ।
- **वैदिक ऋषि (अनादिकाल-नारायण सूक्त)-**
  कण-कणमा व्याप्त ब्रह्म नै सत्य हो। त्यसलाई विदित गर्नुबाहेक मुक्तिका लागि अरु कुनै उपाय छैन।
- **भगवान श्रीराम (त्रेता-लाखौं वर्ष पूर्व-रामायण)-**
  एक परमात्माको भजन बिना जसले कल्याण चाहन्छ त्यो मूर्ख हो।
- **योगेश्वर श्रीकृष्ण (५००० वर्ष पूर्व-गीता)-**
  परमात्मा नै सत्य हो। चिन्तनको पूर्णतामा त्यो सनातन ब्रह्मको प्राप्ति सम्भव छ। देवी-देवताहरूको पूजा मूर्खताको देन हो।
- **महात्मा मूसा (३००० वर्ष पूर्व-यहूदी धर्म)-**
  तिमीले ईश्वरबाट श्रद्धा हटायौ, मूर्ति बनायौ, यसले ईश्वर रिसाउनु भयो। प्रार्थनामा लाग।
- **महात्मा जरथुस्त्र (२७०० वर्ष पूर्व-पारसी धर्म)-**
  अहुरमज्दा (ईश्वर)को उपासनाद्वारा हृदयमा स्थित विकारहरूलाई नष्ट गर, जो दुःखका कारण हुन्।
- **भगवान महावीर (२६०० वर्ष पूर्व-जैनग्रन्थ)-**

आत्मा नै सत्य हो। कठिन तपस्याद्वारा यसै जन्ममा जान्न सकिन्छ।

- **गौतम बुद्ध (२५०० वर्ष पूर्व-महापरिनिब्बान सुत्त)-**
  मैले त्यस अविनाशी पदलाई प्राप्त गरेको छु, जसलाई पूर्वका मनीषीहरूले प्राप्त गरेका थिए। यो नै मोक्ष हो।
- **मसीह ईसा (२००० वर्ष पूर्व-ईसाई धर्म)-**
  ईश्वर प्रार्थनाद्वारा प्राप्त हुन्छ। मसंग अर्थात् सद्‌गुरुको नजिक आऊ, यसले कि ईश्वरको पुत्र भनिनेछौं।
- **हज़रत मुहम्मद सलल्लाहु. (१४०० वर्ष पूर्व-इस्लाम धर्म)-**
  'ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्र रसूलल्लाह'- जर्रे-जर्रे (कण-कण)मा व्याप्त खुदा (ईश्वर)बाहेक अरु कोही पूजनीय छैन। मुहम्मद अल्लाहका सन्देशवाहक हुन।
- **आदि शंकराचार्य (१२०० वर्ष पूर्व)-**
  संसार झूठो हो। यसमा हरि र उहाँको नाम सत्य छ।
- **सन्त कबीर (६०० वर्ष पूर्व)-**

  राम नाम अति दुर्लभ, औरे ते नहिं काम।
  आदि अन्त औ युग-युग, रामहि ते संग्राम।।

  रामसंग संघर्ष गर, उहीं नै कल्याणकारी हुनुहुन्छ।
- **गुरु नानक (५०० वर्ष पूर्व)-**
  'एक ओंकार सतगुरु प्रसादि।' एक ओंकार नै सत्य हो तर त्यो सद्‌गुरुको कृपाको प्रसाद हो।
- **स्वामी दयानन्द सरस्वती (२०० वर्ष पूर्व)-**
  अजर, अमर, अविनाशी एउटा परमात्माको उपासना गर। त्यो ईश्वरको मुख्य नाम 'ओम्' हो।
- **स्वामी श्री परमानन्दज्यू (सन् १९११-१९६९ ई०)-**
  भगवानले जब कृपा गर्नुहुन्छ तब शत्रु मित्र हुन्छ, विपत्ति सम्पत्ति हुन्छ। भगवान सबैतिरबाट देख्नुहुन्छ।

।। ॐ ।।

अनुक्रमणिका

।। ॐ ।।

प्राक्कथन

वस्तुतः गीताको टीका लेख्ने अब कुनै आवश्यकता प्रतीत हुँदैन; किनकि यसको सयौं टीकाहरू प्रकाशित भइसकेका छन्, जसमध्ये पचासौं संस्कृतमा नै छन्। गीतालाई लिएर पचासौं मतहरू छन्, जबकि सबैको आधारशिला एकमात्र गीता नै हो। योगेश्वर श्रीकृष्णले त कुनै एउटा कुरा भन्नु भएको होला अनि यो मतभिन्नता किन? वस्तुतः वक्ताले एउटा मात्र कुरा भन्दछ, तर श्रोता दसवटा बसेका छन् भने दसथरिका आशयहरू ग्रहण गर्दछन्। व्यक्तिको बुद्धिमा तामसी, राजसी अथवा सात्विक गुणहरूका जति प्रभाव छ, त्यसै स्तरबाट त्यस वार्तालाई ग्रहण गर्नसक्छ। यसभन्दा माथि त्यसले बुझ्न सक्दैन। अतः मतभेद हुनु स्वाभाविक हो।

थरिथरिका मतवादहरूबाट र कहिलेकाहीं एउटै सिद्धान्तलाई भिन्न-भिन्न काल र भाषाहरूमा व्यक्तगर्नाले साधारण मानिस संशयमा पर्छन्। धेरै टीकाहरूको बीचमा त्यो सत्यधारा पनि बगीरहेको छ, तर शुद्ध अर्थ भएको एउटा पुस्तक हजारौं टीकाहरूको बीचमा राखियो भने चिन्न गाऱ्हो हुन्छ, तिनीहरूमा यथार्थ कुन हो? वर्तमान समयमा गीताका धेरै टीकाहरू भइसकेका छन्। सबैले आ-आफ्नो सत्यताको उद्घोष गर्दछन्, तर गीताको शुद्ध अर्थबाट तिनीहरू धेरै टाढा छन्। निःसन्देह केही महापुरुषहरूले सत्यको स्पर्श पनि गरेका छन् तर कतिपय कारणहरूबाट त्यसलाई समाजको अगाडि ल्याउन सकेनन्।

श्रीकृष्णको आशयलाई हृदयंगम गर्न नसक्नुको मूलकारण हो, उहाँ एउटा योगी हुनुहुन्थ्यो। श्रीकृष्णले जुनस्तरको कुरा गर्नु भएको छ, क्रमशः जानेर त्यसै स्तरमा पुगेका कुनै महापुरुषले नै अक्षरशः भन्न सक्छ कि श्रीकृष्णले जुन बेला गीताको उपदेश दिनुभएको थियो त्यसबेला उहाँको मनोगत भाव के थियो? मनोगत सबै भावलाई व्यक्त गर्न सकिंदैन। केहीलाई अभिव्यक्त गर्न सकिन्छ भने कतिपय हाउ-भाउबाट व्यक्त गरिन्छ र बाँकी पर्याप्त क्रियात्मक हुन्छन्, जसलाई कुनै साधकले साधनाद्वारामात्र जान्न सक्छ। जुन स्तरमा श्रीकृष्ण

हुनुहुन्थ्यो क्रमशः त्यहाँ पुगेका महापुरुषले नै गीताको भनाइलाई बुझ्न सक्छ। त्यस्ता महापुरुषले गीताका पंक्तिहरूलाई दोहोऱ्याउने काम मात्र गर्दैन बरू त्यसको मूलभाव पनि दर्शाउने काम गर्छन; किनकि जुन दृश्य श्रीकृष्णको अगाडि थियो त्यही त्यस वर्तमान महापुरुषको अगाडि पनि हुन्छ। त्यसैले उसले देख्दछ, देखाउने छ, तपाईंभित्र पनि जागृत गराउने छ र त्यस बाटोमा हिडाउने पनि छ।

'पूज्य श्री परमहंसज्यू महाराज' पनि त्यसै स्तरको महापुरुष हुनुहुन्थ्यो। उहाँको वाणी र अन्तःप्रेरणाले गीताको जुन अर्थ मैले ग्रहण गरें त्यसैको सङ्कलन '**यथार्थ गीता**' हो। यसमा मेरो आफ्नो केही पनि छैन। यो क्रियात्मक हो। साधन अपनाउने प्रत्येक व्यक्तिले यसै परिधिबाट हिड्नु पर्नेछ। जबसम्म ऊ यसबाट छुट्टिएर बसेको छ तबसम्म स्पष्ट छ कि उसले साधना गर्दैन, बरू कुनै न कुनै प्रकारको परम्परा समातेर बसेको छ। अतः कुनै महापुरुषको शरणमा जानुस्। श्रीकृष्णले कुनै अरू सत्य भन्नुभएको छैन; बरु भने– '**ऋषिभिर्बहुधा गीतं**'– ऋषिहरूले अनेकौं पल्ट जसको गायन गरेका छन्, त्यही भनेको हुँ। उनले भनेका छैनन् कि ज्ञानलाई मैले मात्र जानेको छु वा मैले मात्र बुझाउन सक्नेछु; बरू भने कुनै तत्त्वदर्शीको समक्ष जाऊ। निष्कपटभावले सेवा गरी त्यस ज्ञानलाई प्राप्त गर। श्रीकृष्णले महापुरुषहरूद्वारा शोधित सत्यलाई नै स्पष्ट गर्नुभएको छ।

गीता सुबोध संस्कृत भाषामा छ। यदि अन्वयार्थ नै लिने हो भने गीताका अधिकांश कुराहरू तपाईले स्वयं हृदयंगम गर्नु हुनेछ, तर तपाईले जस्ताको त्यस्तै अर्थ लिनु हुन्न। उदाहरणको लागि श्रीकृष्ण स्पष्ट भन्नुभएको छ कि 'यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो', तापनि तपाई भन्नुहुन्छ कि खेतीगर्नु कर्म हो। यज्ञलाई स्पष्टगर्दै उहाँले भन्नुभएको छ कि यज्ञमा धेरै योगीजन प्राणवायुलाई अपानवायुमा हवन गर्दछन् र धेरैले अपानलाई प्राणवायुमा हवन गर्दछन् र धेरै जसो योगीहरूले प्राण–अपान दुबैलाई रोकेर प्राणायाम–परायण हुन्छन्। धेरै योगी इन्द्रियहरूका सम्पूर्ण प्रवृत्तिहरूलाई संयमरूपी अग्निमा हवन गर्दछन्।

यसरी श्वास-प्रश्वासको चिन्तन यज्ञ हो। मनसहित इन्द्रियहरूको संयम यज्ञ हो। शास्त्रकारले स्वयं यज्ञ बताए, तापनि तपाई भन्नुहुन्छ कि विष्णुको लागि स्वाहा भन्नु, आगोमा जौ-तिल-घीउको हवन गर्नु यज्ञ हो। ती योगेश्वरले यस्तो एउटा शब्द पनि भन्नुभएको छैन।

के कारण हो कि तपाई बुझ्न सक्नुहुन्न? टुप्पी कसेर घोक्दा पनि किन वाक्य-विन्यास नै तपाईको हातमा पर्छ? तपाई आफूलाई यथार्थ जानकारीबाट शून्य नै किन पाउनु हुन्छ? वस्तुतः मानिस जन्मेर क्रमशः ठूलो हुँदैजान्छ अनि पैतृक सम्पत्ति (घर, पसल, जग्गा-जमीन, पद-प्रतिष्ठा, गाई-गोरु, भैंसी, यन्त्र-उपकरण इत्यादि) त्यसलाई उत्तराधिकारको रूपमा पाइन्छन्। ठीक त्यसै गरी उसलाई केही प्रथा-चलन, परम्पराहरू र पूजा-पद्धतिहरू पनि उत्तराधिकारमा पाइन्छ। तेत्तीस करोड देवी-देवताहरू त भारतमा धेरै अगाडिदेखि नै गन्तीमा जसो-जसो थिए, विश्वमा उनी अनगिन्ती रूपमा छन्। शिशु जसो-जसो बढ्दछ, आफ्ना आमा-बाबू, भाई-बहिनी, छर-छिमेकमा यिनीहरूको पूजा देख्दछ। परिवारमा प्रचलित पूजा-पद्धतिहरूको अमिट छाप त्यसको दिमागमा पर्छ। देवीको पूजा पाइयो भने जीवनभरि देवी-देवी घोक्छ। परिवारमा भूत-पूजा पाइयो भने भूत-भूत रट्छ। कोही शिव त कोही कृष्ण, त कोही केही न केही समाती राख्छ। तिनीहरूलाई उसले छोड्न सक्दैन।

यस्ता भ्रान्तपुरुषलाई गीता-जस्तो कल्याणकारी शास्त्र भेटिए पनि उसले त्यसलाई बुझ्न सक्दैन। केही गरी पैतृक सम्पत्तिलाई छोड्न पनि सक्छ तर यी रूढिहरू र धार्मिक अन्धविश्वासहरूलाई छोड्न सक्दैन। पैतृक सम्पत्तिलाई पन्छाएर तपाई हजारौं माइल टाढा जानसक्नु हुन्छ, तर मन-मस्तिष्कमा अङ्कित यी रूढिगत विचारहरू त्यहाँ पनि तपाईको पछिलाग्न छाड्दैनन्। तपाईले टाउको काटेर छुट्टै त राख्न सक्नुहुन्न? अतः तपाईले यथार्थ शास्त्रलाई पनि ती रूढि, रीति-रिवाज, मान्यता र पूजा-पद्धतिहरू जस्तै ढालेर हेर्न चाहनु हुन्छ। यदि तिनकै अनुरूप कुरा ढल्छ र वार्ताको क्रम मिल्छ भने तपाई त्यसलाई सही ठान्नु हुन्छ, होइन भने गलत मान्नुहुन्छ, त्यसै कारण तपाई गीताको रहस्य बुझ्न

सक्नुहुन्न। गीताको रहस्य, रहस्य नै रही रहन्छ। यसको वास्तविक पहिचान गर्ने व्यक्ति सन्त अथवा सद्गुरु नै हुन्। उहाँले नै बताउन सक्नुहुन्छ कि गीताले के भनेको छ? सबैले जान्न सक्दैन। सबैको लागि सरल उपाय यही हो कि यसलाई कुनै महापुरुषको सान्निध्यमा बुझ्ने, जसको लागि श्रीकृष्णले बल दिएका छन्।

गीता कुनै विशिष्ट व्यक्ति, जाति, वर्ग, संप्रदाय, देश–काल अथवा कुनै रूढिग्रस्त सम्प्रदायको ग्रन्थ होइन, बरू यो सार्वलौकिक र सार्वकालिक धर्मग्रन्थ हो। यो ग्रन्थ प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति र प्रत्येक स्तरका महिला–पुरुषका लागि र सबैका लागि हो। मात्र अरूबाट सुनेर वा कसैबाट प्रभावित भएर मानिसले यस्तो निर्णय लिनु हुँदैन कि जसको प्रभाव सोझै उसको आफ्नो अस्तित्वमाथि परोस्। पूर्वाग्रहको भावनाबाट मुक्त भएका सत्यान्वेषीहरूको लागि यो आर्षग्रन्थ आलोक–स्तम्भ हो। हिन्दूहरूको आग्रह छ कि वेद नै हाम्रो प्रमाण हो। वेदको अर्थ हो ज्ञान, परमात्माको जानकारी। परमात्मा न संस्कृतमा छ, न त संहिताहरूमा। पुस्तक त उसको संकेतमात्र हो। परमात्मा वस्तुतः हृदयमा नै जागृत हुन्छ।

विश्वामित्र चिन्तन गर्दै थिए। उनको भक्ति देखेर ब्रह्माजी आउनुभयो र भन्नुभयो– 'आजदेखि तिमी ऋषि हौ।' विश्वामित्रलाई सन्तोष भएन र चिन्तनमै लागे। केही समयपछि देवताहरूसहित ब्रह्मा पुनः आउनुभयो र भन्नुभयो– 'आजदेखि तिमी राजर्षि हौ।' तर विश्वामित्रको समाधान भएन, उनी अनवरत चिन्तनमा लागिरहे। ब्रह्माजी दैवी सम्पदाहरूसहित फेरि आउनुभयो र भन्नुभयो– 'आजदेखि तिमी महर्षि भयौ।' विश्वामित्रले भने– 'होइन! मलाई जितेन्द्रिय ब्रह्मर्षि भन्नुस्।' ब्रह्माजीले भन्नुभयो– 'अहिले तिमी जितेन्द्रिय भएका छैनौ।' विश्वामित्र फेरि तपस्यामा लागे। उनको मस्तिष्कबाट तपस्याको धूँवा निस्कन लाग्यो। अनि देवताहरूले ब्रह्मासित निवेदन गरे। ब्रह्मा पहिलेझैं विश्वामित्रसित भने– 'अब तिमी ब्रह्मर्षि हौ।' विश्वामित्रले भने, यदि म ब्रह्मर्षि हूँ भने वेदले मलाई वरण गरोस्। वेद विश्वामित्रको हृदयमा अवतरित भयो। जुन तत्व वहाँलाई थाहा थिएन, ती तत्वहरू वहाँलाई थाहा भयो। वेद भनेको यही हो न कि पुस्तक। जहाँ विश्वामित्र बस्नुहुन्थ्यो, त्यहीं वेद रहन्थ्यो।

यही कुरा श्रीकृष्ण पनि भन्नुहुन्छ कि– "संसार अविनाशी पीपलको रुख हो, माथि परमात्मा जसको मूल र तल प्रकृतिसम्म शाखाहरू छन्। जसले यस प्रकृतिको अन्त्य गरेर परमात्मालाई जान्दछ, त्यही वैदज्ञ हो। अर्जुन! म पनि वैदज्ञ हुँ।" अतः प्रकृतिको प्रसार र अन्त्यको साथै परमात्माको अनुभूतिको नाम 'वेद' हो। यो अनुभूति ईश्वरप्रदत्त हो, त्यसैले वेदलाई अपौरुषेय भनिएको छ। महापुरुष अपौरुषेय हुन्छन्। उनको माध्यमबाट परमात्मा नै बोल्दछ। उनी परमात्माको संदेश–प्रसारक (ट्रांसमीटर) हुन्छन्। मात्र शब्दज्ञानको आधारमा उनको वाणीमा निहित यथार्थलाई बुझ्न सकिंदैन। उनलाई त्यसैले जान्नसक्छ जसले क्रियात्मक बाटोमा हिंडेर यस अपौरुषेय (Non-Person) स्थितिलाई पाएको छ र जसको पुरुष (अहं) परमात्मामा विलीन भइसकेको छ।

वस्तुतः वेद अपौरुषेय हो; तर बोल्ने व्यक्ति सय–डेढसय महापुरुषहरूमात्र थिए, उनीहरूको वाणीको संकलनलाई 'वेद' भनिन्छ। तर जब शास्त्र लिपिबद्ध हुन्छ तब सामाजिक व्यवस्थाका नियमहरू पनि उसैको साथ लेखिने गरिन्छ। महापुरुषहरूको नाउँमा जनताले तिनको पनि पालन गर्न थाल्छन् जबकि त्यस्ता नियमहरूको धर्मसँग टाढाको पनि सम्बन्ध हुँदैन। आधुनिक युगमा मन्त्रीहरूको अगाडि–पछाडि गर्ने साधारण नेताहरूले पनि पदाधिकारीहरूबाट आफ्नो काम गराइहाल्छन्, जबकि मन्त्रीहरूले यस्ता नेताहरूलाई राम्ररी चिनेको पनि हुँदैनन्। यसैप्रकार सामाजिक व्यवस्थाकारहरू महापुरुषहरूको आडमा बाँच्ने–खाने व्यवस्थालाई पनि ग्रन्थहरूमा लिपिबद्ध गर्दछन्, जसको सामाजिक उपयोग तात्कालिक हुन्छ। वेदहरूको सम्बन्धमा पनि यस्तै कुरा देखिन्छ। तिनको चिरन्तन सत्य उपनिषद्हरूमा संग्रहित छन्। तिनै उपनिषद्हरूको सारांश योगेश्वर श्रीकृष्णको वाणी 'गीता' हो। सारांशरूपमा गीता अपौरुषेय 'वेद'–रसार्णवबाट समुद्धृत उपनिषद् सुधाको सार–सर्वस्व हो।

यसरी प्रत्येक महापुरुष जसले परमतत्वलाई प्राप्त गरिसकेको छ, स्वयंमा धर्मग्रन्थ हो। उनको वाणीको सङ्कलन विश्वमा जहाँसुकै भएपनि त्यसलाई शास्त्र भनिन्छ। तर कतिपय धर्मावलम्बीहरूको यो कथन छ कि 'जति कुरानमा

लेखिएको छ त्यतिमात्र सत्य छ। अब कुरान ओर्लने छैन।', 'ईसामसीहमा विश्वास नगरी स्वर्ग पाउन सकिँदैन। उनी ईश्वरका एक्लो छोरा थिए। अब यस्तो महापुरुष हुन् सक्दैन।'– यो उनीहरूको रूढिवादिता हो। यदि त्यही तत्वलाई साक्षात्कार गरियो भने फेरि त्यही कुरा हुनेछ।

'गीता' सार्वभौम छ। धर्मको नाममा प्रचलित विश्वका सबै धर्मग्रन्थहरूमा गीताको स्थान अद्वितीय छ। यो स्वयंमा धर्मशास्त्र होइन बरू धर्मग्रन्थहरूमा निहित सत्यको मापदण्ड पनि हो। गीता त्यस्तो कसी हो जसमा कसिएर प्रत्येक धर्मग्रन्थमा लुकेको सत्य प्रकाशित हुन्छ र परस्पर विरोधी भनाईहरूको समाधान पनि निस्केर आउँछ। प्रत्येक धर्मग्रन्थमा संसारमा बाँच्ने–खाने कला र कर्मकाण्डहरूको बाहुल्य छ। जीवनलाई आकर्षक बनाउनको लागि तिनैलाई गर्ने–नगर्ने जस्ता रोचक तथा भयानक वर्णनहरूले धर्मग्रन्थहरू भरिएका छन्। कर्मकाण्डको यसै परम्परालाई जनताले धर्म ठान्न थाल्छन्। जीवन–निर्वाहको कलाको लागि निर्मित पूजा–पद्धतिहरूमा देश–काल र परिस्थितिहरूका अनुसार परिवर्तन स्वाभाविक हुन्छ। धर्मको नाममा समाजमा कलहको यही एकमात्र कारण हो। 'गीता' यस्ता क्षणिक व्यवस्थाहरूभन्दा माथि उठेर आत्मिक पूर्णतामा प्रतिष्ठित गर्ने क्रियात्मक अनुशीलन हो, जसको एउटा पनि श्लोक भौतिक जीवनयापनको लागि होइन। यसको प्रत्येक श्लोकले तपाईसँग आन्तरिक युद्ध 'आराधना' माँग गर्दछ। तथाकथित धर्मग्रन्थहरू जस्तो यसले तपाईलाई स्वर्ग वा नरकको द्वन्द्वमा अल्झाएर छोड्दैन, बरू त्यस अमरत्वको उपलब्धि गराउँछ जसको पश्चात् जन्म–मृत्युको बन्धन रहँदैन।

प्रत्येक महापुरुषको आफ्नो शैली र आफ्ना केही विशिष्ट शब्दहरू हुन्छन्। योगेश्वर श्रीकृष्णले पनि गीतामा 'कर्म', 'यज्ञ', 'वर्ण', 'वर्णसङ्कर', 'युद्ध', 'क्षेत्र', 'ज्ञान' इत्यादि शब्दहरूमा पटक–पटक बल दिनुभएको छ। यी शब्दहरूका आफ्ना आशय छन् र पुनरावृत्तिमा पनि यिनको आफ्नो सौन्दर्य छ। नेपाली रूपान्तरणमा यी शब्दहरूलाई त्यसै आशयमा लिइएको छ र आवश्यक प्रसङ्गहरूको व्याख्या पनि गरिएको छ। गीताका आकर्षण निम्नलिखित प्रश्नहरू

हुन् जुन प्रश्नहरूको आशय आधुनिक समाजमा हराइसकेको छ। ती प्रश्नहरू यस प्रकार छन्, 'यथार्थ गीता'मा तपाईले पाउनु हुनेछ–

१. **श्रीकृष्ण** – एउटा योगेश्वर थिए।

२. **सत्य** – आत्मा नै 'सत्य' हो।

३. **सनातन** – आत्मा सनातन हो, परमात्मा 'सनातन' हो।

४. **सनातन धर्म** – परमात्मासँग भेट्ने क्रिया हो।

५. **युद्ध** – दैवी र आसुरी सम्पदाहरूको संघर्ष 'युद्ध' हो। यी अन्तःकरणका दुई प्रवृत्तिहरू हुन्। यी दुबैको अन्त्य परिणाम हो।

६. **युद्ध–स्थान** – यो मानव–शरीर र मनसहित इन्द्रियहरूको समूह 'युद्धस्थल' हो।

७. **ज्ञान** – परमात्माको प्रत्यक्ष जानकारी 'ज्ञान' हो।

८. **योग** – संसारको संयोग–वियोगबाट रहित अव्यक्त ब्रह्मको मिलनको नाम 'योग' हो।

९. **ज्ञानयोग** – आराधना नै कर्म हो। आफूमाथि निर्भर भएर कर्ममा प्रवृत्त हुनु 'ज्ञानयोग' हो।

१०. **निष्काम कर्मयोग** – इष्टमा निर्भर भएर समर्पणको साथ कर्ममा लाग्नु 'निष्काम कर्मयोग' हो।

११. **श्रीकृष्णले कुन सत्यलाई बताए?** – श्रीकृष्णले त्यही सत्य बताए जसलाई तत्वदर्शीहरूले विगतमा नै देखिसकेका थिए र भविष्यमा पनि देख्नेछन्।

१२. **यज्ञ** – साधनाको विधि–विशेषको नाम 'यज्ञ' हो।

१३. **कर्म** – यज्ञलाई कार्यरूप दिनु नै 'कर्म' हो।

१४. **वर्ण** – आराधनाको एउटै विधि जसको नाम कर्म हो। जसलाई चार श्रेणीमा बाँडिएको छ। त्यही चार वर्ण हुन्। यो एउटै साधकको तल–माथिको स्तर हो न कि जाति।

१५. **वर्णसङ्कर** – परमात्म–पथबाट च्युत हुनु र साधनामा भ्रम उत्पन्न हुनु नै 'वर्णसङ्कर' हो।

१६. **मानिसका श्रेणी** – अन्तःकरणको स्वभाव अनुसार मानिस दुई प्रकारका हुन्छन्। एउटा देवताहरू जस्तो र अर्को असुरहरू जस्तो। यही मानिसका दुई जातिहरू हुन्, जुन स्वभावद्वारा निर्धारित छन्। यी स्वभाव घट्ने–बढ्ने गर्छन्।

१७. **देवता** – देवता हृदय–देशमा परमदेवको देवत्व अर्जित गराउने गुणहरूको समूह हो। बाह्य देवताहरूको पूजा मुर्खबुद्धिको देन हो।

१८. **अवतार** – व्यक्तिको हृदयमा हुन्छ, बाहिर होइन।

१९. **विराट् दर्शन** – योगीको हृदयमा ईश्वरद्वारा दिइएको अनुभूति हो। भगवान् साधकमा दृष्टि बनेर उभिएपछि मात्र देखिनमा आउँछ।

२०. **पूजनीय देव 'इष्ट'** – एकमात्र परात्पर ब्रह्म नै 'पूजनीय देव' हुन्। उनलाई खोज्ने स्थान हृदय–देश हो। त्यसको प्राप्तिको स्रोत त्यही अव्यक्त स्वरूपमा स्थित महापुरुषद्वारा हुन्छ।

अब यीमध्ये योगेश्वर श्रीकृष्णको स्वरूप बुझ्नलाई तपाईले अध्याय तीनसम्म पढ्नु पर्छ र अध्याय तेह्रसम्म तपाईले स्पष्ट बुझ्न थाल्नुहुन्छ कि श्रीकृष्ण योगी थिए। अध्याय दुइबाट नै सत्य स्पष्ट हुनथाल्नेछ। सनातन र सत्य एक अर्काका पूरक हुन्– यो अध्ययन दुइबाटै स्पष्ट हुँदै जानेछ। हुनत पूर्तिपर्यन्त हुँदै जानेछ। युद्ध अध्याय चारसम्म स्पष्ट हुनथाल्नेछ। एघारसम्म संशय निर्मूल हुनेछ; तर अध्याय सोह्रसम्म यस सन्दर्भमा हेर्नु पर्दछ। युद्धस्थलका लागि अध्याय तेह्र पटक–पटक पढ्नुपर्छ।

'ज्ञान' अध्याय चारबाट स्पष्ट हुनेछ र अध्याय तेह्रमा राम्ररी बुझिन्छ कि प्रत्यक्ष दर्शनको नाम 'ज्ञान' हो। योग अध्याय छःसम्म तपाईले बुझ्न सक्नु हुनेछ। हुनत पूर्तिपर्यन्त योगका विभिन्न अंशहरूको परिभाषा आएको छ। 'ज्ञानयोग' अध्याय तीनदेखि छःसम्म स्पष्ट हुनेछ। यस सन्दर्भमा अगाडि हेर्नु पर्ने आवश्यकता

छैन। 'निष्काम कर्मयोग' अध्याय दुइदेखि प्रारम्भ भएर पूर्तिपर्यन्त सम्म छ। यज्ञबारे तपाईले अध्याय तीनदेखि चारसम्म पढे स्पष्ट हुनेछ।

'कर्म'को नाम अध्याय २/३९मा पहिलो पल्ट दिइएको छ। यसै श्लोकदेखि अध्याय चारसम्म पढेपछि स्पष्ट हुनेछ कि कर्मको अर्थ आराधना, भजन किन रहेछ? अध्याय सोह्र र सत्रले यो विचार स्थिर गर्छ कि यही सत्य हो। 'वर्णसङ्कर' अध्याय तीनमा र 'अवतार' अध्याय चारमा स्पष्ट हुनेछ। वर्ण-व्यवस्थाको लागि अध्याय अठार पढ्नु पर्नेछ, हुनत सङ्केत अध्याय तीन-चारमा पनि पाइन्छ। मानिसको देवासुर भन्ने जातिहरूको लागि अध्याय सोह्र द्रष्टव्य छ। 'विराट्-दर्शन' अध्याय दसदेखि एघारसम्म स्पष्ट हुनेछ। अध्याय सात, नौ र पन्ध्रमा पनि यसमा प्रकाश पारिएको छ। अध्याय सात, नौ र सत्रमा बाह्य देवताहरूको अस्तित्वहीनता स्पष्ट भएर आउँछ। परमात्माको पूजास्थली हृदय-देश नै हो। जसमा ध्यान, श्वास-प्रश्वासको चिन्तन आदि क्रियाहरू, जुन एकान्तमा बसेर (मन्दिर, मूर्तिको सामुन्ने होइन) गरिन्छन्, अध्याय तीन, चार, छः र अठारमा स्पष्ट गरिएका छन्। धेरै सोच-विचार गर्ने के प्रयोजन? यदि अध्याय छःसम्म नै अध्ययन गर्नुभयो भने पनि 'यथार्थ गीता'को मूल आशय तपाईले बुझ्नसक्नु हुनेछ।

गीता जीविका-संग्रामको साधन होइन बरू जीवन-संग्राममा शाश्वत विजयको क्रियात्मक प्रशिक्षण हो, यसैले युद्ध-ग्रन्थ हो, जसले वास्तविक विजय दिलाउँछ। तर गीतामा प्रतिपादित युद्ध तरवार, धनुष, बाण, गदा र फर्साले लडिने साँसारिक युद्ध होइन, न त यी युद्धहरूमा शाश्वत विजय नै निहित छ। यो सद्-असद् प्रवृत्तिहरूको सङ्घर्ष हो, जसको रूपकात्मक वर्णनको परम्परा रहेको छ। वेदमा इन्द्र र वृत्र, विद्या र अविद्या, पुराणहरूमा देवासुर संग्राम, महाकाव्यमा राम र रावण, कौरव र पाण्डवको संघर्षलाई नै गीतामा धर्मक्षेत्र र कुरुक्षेत्र, दैवी सम्पद् र आसुरी सम्पद्, सजातीय र विजातीय, सद्गुण र दुर्गुणहरूको संघर्ष भनिएको छ।

यो संघर्ष जहाँ हुन्छ त्यो स्थान कहाँ छ? गीताको धर्मक्षेत्र र कुरुक्षेत्र भारतको कुनै भूखण्ड होइन बरू स्वयं गीताकारकै शब्दमा- '**इदं शरीरं कौन्तेय**

क्षेत्रमित्यभिधीयते।'- कौन्तेय! यो शरीर नै एउटा क्षेत्र हो। जसमा छरिएका राम्रा र नराम्रा बीज संस्काररूपले सधैं उम्रिन्छ। दस इन्द्रियहरू, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पाँचवटै विकार र तीनवटै गुणहरूको विकार यस क्षेत्रको विस्तार हो। प्रकृतिबाट उत्पन्न यिनै तीन गुणहरूबाट विवश भएर मानिसले कर्म गर्नुपर्छ। ऊ क्षणमात्र पनि कर्मबिना बस्नसक्दैन। '**पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननी जठरे शयनम्**' जन्म-जन्मान्तरदेखि नैत गर्दा-गर्दै बितिरहेका छ। यही 'कुरुक्षेत्र' हो। सद्गुरुको माध्यमले साधनाको वास्तविक प्रवाहमा परेर साधक जब परमधर्म परमात्मातिर अग्रसर हुन्छ तब यो क्षेत्र 'धर्मक्षेत्र' बन्छ। यो शरीर नै क्षेत्र हो।

यसै शरीरको अन्तरालमा अन्तःकरणका दुई प्रवृत्तिहरू पुरातन हुन- दैवी सम्पद् र आसुरी सम्पद्। दैवी सम्पद्मा छन् पुण्यरूपी पाण्डु र कर्त्तव्यरूपी कुन्ती। पुण्य जागृत हुनुभन्दा पहिले मानिसले जे जति कर्त्तव्य ठानेर गर्छन् आफूले बुझेसम्म उसले कर्त्तव्य नै गर्छ, तर त्यसबाट कर्त्तव्य हुँदैन किनकि पुण्यबिना कर्त्तव्यलाई बुझ्न सकिंदैन। कुन्तीले पाण्डुसँग सम्बन्ध हुनुभन्दा पूर्व जे जति अर्जित गरकी थिइन्, त्यसको परिणाम हो 'कर्ण'। आजीवन कुन्तीका पुत्रहरूसँग लड्दै रह्यो। पाण्डवहरूको दुर्धर्ष शत्रु यदि कोही थियो भने त्यो हो 'कर्ण'। विजातीय कर्म नै कर्ण हो, जो बन्धनकारी छ। जसबाट परम्परागत रुढिहरूको चित्रण हुन्छ- पूजा-पद्धतिहरूले साथ छोड्दैनन्। पुण्य जागृत भएपछि धर्मरूपी 'युधिष्ठिर', अनुरागरूपी 'अर्जुन', भावरूपी 'भीम', नियमरूपी 'नकुल', सत्सँगरूपी 'सहदेव', सात्विकतारूपी 'सात्यकि', कायामा सामर्थ्यरूपी 'काशीराज', कर्तव्यद्वारा भवमाथि विजय 'कुन्तिभोज' इत्यादि इष्टोन्मुखी मानसिक प्रवृत्तिहरूको उत्कर्ष हुन्छ, जसको गणना सात अक्षौहिणी छ। 'अक्ष' दृष्टिलाई भनिन्छ। सत्यमयी दृष्टिकोणबाट जसको गठन भएको छ, त्यो हो दैवी सम्पद्। परमधाम परमात्मासम्मको दूरी तय गराउने यी सात खुड्किलाहरू 'सात भूमिकाहरू' हुन्, यी कुनै गणना-विशेष होइनन्। वस्तुतः यी प्रवृत्तिहरू अनन्त छन्।

अर्कोतिर छ 'कुरुक्षेत्र', जसमा दस इन्द्रियहरू र एउटा मन एघार अक्षौहिणी सेना छन्। मनसहित इन्द्रियमयी दृष्टिकोणले जसको गठन भएको छ, त्यो हो

आसुरी सम्पद्, जसमा छ अज्ञानरूपी 'धृतराष्ट्र' जो सत्य जान्दाजान्दै पनि अन्धो बनी रहन्छ। उनकी सहचारिणी हुन् 'गान्धारी'– इन्द्रिय आधार भएकी प्रवृत्ति। यिनैसँग छन्– मोहरूपी 'दुर्योधन', दुर्बुद्धिरूपी 'दुःशासन', विजातीय कर्मरूपी 'कर्ण', भ्रमरूपी 'भीष्म', द्वैतको आचरणरूपी 'द्रोणाचार्य', आसक्तिरूपी 'अश्वत्थामा', विकल्परूपी 'विकर्ण', अधुरो साधनामा कृपाको आचरणरूपी 'कृपाचार्य' र यी सबैका बीच जीवरूपी 'विदुर' जो अज्ञानसँग बस्छ तर दृष्टि सधैं पाण्डवहरूमा रहन्छ, पुण्यबाट प्रवाहित प्रवृत्तिमा रहन्छ; किनकि आत्मा परमात्माको शुद्ध अंश हो। यसप्रकार आसुरी सम्पद् पनि अनन्त छन्। क्षेत्र एउटै छ यो शरीर र यसमा लडाई गर्ने प्रवृत्तिहरू दुई छन्। एउटा प्रकृतिमा विश्वास दिलाउने नीच–अधम योनिहरूको कारण बन्छ भने अर्को परमपुरुष परमात्मामा विश्वास र प्रवेश गराउँछ। तत्त्वदर्शी महापुरुषको संरक्षणमा क्रमशः साधन गरेमा दैवी सम्पद्को उत्कर्ष र आसुरी सम्पद्को सर्वथा शमन हुन्छ। जब कुनै विकार नै रहँदैन, मनको सर्वथा निरोध र निरुद्ध मनको पनि विलय हुन्छ, त्यसपछि दैवी सम्पद्को आवश्यकता पनि समाप्त भएर जान्छ। अर्जुनले देखे कि कौरव–पक्ष सँग–सँगै पाण्डव–पक्षका योद्धाहरू पनि योगेश्वरमा विलीन भैइरहेका छन्। पूर्तिपश्चात् दैवी सम्पद् पनि विलीन भएर जान्छ, अन्तिम शाश्वत परिणाम निस्केर आउँछ। यसपछि महापुरुषले यदि केही गर्छ भने त्यो मात्र अनुयायीहरूको मार्गदर्शनको लागि हो।

लोक–संग्रहको यसै भावनाले महापुरुषहरूले सूक्ष्म मनोभावहरूको वर्णन तिनीलाई ठोस स्थूलरूप दिएर गरेका छन्। 'गीता' छन्दोबद्ध छ, व्याकरणसम्मत छ; तर यसका पात्रहरू प्रतीकात्मक छन्, अमूर्त योग्यताहरूका मूर्तरूपमात्र हुन्। गीताको आरम्भमा तीस–चालीस पात्रहरूको नाम लिइएको छ, जसमा आधा सजातीय र आधा विजातीय छन्। केही पाण्डव पक्षका र केही कौरव पक्षका छन्। 'विश्वरूपदर्शन'का बेला यीमध्ये चार–छः नामहरू पुनः आएका छन्, नत्र भने सम्पूर्ण गीतामा यी नामहरूको चर्चा पनि छैन। एकमात्र अर्जुन नै यस्तो पात्र हुन जो आरम्भदेखि अन्त्यसम्म योगेश्वर श्रीकृष्णको समक्ष रहन्छन्। त्यो अर्जुन पनि योग्यताको प्रतीक मात्र हो, कुनै व्यक्ति विशेष होइन। गीताको

आरम्भमा अर्जुन सनातन कुलधर्मको लागि विकल छ; तर योगेश्वर श्रीकृष्णले यसलाई अज्ञान भन्दै निर्देश दिनुभयो कि आत्मा नै सनातन हो, शरीर नाशवान् छ, यसैले युद्ध गर। यस आदेशले यो स्पष्ट हुँदैन कि अर्जुनले कौरवहरूलाई नै मार्नुपर्छ। पाण्डव-पक्षका पनि त शरीरधारी नैत थिए। दुई तिरै त आफन्त नै थिए। संस्कारहरूमा आधारित शरीर के तरवारले काटेर समाप्त हुनसक्छ? जब शरीर नाशवान् छ, जसको अस्तित्व नै छैन भने अर्जुन को थिए? कसको रक्षाको लागि श्रीकृष्ण उभिनु भएको थियो? के कुनै शरीरधारीको रक्षार्थ उभिनु भएको थियो? श्रीकृष्णले भने- "जसले शरीरको लागि परिश्रम गर्छ, यस्तो पापायु मूढबुद्धि पुरुष व्यर्थ नै बाँची रहन्छ।" यदि श्रीकृष्ण कुनै शरीरधारीको रक्षामा उभिनु भएको थियो भने उहाँ पनि मूढबुद्धि र व्यर्थ बाँच्ने व्यक्ति हुनुहुन्थ्यो। वस्तुतः अनुराग नै अर्जुन हो।

अनुरागीका लागि महापुरुष सधैं उभिनु हुन्छ। अर्जुन शिष्य थिए र श्रीकृष्ण एउटा सद्गुरु थिए। विनयी भएर उनले भने- "धर्मको मार्गमा मोहितचित्त म तपाईसँग सोद्धैछु। जो श्रेय (परम कल्याणकारक) छ, त्यो उपदेश मलाई दिनुहोस्। अर्जुनले श्रेय चाहेका थिए, प्रेय (भौतिक पदार्थ) होइन। केवल भन्ने मात्र नगर्नुस्, मलाई साध्नुस्, सम्हाल्नुस्। म तपाईको शिष्य हुँ र तपाईको शरणमा परेको छु।" यसैप्रकार गीतामा स्थान-स्थानमा स्पष्ट छ कि अर्जुन आर्त अधिकारी हुन् र योगेश्वर श्रीकृष्ण एउटा सद्गुरु हुनुहुन्छ। ऊसद्गुरु अनुरागीकोसाथ सधैं रहन्छन्, उसको मार्गदर्शन गर्दछन्।

जब कुनै व्यक्ति भावुकतावश 'पूज्य श्रीपरमहंसज्यू महाराज'को नजिक बस्नका लागि आग्रह गर्न लाग्दथ्यो, त्यसबेला उहाँले भन्नुहुन्थ्यो- "जाऊ, शरीरले जहाँ बसे पनि मनले मेरो नजिक आउदै गर्नु। बिहान-बेलुका राम, शिव, ॐ कुनै एउटा दुई-ढाई अक्षरको नाम जप गर र मेरो स्वरूपलाई आफ्नो हृदयमा ध्यान गर। एक मिनेट पनि स्वरूप ध्यानमा ल्याउन सक्यौ भने जसको नाम भजन हो, त्यो म तिमीलाई दिनेछु। यसभन्दा बढी अघि सर्न सक्यौ भने म तिम्रो हृदयमा रथवान् बनेर सधैं तिम्रो साथमा रहनेछु। जब स्वरूप पकडमा आउँछ, त्यसपछि महापुरुष यति नजिक हुन्छन् जति हात-खुट्टा, नाक-कान

इत्यादि तपाईको नजिक छन्। तपाई हजारौं किलोमिटर टाढा भएपनि उनी सधैं तपाईको नजिक बस्छन्। मनमा विचारहरू उठ्नु भन्दा अगाडि नै उनले मार्गदर्शन गर्नथाल्दछन्। अनुरागीको हृदयमा ती महापुरुष सधैं आत्मासित अभिन्न जाग्रत रहन्छन्। अर्जुन अनुरागको प्रतीक हो।

गीताको एघारौं अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णको ऐश्वर्य देखेर अर्जुनले आफ्ना क्षुद्र त्रुटिहरूको लागि क्षमायाचना गर्नथाले। श्रीकृष्णले क्षमागर्दै याचनाको अनुरूप सौम्य स्वरूपमा आएर भने– "हे अर्जुन! मेरो यस स्वरूपलाई पहिले कसैले पनि न त देखेको थियो न त भविष्यमा देख्नेछ।" त्यस्तो भए त गीता हाम्रोलागि व्यर्थ हो किनकि त्यस्तो दर्शनको योग्यताहरू अर्जुनसम्म मात्र सीमित थिए, जबकि त्यसै बेला संजयले पनि देखिराखेका थिए। पहिले पनि उहाँले भनेका थिए– "धेरै जसो योगीहरू ज्ञानरूपी तपबाट पवित्र भएर मेरो साक्षात् स्वरूपलाई प्राप्त गरिसकेका छन्।" अन्त्यमा त्यो महापुरुषले के भन्न खोज्नु भएको हो? वस्तुतः अनुराग नै 'अर्जुन' हो, जो तपाईको हृदयको भावना–विशेष हो। अनुरागविहीन मानिसले न त कहिलै पूर्वकालमा देख्न सकेको छ र न भविष्यमा देख्न पाउने छ।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।
किये जोग तप ग्यान विरागा।।

अतः अर्जुन एउटा प्रतीक हो। यदि प्रतीक होइन भने गीताको पछि लाग्न छोड्नुस्। गीता तपाईको लागि होइन; किनकि यस्तो दर्शनको योग्यता अर्जुनसम्म मात्र सीमित रह्यो।

अध्यायको अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्णले निर्णय दिनुहुन्छ– "अर्जुन! अनन्य भक्ति र श्रद्धाले म यसप्रकार प्रत्यक्ष देख्नको लागि (जस्तो तिमीले देख्यौं), तत्वबाट स्पष्ट जान्नको लागि र प्रवेशको लागि पनि सहज छु।" अनन्य भक्ति अनुरागकै अर्को रूप हो र यही अर्जुनको स्वरूप पनि हो। अर्जुन बटुवाको प्रतीक हो। यसप्रकार गीताका पात्रहरू प्रतीकात्मक हुन्। यथास्थान त्यसका सङ्केतहरू छन्।

हुनसक्छ कोही ऐतिहासिक श्रीकृष्ण र अर्जुन भएका होलान्, निश्चय पनि कुनै विश्वयुद्ध भएका होला; तर गीतामा भौतिक युद्धको चित्रण कदापि छैन्। त्यस ऐतिहासिक युद्धको मुहानमा डराएर आत्तिने अर्जुन थिए न कि सेना; सेना त लडाईको लागि तयार उभिएरका थिए।

के गीताको उपदेश दिएर श्रीकृष्णले सव्यसाची अर्जुनलाई सेनायोग्य बनाउनु भयो? वस्तुतः साधन लेखिनमा आउदैन, सबैथोक पढिसके पछि पनि हिड्नु बाँकी नै रहन्छ। यही प्रेरणा 'यथार्थ गीता' हो।

श्री गुरु पूर्णिमा,
२४ जुलाई, १९८३ ई.

सद्गुरु कृपाश्रयी, जगत्बन्धु
स्वामी अड़गड़ानन्द

●

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

।। अथ श्रीमद्भगवद्गीता ।।

।। यथार्थ गीता ।।

।। अथ प्रथमोऽध्यायः ।।

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

धृतराष्ट्रले सोधे– "हे सञ्जय! धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्रमा एकत्रित युद्धको इच्छा भएका मेरा र पाण्डुपुत्रहरूले के गरे?"

अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र र संयमरूपी सञ्जय। अज्ञान मनभित्र हुन्छ। अज्ञानले ढाकिएको मन धृतराष्ट्र जन्मान्ध छ; तर संयमरूपी सञ्जयको माध्यमले यसले देख्छ, सुन्छ। उसले बुझ्छ कि परमात्मा नै सत्य हो, तैपनि जबसम्म उसबाट उत्पन्न मोहरूपी दुर्योधन जीवित छ, उसको दृष्टि सधैं कौरवहरूमा नै रहन्छ, विकारहरूमा नै रहन्छ।

शरीर एउटा क्षेत्र हो। जब हृदय-देशमा दैवी सम्पत्तिको बाहुल्य हुन्छ, तब यो शरीर धर्मक्षेत्र बन्छ र जब यसमा आसुरी सम्पत्तिको बाहुल्य हुन्छ तब यो शरीर कुरुक्षेत्र बन्छ। 'कुरु' भनेको गर– यो शब्द आदेशात्मक हो। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– प्रकृतिबाट उत्पन्न तीनवटै गुणद्वारा परवश भएर मानिसले कर्म

गर्छ। त्यो छिनभर पनि कर्म नगरीकन बस्नै सक्तैन, गुणले उसबाट कर्म गराउँछ। सुतिसके पनि कर्म बन्द हुँदैन, त्यो पनि स्वस्थ शरीरको आवश्यक खुराक मात्र हो। तीनवटै गुणले मानिसलाई देवतादेखि कीरासम्म शरीरहरूमै बाँध्ने गर्छन्। जबसम्म प्रकृति र प्रकृतिबाट उत्पन्न गुण जीवित छन्, तबसम्म 'कुरु' लागि रहनेछ। अतः जन्म-मृत्युको क्षेत्र, विकारको क्षेत्र कुरुक्षेत्र हो र परमधर्म परमात्मामा प्रवेश दिलाउने पुण्यमयी प्रवृत्तिहरूको (पाण्डवहरूको) क्षेत्र धर्मक्षेत्र हो।

पुरातत्वविद् पंजाबमा, काशी-प्रयागमध्य तथा अनेकौं स्थलहरूमा कुरुक्षेत्रबारेको शोध गर्नमा लागेका छन्, तर गीताकारले स्वयं भनेका छन् कि जुन क्षेत्रमा यो युद्ध भयो त्यो कहाँ छ। **'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।'** (अ. १३/१) "अर्जुन! यो शरीर नै क्षेत्र हो र जसले यसलाई जान्दछ, यसको अन्त्य पाइसकेको छ, ऊ क्षेत्रज्ञ हो।" अगाडि उनले क्षेत्रको विस्तार बताए, जस अन्तर्गत दस इन्द्रियहरू, मन, बुद्धि, अहङ्कार, पाँचवटा विकारहरू र तीनवटा गुणहरूको वर्णन छ। शरीर नै क्षेत्र हो, एउटा अखडा हो। यसमा लडाई गर्ने प्रवृत्तिहरू दुईवटा हुन्- 'दैवी सम्पद्' र 'आसुरी सम्पद्', 'पाण्डुका सन्तान' र 'धृतराष्ट्रका सन्तान', 'सजातीय र विजातीय प्रवृत्तिहरू'।

अनुभवी महापुरुषको शरणमा गएपछि यी दुबै प्रवृत्तिहरूमा सङ्घर्षको सूत्रपात् हुन्छ। यो क्षेत्र र क्षेत्रज्ञको सङ्घर्ष हो। यही वास्तविक युद्ध हो। विश्वयुद्धहरूले इतिहास भरिएको छ, तर त्यसमा जित्नेलाई पनि शाश्वत विजय पाईदैन। यी त आपसका बदला हुन्। प्रकृतिलाई सवै प्रकारले शान्त गरेर, प्रकृतिदेखि परको सत्ताको दिग्दर्शन गर्नु र त्यसमा प्रवेश पाउनु नै वास्तविक विजय हो। यही एउटा यस्तो विजय हो, जसको पछाडि हार हुदैन्। यो नै मुक्ति हो, जसको पछि जन्म-मृत्युको बन्धन हुदैन।

यसरी अज्ञानले ढाकिएको प्रत्येक मन संयमको माध्यमले बुझ्छ कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको युद्धमा के भयो? अब जसको संयमको जस्तो उत्थान हुन्छ, उस्तै-उस्तै उसको दृष्टि आउँदै जान्छ।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

त्यस बेला राजा दुर्योधनले व्यूह-रचनायुक्त पाण्डवहरूको सेनालाई देखेर द्रोणाचार्य नजिक गएर यो वचन भने-

द्वैतको आचरण नै 'द्रोणाचार्य' हो। जब ज्ञान हुन्छ कि हामी परमात्मा सँग अलग भइसकेका छौं (यही द्वैतको भान हो), तब उसको प्राप्तिका लागि व्याकुलता उत्पन्न हुन्छ; अनि हामी गुरुको खोजीमा निस्कन्छौं। दुबै प्रवृत्तिहरूको यो नै प्राथमिक गुरु हो; यद्यपि पछिको सद्गुरु योगेश्वर श्रीकृष्ण हुनेछन् जो योगको स्थितिका हुनेछन्।

राजा दुर्योधन आचार्यको नजिक जान्छन्। मोहरूपी दुर्योधन- मोह सम्पूर्ण व्याधिहरूको मूल हो, राजा हो। दुर्योधन- 'दुर्' अर्थात् दूषित, 'योधन' अर्थात् यो धन। आत्मिक सम्पत्ति नै स्थिर सम्पत्ति हो। त्यसमा जसले दोष उत्पन्न गर्छ त्यो हो मोह। यसले प्रकृतितिर तान्दछ र वास्तविक जानकारीको लागि प्रेरणा पनि प्रदान गर्छ। मोह रहेसम्म सोध्ने प्रश्न पनि रहन्छ, होइन भने सबै पूर्ण नै हुन्छ।

अतः व्यूह-रचनायुक्त पाण्डवहरूको सेनालाई देखेर अर्थात् पुण्यबाट प्रवाहित सजातीय वृत्तिहरूलाई सङ्गठित देखेर मोहरूपी दुर्योधनले प्रथम गुरु द्रोण नजिक गएर यो भने-

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

हे आचार्य! आफ्ना बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार उभ्याइएका पाण्डुपुत्रहरूका यस विशाल सेनालाई हेर्नुस्।

शाश्वत अचल पदमा आस्था राख्ने दृढ मन नै 'धृष्टद्युम्न' हो। यहि नै पुण्यमयी प्रवृत्तिहरूको नायक हो। **'साधन कठिन न मन कर टेका।'**- साधन कठिन हुँदैन, मनको दृढता कठिन हुनुपर्छ।

अब हेरौं सेनाको विस्तार–

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

यस सेनामा '**महेष्वासा**'– महान् ईशमा वास दिलाउने, भावरूपी 'भीम', अनुरागरूपी 'अर्जुन'को समान धेरै शूरवीर; जस्तै– सात्विकतारूपी 'सात्यकि', '**विराटः**'– सर्वत्र ईश्वरीय प्रवाहको धारणा, महारथी राजा द्रुपद अर्थात् अचल स्थिति तथा–

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

'**धृष्टकेतुः**'– दृढकर्त्तव्य, '**चेकितानः**– जहाँ गए पनि त्यहाँबाट तानेर चित्तलाई इष्टमा स्थिरगर्ने, '**काशिराजः**'– कायारूपी काशीमा नै त्यो साम्राज्य छ, '**पुरुजित्**'– स्थूल, सूक्ष्म र कारण शरीरहरूमाथि विजय दिलाउने पुरुजित्, '**कुन्तिभोजः**'– कर्त्तव्यले भवमाथि विजय, नरहरूमा श्रेष्ठ '**शैब्य**' अर्थात् सत्य व्यवहार–

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

र पराक्रमी '**युधामन्युः**'– युद्धको अनुरूप मनको धारणा, '**उत्तमौजाः**'– शुभको मस्ती, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु– जब शुभ आधार आउँछ, तब मन भयरहित हुन्छ। यस्तो शुभाधारले उत्पन्न अभय मन, ध्यानरूपी द्रौपदीका पाँचै पुत्र– वात्सल्य, लावण्य, सहृदयता, सौम्यता, स्थिरता यी सबै महारथी हुन्। साधन–पथमा सम्पूर्ण योग्यतासाथ हिड्ने क्षमताहरू हुन्।

यसप्रकार दुर्योधनले पाण्डव पक्षका पन्ध्र–बीसवटा नाम गनाए, जो दैवी सम्पद्का महत्वपूर्ण अंग हुन्। विजातीय प्रवृत्तिका राजा हुँदा–हुँदै पनि 'मोह'ले नै सजातीय प्रवृत्तिहरूलाई बुझ्न बाध्य गर्छ।

दुर्योधनले आफ्नो पक्षबारे संक्षेपमा भन्छ। यदि कुनै बाहिरी युद्ध भएको भए उसले आफ्नो फौज बढी गन्ती गराउँथ्यो। विकारहरू कम गन्ती गराइए;

किनकि तिनीमाथि विजय पाउनु छ, ती नाशवान् छन्। मात्र पाँच-सातवटा विकारहरू बताइएका छन्, जसको अन्तरालमा सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्ति विद्यमान छन्। जस्तै-

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

द्विजोत्तम! हाम्रो पक्षका जो-जो प्रधान हुन्, उनको बारेमा पनि तपाईले बुझिराख्नुस्। तपाईको जानकारीको लागि मेरा सेनाका जो-जो नायक हुन्, उनको बारेमा भन्दछु।

बाहिरी युद्धमा सेनापतिको लागि 'द्विजोत्तम' सम्बोधन असामयिक हो। वस्तुतः 'गीता'मा अन्तःकरणका दुई प्रवृत्तिहरूको सङ्घर्ष हो। जसमा द्वैतको आचरण नै 'द्रोण' हो। जबसम्म हामी अलिकति पनि आराध्यबाट परछौं, तबसम्म प्रकृति विद्यमान छ, द्वैत बनेको छ। यस 'द्वि'माथि जयपाउने प्रेरणा प्रथम गुरु द्रोणाचार्यबाट प्राप्त हुन्छ। अधूरो शिक्षाले नै पूर्ण जानकारीका लागि प्रेरणा प्रदान गर्छ। त्यो पूजास्थली होइन, त्यहाँ शौर्यसूचक सम्बोधन हुनु पर्दथ्यो।

विजातीय प्रवृत्तिका नायक को-को हुन्?-

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

एक त स्वयं तपाई (द्वैतको आचरणरूपी द्रोणाचार्य) हुनुहुन्छ, भ्रमरूपी पितामह 'भीष्म' हुनुहुन्छ। भ्रम विकारहरूको उद्‌गम हो। अन्त्यसम्म जिवित रहन्छ, यसैले पितामह हो। सबैसेना मरे, तर यो जीवित थियो। यो हो भ्रमरूपी 'भीष्म'। भ्रम अन्त्यसम्म रहन्छ। यस्तै विजातीय कर्मरूपी 'कर्ण' र संग्रामविजयी 'कृपाचार्य' हुन्। साधनावस्थामा साधकद्वारा कृपाको आचरण नै 'कृपाचार्य' हो। भगवान् कृपाधाम हुन र प्राप्तिपछि सन्तको पनि त्यही स्वरूप हुन्छ; तर साधनाकालमा जबसम्म हामी परछौं, परमात्मा पर छन्, विजातीय प्रवृत्ति जीवित छन्, मोहको घेरा छ- यस्तो परिस्थितिमा साधकले यदि कृपाको आचरण गर्छ भने त्यो नष्ट भएरजान्छ। सीताले दया गरीन् केही काल लङ्कामा

प्रायश्चित गर्नुपर्‍यो। विश्वामित्र दयार्द्र भए, पतित हुनुपर्‍यो। योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलिले पनि यही भन्नु छ– '**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।**' (३/३७) व्युत्थानकालमा सिद्धिहरू प्रकट हुन्छन्। ती वास्तवमा सिद्धिहरू हुन्; तर कैवल्य प्राप्तिको लागि त्यत्तिकै ठूला विघ्न हुन् जति काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि। गोस्वामी तुलसीदासको पनि यस्तै मत छ–

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।।
(रामचरितमानस, ७/११७/६-७)

मायाले अनेक विघ्न गर्छ, ऋद्धिहरू प्रदान गर्छ, यहाँसम्म कि सिद्ध बनाइदिन्छ। यस्तो अवस्थाको साधक छेउबाट हिड्ने बितिकै मरणासन्न रोगी पनि जीवित भएर उठ्दछ। त्यो ठीक भए पनि यदि साधकले यसलाई आफ्नो देन ठान्दछ भने ऊ नष्ट हुन्छ। एक रोगीको सट्टा हजारौं रोगीले घेर्ने छन्, भजन-चिन्तनको क्रम अवरुद्ध हुनेछ र उतातिर लम्कँदा-लम्कँदै प्रकृतिको बाहुल्य हुनेछ। यदि लक्ष्य टाढा छ र साधकले कृपा गर्छ भने कृपाको एक्लो आचरणले नै '**समितिञ्जयः**'– सबै सेनालाई जित्नेछ। यसैले साधकले पूर्तिसम्म यसबाट सतर्क हुनु पर्दछ। '**दया बिनु सन्त कसाई, दया करी तो आफत आई।**' तर अधूरो अवस्थामा यो विजातीय प्रवृत्तिको दुर्धर्ष योद्धा हो।

यसैप्रकार आसक्तिरूपी अश्वत्थामा। सृष्टिमा कहीं पनि वस्तुहरूमा लगाव नै आसक्ति हो। द्वैतको आचरण द्रोणाचार्य हो। द्वैत नै आसक्तिको जन्मदाता हो। शस्त्र हातमा रहुञ्जेल आचार्य द्रोणको मृत्यु हुन सक्दैन्थ्यो, उहाँ अजेय हुनुहुन्थ्यो। भगवान श्रीकृष्णले भने– "कौरवपक्षमा एउटा हात्तीको नाम अश्वत्थामा हो। भीमले त्यस हात्तीलाई मारेर 'अश्वत्थामा मारियो' यस्तो घोषणा गरौं। यस अप्रिय सूचनाबाट आचार्य मर्माहत भएर सुस्त हुनेछन, त्यसै बखत उनको अन्त्य गरियोस्।" भीमले हात्तीलाई मारीदिए, प्रचार गरियो कि अश्वत्थामा मारियो। द्रोणले समझे कि उनको छोरा अश्वत्थामा मारियो। उनी उदास (सुस्त) भए, धनुष हातबाट झर्‍यो। उनी हताश चेतनहीन भएर युद्धभूमिमा बसे, उनको

गर्दन कट्यो। पुत्रमा अत्याधिक आसक्ति उनको मृत्युको कारण बन्यो। अश्वत्थामा दीर्घजीवी थियो। निवृत्तिको अन्तिम क्षणसम्म यो बाधाको रूपमा विद्यमान रहन्छ, यसैकारण अमर कहलाउँछ।

विकल्परूपी विकर्ण। साधनाको उन्नत अवस्थामा विशिष्ट कल्पनाहरू उठ्न थाल्छन्। मनमा सङ्कल्प-विकल्प हुन्छ कि स्वरूप-प्राप्तिसँग भगवानबाट कुन सिद्धिहरू, अलौकिक शक्तिहरू प्रदान गरिनेछन्? भगवानको चिन्तनको स्थानमा विभूतिहरूको चिन्तन हुन थाल्छ। साधकको दृष्टि केवल कर्ममा हुनु पर्छ, उसले फलको वासना भएको हुनु हुदैन, तर जब ऊ ऋद्धि-सिद्धिको चिन्तन गर्न थाल्छ, यो विकल्प नै विकर्ण हो। यी कल्पनाहरू विशिष्ट हुन तर साधनामा ठूलो बाधक हुन्।

भ्रममय श्वास नै भूरिश्रवा हो। साधनाको स्तर उच्च भएपछि उसको प्रशंसा हुन् थाल्छ कि त्यो महात्मा हो, सिद्ध छ, त्यसमा दिव्यशक्तिहरू छन्, उसको सामु लोकपाल पनि झुक्छन्। यस आवभाव, प्रशस्तिबाट साधक खुशी हुन् थाले, गद्गद भएर बहकन थाले- यो भ्रममयी श्वास नै भूरिश्रवा हो। पूज्य गुरुदेवको भनाई थियो- "संसारले पुष्प वृष्टि गरे, प्रशंसा गरे, विश्व जगद्गुरु भने- तिमीलाई केही पाइनेछैन, रुनलाई आँसू पनि पाइनेछैन। यदि ईश्वरले तिमीलाई साँधु भनि दिए भने सबै थोक पाउने छौ, दुनियाँले भनोस वा नभनोस तर पनि तिमी सर्वस्व पाउने छौ।" यस प्रकार सांसारिक प्रशंसामा बग्नु भ्रममयी श्वास हो, यही भूरिश्रवा हो। प्रशंसा भूरि-भूरि हुन्छ, अत्याधिक हुन्छ, अतिरञ्जित हुन्छ, यसले साधनामा क्षय हुन थाल्छ। अस्तु, भ्रममयी श्वास भूरिश्रवा हो। संयमको स्तर उन्नत भए पछि आएका विकृतिहरूको यी नाम हुन्, बाह्य प्रवृत्तिका अङ्ग-उपाङ्ग हुन्।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

अरु पनि धेरै शूरवीरहरू अनेक प्रकारका शस्त्रहरू धारण गरेर मेरो लागि जीवनको आशा त्यागगरी युद्धमा अडेका छन्। सबै मेरो लागि ज्यान

दिनेहरू हुन्; तर उनको कुनै पक्का गन्ती छैन। अब कुन सेना कुन भावले सुरक्षित छन्, यसबारे भन्नुहुन्छ–

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

भीष्मद्वारा रक्षित हाम्रो सेना सबै प्रकारले अजेय छ र भीमद्वारा रक्षित उनीहरूका सेनालाई सजिलैसित जित्न सकिन्छ। पर्याप्त र अपर्याप्त जस्तो क्लिष्ट शब्दको प्रयोगले दुर्योधनको दुविधालाई व्यक्त गर्दछ। अतः हेर्नुछ कि भीष्म कुन सत्ता हो जसमाथि कौरवहरू निर्भर गर्छन् र भीम कुन सत्ता हो जसमाथि सम्पूर्ण पाण्डवहरू निर्भर छन्। दुर्योधनले आफ्नो व्यवस्था दिन्छ–

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

यसैले सबै मोर्चाहरूमा आ–आफ्नो ठाउँमा रहेर तपाई सबैजना भीष्मलाई नै चारैतिरबाट रक्षा गर्नुस्। यदि भीष्म जीवित छ भने हामी अजेयछौं। यसैले तपाईहरू पाण्डवहरूसँग युद्ध नगरेर मात्र भीष्मको नै रक्षा गर्नुस्। कस्तो योद्धा हो भीष्म जसले स्वयं आफ्नो रक्षा गर्न सकिरहेको छैन, कौरवहरूले उसको रक्षा–व्यवस्था गर्नु परिरहेको छ। यो कुनै बाहिरी योद्धा होइन, भ्रम नै भीष्म हो। जबसम्म भ्रम जीवित रहन्छ, तबसम्म विजातीय प्रवृत्तिहरू (कौरव) अजेय रहन्छन्। 'अजेय'को अर्थ यो होइन कि जसलाई जित्नै सकिन्न, अजेयका अर्थ दुर्जय हो जसलाई कठिनतासाथ जित्न सकिन्छ–

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।।

(रामचरितमानस, ६/८० क)

यदि भ्रम समाप्त भयो भने अविद्या अस्तित्वविहीन हुन्छ। मोह इत्यादि जुन आंशिक रूपमा बाँचेका पनि छन् भने चाँडै समाप्त हुनेछन्। भीष्मलाई इच्छा–मृत्युको वरदान प्राप्त थियो। इच्छा नै भ्रम हो। इच्छाको अन्त्य र भ्रम समाप्त हुनु एउटै कुरा हो। यसैलाई सन्त कबीरले सजिलोसँग भन्नुभयो–

इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया।
कह कबीर जे इच्छा विवर्जित, ताका पार न पाया।।

जहाँ भ्रम हुँदैन, त्यो अपार र अव्यक्त छ। यो शरीरको जन्मको कारण इच्छा हो। इच्छा नै माया हो र इच्छा नै संसारको उत्पत्तिको कारण हो। [**'सोऽकामयत' तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय इति' (छान्दोग्य० उप० ६/२/३)**] कबीर भन्नुहुन्छ– जो इच्छाहरूबाट सर्वथा रहित हुन्छन्, '**ताका पार न पाया**'– उनीहरू अपार, अनन्त, असीम तत्वमा प्रवेश पाउँदछन्। [**'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।' (बृहदारण्यक० उप० ४/४/६)।**] जो कामनाहरूबाट रहित, आत्मामा स्थिर आत्मस्वरूप हो, उसको कहिले पनि पतन हुँदैन। ऊ ब्रह्मको साथ एक हुन्छ। शुरूमा इच्छाहरू अनन्त हुन्छन् र अन्ततोगत्वा परमात्मा–प्राप्तिको इच्छा शेष रहन्छ। जब यो इच्छा पनि पूर्ण हुन्छ, तब इच्छा पनि समाप्त हुन्छ। यदि योभन्दा कुनै ठूलो वस्तु भएको भए, तपाई त्यसको इच्छा अवश्य गर्नुहुन्थ्यो। जब उसको अगाडि कुनै वस्तु नै छैन भने, इच्छा कसको हुने? जब पाउने योग्य कुनै वस्तु अप्राप्य रहँदैन, तब इच्छा पनि सम्पूर्णरूपमा समाप्त हुन्छ र इच्छाको अन्त्य हुनासाथ भ्रमको पनि पूर्णरूपेण अन्त्य हुन्छ। यो नै भीष्मको इच्छा–मृत्यु हो। यसप्रकार भीष्मद्वारा रक्षित हामीहरूको सेना सबै प्रकारले अजेय छ। जबसम्म भ्रम छ, तबसम्म अविद्याको पनि अस्तित्व छ। भ्रम शान्त भएपछि अविद्या पनि समाप्त हुन्छ।

भीमद्वारा रक्षित यिनीहरूको सेनालाई जित्न सजिलो छ। भावरूपी भीम! '**भावे विद्यते देवः**'– भावमा त्यो क्षमता छ कि अविदित परमात्मा पनि विदित हुन्छ।

भाव बस्य भगवान, सुख निधान करुना भवन।
(रामचरितमानस, ७/९२ख)

श्रीकृष्णले यसलाई श्रद्धा भनेर सम्बोधित गर्नुभएको छ। भावमा त्यो क्षमता छ कि भगवान्लाई पनि आफ्नो वशमा राख्न सक्दछ। भावद्वारा नै

सम्पूर्ण पुण्यमयी प्रवृत्तिको विकास हुन्छ। यो पुण्यको संरक्षक हो। यो यति बलियो हुन्छ कि परमपिता परमात्मालाई सम्भव बनाउँछ; तर साथै यति कोमलो पनि हुन्छ कि आज भाव छ भने भोलि अभावमा पनि बदलिन समय लाग्दैन। आज तपाई भन्नुहुन्छ कि महाराज धेरै राम्रो हुनुहुन्छ, भोलि भन्न सक्नुहुन्छ कि होइन, हामीले देख्यौं महाराज खीर खानुहुन्छ।

घास पात जो खात हैं, तिनहि सतावे काम।
दूध मलाई खात जे, तिनकी जाने राम।।

आराध्यदेवमा अलिकति पनि त्रुटि देखिएमा भाव विचलित हुन्छ, पुण्यमय प्रवृत्ति पनि विचलित हुन्छ, इष्टसँगको सम्बध विच्छेद हुन्छ। यसैले भीमद्वारा रक्षित उनीहरूको सेनालाई जित्नु सजिलो छ। महर्षि पतञ्जलिको निर्णय पनि यही हो– **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।' (योगसूत्र, १/१४)**। दीर्घकालसम्म निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गरिएको साधना नै दृढ हुनपाउँछ।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

यसप्रकार आ-आफ्नो खिचातानीको निर्णय लिएर शङ्खध्वनि भयो। शङ्खध्वनि पात्रहरूको पराक्रमको घोषणा हो कि युद्ध जितेपछि कुन पात्रले तपाईलाई के दिनेछ? कौरवहरूमा बृद्ध प्रतापवान् भीष्म पितामहले दुर्योधनको हृदयमा हर्ष उत्पन्न गर्दै ठूलो स्वरमा सिँहनादको समान डरलाग्दो शङ्ख बजाए। सिँह प्रकृतिको भयावह पक्षको प्रतीक हो। घनघोर जँगलको शान्त-एकान्तमा सिँहको गर्जना कानमा पर्ने बित्तिकै हृदय काँम्न थाल्छ; यद्यपि सिँह तपाईभन्दा कोसौं टाढा हुन्छ। भय प्रकृतिमा हुन्छ परमात्मामा हुँदैन, ऊ त अभयसत्ता हो। भ्रमरूपी भीष्म यदि विजयी हुन्छ भने प्रकृतिको जुन भयारण्यमा तपाई हुनुहुन्छ, त्योभन्दा ठूलो भयको आवरणमा बाँध्ने छ। भयको एक तह अझै बढ्नेछ, भयको आवरण बाक्लो हुनेछ। यो भ्रमले यसको अतिरिक्त अरू केही दिने छैन्। अतः प्रकृतिबाट निवृत्ति नै गन्तव्यको बाटो हो। संसारमा प्रवृत्ति त

भवाटवी हो, घोर अन्धारको छाया हो। यसको सामुन्ने कौरवहरूको कुनै घोषणा छैन। कौरवहरूको पक्षबाट कैयौं बाजाहरू एकैसाथ बजे। प्रायः सबै बाजाहरूले भय नै दिन्छन्, अरु बढ़ी केही दिंदैन। प्रत्येक विकार केही न केही भय दिन्छ नै। यसैले उहाँले पनि घोषणा गर्नुभयो–

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

यसपछि अनेकौं शङ्ख, नगारा, ढोल, नरसिङ्गा आदि बाजाहरू एकैसाथ बजे। उनीहरूको शब्द पनि बडो भयङ्कर भयो। भयको संचार गर्नु बाहेक कौरवहरूको अरू कुनै घोषणा छैन। बहिर्मुखी विजातीय प्रवृत्ति सफल भएपछि मोहयुक्त बन्धन अझै बलियो पारिदिन्छ।

अब पुण्यमय प्रवृत्तिहरूको तर्फबाट घोषणा भयो, जसमा पहिलो घोषणा योगेश्वर श्रीकृष्णको हो–

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

तत्पश्चात् सेता–सेता घोडाहरूलेयुक्त (जसमा अलिकति पनि कालोपन दोष छैन– सेतो सात्विक निर्मलताको प्रतीक हो)– '**महति स्यन्दने**'– महान् रथमा बसेका योगेश्वर श्रीकृष्ण र अर्जुनले पनि अलौकिक शङ्ख बजाउनुभयो। अलौकिकको अर्थ हो, यस लोकबाट टाढा। मृत्युलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक जहाँसम्म जन्म–मरणको भय छ, ती सम्पूर्ण लोकबाट पर पारलौकिक, पारमार्थिक स्थिति प्रदान गर्ने घोषणा योगेश्वर श्रीकृष्णको हो। सुन, चाँदी र काठको रथ होइन, रथ अलौकिक, शङ्ख अलौकिक, अतः घोषणा पनि अलौकिक नै छ। यस लोकबाट पर एकमात्र ब्रह्म नै हो, सोझै उहाँसँग सम्पर्क स्थापित गर्ने घोषणा हो। उहाँले कसरी यस्तो स्थिति प्रदान गर्नु हुनेछ?–

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

'हृषीकेशः'- जो हृदयको सर्वस्व ज्ञाता हुनुहुन्छ, उही श्रीकृष्णले 'पाञ्चजन्य' शङ्ख बजाउनुभयो। पाँचै ज्ञानेन्द्रियहरूको पञ्चतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस र गन्ध)को रसहरूलाई समेटेर आफ्नै जन (भक्त)को श्रेणीमा ढाल्ने घोषणा गर्नुभयो। विकरालरूपमा बरालिएका इन्द्रियहरूलाई समेटेर तिनीहरूलाई आफ्नो सेवकको श्रेणीमा उभ्याइदिनु हृदयले प्रेरक सद्गुरुकै देन (कृपा) हो। श्रीकृष्ण एक योगेश्वर, सद्गुरु हुनुहुन्थ्यो। **'शिष्यस्तेऽहम्'**- प्रभु! म तपाईको शिष्य हुँ। बाहिरी विषय-वस्तुहरूलाई छोडेर ध्यानमा आराध्यदेव बाहेक अरुलाई नदेखौं, अरुलाई नसुनौं, न अरुको स्पर्श गरौं, यो सद्गुरुको अनुभव-सञ्चारमा निर्भर गर्दछ।

'देवदत्तं धनञ्जयः'- दैवी सम्पत्तिलाई अधीन गर्ने अनुराग नै अर्जुन हो। आराध्यदेवको अनुरूप लगाव, जसमा विरह, वैराग्य, अश्रुपात् होस्, **'गद्गद गिरा नयन बह नीरा'**- रोमाञ्च होस्, आराध्यदेव बाहेक अरू विषय-वस्तुको अलिकति पनि टकराउ हुन नपाओस्, यसैलाई 'अनुराग' भनिन्छ। यदि यो सफल हुन्छ भने परमदेव परमात्मामा प्रवेश दिलाउने दैवी सम्पद्माथि अधिपत्य प्राप्त गर्छ। यसैको अर्को नाउँ धनञ्जय पनि हो। एउटा धन त बाहिरी सम्पत्ति हो, जसबाट शरीर-निर्वाहको व्यवस्था हुन्छ, आत्मासित यसको कुनै सम्बन्ध छैन। यसबाट अलग स्थिर आत्मिक सम्पत्ति नै आफ्नो सम्पत्ति हो। बृहदारण्यकोपनिषद्मा याज्ञवल्क्यले मैत्रेयीलाई यही सम्झाउनुभयो कि धनले सम्पन्न पृथ्वीको स्वामित्वबाट पनि अमृतत्वको प्राप्ति हुनसक्दैन्। यसको उपाय आत्मिक सम्पत्ति हो।

भयानक कर्मवाला भीमसेनले पौण्ड्र अर्थात् प्रीति नामक महाशङ्ख बजाए। भावको उद्गम र निवास स्थान हृदय हो, यसैले यसको नाम वृकोदर हो। तपाईको भाव, लगाउ केटाकेटीमा हुन्छ; तर वास्तवमा त्यो लगाउ तपाईको हृदयमा छ जुन केटाकेटीमा गएर मूर्त्त हुन्छ। यो भाव अगाध र महान् बलशाली छ, उसले प्रीति नामक महाशङ्ख बजाए। भावमा नै त्यो प्रेम निहित छ, यसैले भीमले पौण्ड्र (प्रीति) नामक महाशङ्ख बजाए। भाव महान् बलवान् हुन्छ; तर प्रेम-सञ्चारको माध्यमबाट।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।।
(रामचरितमानस, १/१८४/५)

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरले 'अनन्त विजय' नामक शङ्ख बजाए। कर्त्तव्यरूपी कुन्ती र धर्मरूपी युधिष्ठिर। धर्ममा स्थिरता रह्यो भने **'अनन्तविजयम्'**- अनन्त परमात्मामा स्थिति दिलाउनेछ। **युद्धे स्थिरः सः युधिष्ठिरः।** प्रकृति-पुरुष क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको सङ्घर्षमा स्थिर रहन्छ। भयङ्कर दुःखबाट पनि विचलित हुँदैन, तब एक दिन जो अनन्त छ, जसका अन्त्य छैन, त्यो हो परमतत्व परमात्मा, त्यसमाथि विजय गराई दिन्छ।

नियमरूपी नकुलले 'सुघोष' नामक शङ्ख बजाए। जब-जब नियम उन्नत हुनेछ, अशुभको शमन (समाप्ति) हुँदै जानेछ, शुभ घोषित हुँदै जानेछ। सत्सङ्गरूपी सहदेवले ' मणिपुष्पक' शङ्ख बजाए। मनीषिहरूले प्रत्येक श्वासलाई बहुमूल्य मणिको संज्ञा दिएका छन्। **'हीरा जैसी स्वाँसा बातों में बीती जाय।' ('बिन्दु')** एउटा सत्सङ्ग त त्यो हो, जुन तपाई सत्पुरुषहरूको वाणीमा सुन्नुहुन्छ; तर यथार्थ सत्सङ्ग आन्तरिक हो। श्रीकृष्णको अनुसार आत्मा नै सत्य हो, सनातन हो। चित्त चारैतिरबाट समेटिएर आत्माको सङ्गत गर्न लागोस्, यो नै वास्तविक सत्सङ्ग हो। यो सत्सङ्ग चिन्तन, ध्यान र समाधिको अभ्यासबाट सम्पन्न हुन्छ। जसो-जसो सत्यका संसर्गमा ध्यान स्थायी रूपले स्थिर हुँदैजानेछ, त्यसै-त्यसै एक-एक श्वासमाथि नियंत्रण पाइनेछ, मनसहित इन्द्रियहरूको निरोध हुँदैजानेछ। जुन दिन पूर्णरूपले निरोध हुनेछ, वस्तु प्राप्त हुनेछ। वाद्ययन्त्रहरू जस्तै चित्तलाई आत्माको स्वरमा स्वर मिलाएर सङ्गत गर्नु नै सत्सङ्ग हो।

बाहिरी मणि कठोर हुन्छ, तर श्वासमणि फूलभन्दा पनि कोमल हुन्छ। पुष्प त विकसित भएपछि वा भाँचेपछि ओइलिन्छ; तर तपाई अघिको श्वाससम्म जीवित बस्ने ग्यारेण्टी दिन सक्नुहुन्न। तर सत्सङ्ग सफल भएमा प्रत्येक श्वासमा

नियन्त्रण दिलाएर परम लक्ष्यको प्राप्ति गराइदिन्छ। यस बाहेक पाण्डवहरूको अरू कुनै घोषणा छैन; तर प्रत्येक साधन केही न केही निर्मल बाटोको दूरी पार गर्दछ। अगाडि भन्नुहुन्छ–

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।

कायारूपी काशी! पुरुष जब चारैतिरबाट मनसहित इन्द्रियहरूलाई समेटेर कायामा नै केन्द्रित गर्दछ, तब '**परमेष्वासः**'– परम ईशमा बस्ने अधिकारी हुन्छ। परम ईशमा वास दिलाउने सक्षम काया नै काशी हो। कायामा नै परम ईशको निवास छ। परमेष्वासको अर्थ श्रेष्ठ धनुर्धारी होइन बरू परम+ईश+वास हो।

शिखा–सूत्रको त्याग नै 'शिखण्डी' हो। आजभोलि मान्छेहरू कपाल खौराएर तथा सूत्रको नाउमा जनै फालेर आगो बाल्न छोड्छन्, यतिले उनीहरूको संन्यास भैगयो। होइन, वस्तुतः शिखा लक्ष्यको प्रतीक हो, जसलाई तपाईंले प्राप्त गर्नु छ र सूत्र संस्कारको। जबसम्म परमात्मा प्राप्त भएको छैन, संस्कारहरूको सूत्रपात् लागेको छ तबसम्म त्याग कस्तो? संन्यास कस्तो? अहिले त बाटो हिड्ने बटुवा हुन्। जब प्राप्तव्य प्राप्त हुन्छ, संस्कारहरूका सूत्र कट्छ, यस्तो अवस्थामा भ्रम पूर्ण शान्त हुन्छ। त्यसैले शिखण्डी नै भ्रमरूपी भीष्मको नाश गर्छ। शिखण्डी चिन्तन–पथको विशिष्ट योग्यता हो, महारथी हो।

'**धृष्टद्युम्न**'– दृढ र अचल मन तथा '**विराट**'– सर्वत्र विराट् ईश्वरको प्रसार देख्ने क्षमता इत्यादि दैवी सम्पद्का प्रमुख गुण हुन्। सात्विकता नै सात्यकि हो। सत्य चिन्तनको प्रवृत्ति अर्थात् सात्विकता यदि बनेको छ भने कहिलै पनि हानि हुन पाउने छैन। यस सङ्घर्षमा पराजित हुनदिने छैन।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अचल पददायक द्रुपद र ध्यानरूपी द्रौपदीका पाँच पुत्रहरू– सहृदयता, वात्सल्य, लावण्य, सौम्यता, स्थिरता आदि साधनामा महान् सहायक महारथी हुन् तथा विशाल हात भएका अभिमन्यु– यिनीहरू सबैले पृथक्–पृथक् शङ्ख बजाए। हात कार्य–क्षेत्रको प्रतीक हो। जब मन भयमुक्त हुन्छ, तब उसको पहुँच टाढासम्म हुन्छ।

हे राजन! यिनीहरू सबैले बेग्ला–बेग्लै शङ्ख बजाए। केही न केही दूरी सबैले पार गराउँदछन, यिनको पालन आवश्यक छ, यसैले यिनका नाम गनाउनुभयो। यीबाहेक केही दूरी यस्तो पनि छ, जुन मन–बुद्धिबाट पर छ। भगवान् आफै अन्तःकरणमा विराजमान भएर पार गराउनु हुन्छ। यता दृष्टि बनेर आत्माले उभिनु हुन्छ र सामुन्ने स्वयं उभेर आफ्नो परिचय गराउनु हुन्छ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

त्यस घोर शब्दले आकाश र पृथ्वीलाई पनि शब्दायमान गर्दै धृतराष्ट्र–पुत्रहरूको हृदय विदीर्ण गरिदियो। सेना त पाण्डवहरूतिर पनि थिए; तर हृदय विदीर्ण भयो धृतराष्ट्र–पुत्रहरूको। वस्तुतः पाञ्चजन्य, दैवी शक्तिमाथि आधिपत्य, अनन्तमाथि विजय, अशुभको शमन (समाप्ति) र शुभको घोषणा धारावाही हुनलाग्यो भने कुरुक्षेत्र, आसुरी सम्पद्, बहिर्मुखी प्रवृत्तिहरूका हृदय विदीर्ण हुनेछ। उनीहरूको बल विस्तारै–विस्तारै कम हुन थाल्छ। पुरै सफलता पाएपछि मोहयुक्त प्रवृत्तिहरू पूर्णरूपेण शान्त हुन्छन्।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।

संयमरूपी सञ्जयले अज्ञानमा ढाकिएको मनलाई सम्झाए– हे राजन्! तत्पश्चात् '**कपिध्वजः**'– वैराग्यरूपी हनुमान! वैराग्य नै झण्डा हो (झण्डा

राष्ट्रको प्रतीक मानिन्छ। केही मानिसहरू भन्छन्- झण्डा चञ्चल थियो यसैले कपिध्वज भनियो। तर होइन, यहाँ कपि साधारण बाँदर होइन, स्वयं हनुमान हुनुहुन्थ्यो- जसले मान-अपमानको हनन गरेका थिए- **'सम मान निरादर आदरहीं।' (मानस, ७/१३/८)** प्रकृतिका देखेका-सुनेका वस्तुहरूको, विषयहरूको रागको त्याग नै 'वैराग्य' हो। अतः वैराग्य नै जसको झण्डा हो) त्यस अर्जुनले व्यवस्थितरूपमा धृतराष्ट्र-पुत्रहरूलाई उभेको देखेर शस्त्रचलाउने तयारीको बेलामा धनुष उठाएर '**हृषिकेशम्**'- जो हृदयको सर्वस्व ज्ञाता छन् ती योगेश्वर श्रीकृष्णसँग यो शब्द भने- "हे अच्युत! (जो कहिले पनि च्युत हुँदैन) मेरो रथलाई दुबै सेनाहरूको बीचमा उभ्याई दिनुस्।" यहाँ सारथीलाई दिइएको आदेश होइन, इष्ट (सद्गुरु)सँग गरेको प्रार्थना हो। किन उभ्याउने?-

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

जबसम्म म यहाँ स्थित भएका युद्धको कामना गर्नेहरूलाई राम्ररी नहेरुँ कि यस युद्धको व्यापारमा मैले को-कोसँग युद्ध गर्न उचित छ- यस युद्धमा मैले को-कोसँग युद्ध गर्नु छ?

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

यस युद्धमा दुर्बुद्धि दुर्योधनको कल्याण चाहनेहरू जुन-जुन यी राजाहरू यस सेनामा आएका छन्, ती युद्ध गर्नेहरूलाई म हेर्नेछु, यसैले उभ्याउनुस्। मोहरूपी दुर्योधन! मोहमय प्रवृत्तिहरूको कल्याणचाहने जुन-जुन राजाहरू यस युद्धमा आएका छन्, तिनलाई म हेरी लिउँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

सञ्जयले भने– निद्राजयी अर्जुनद्वारा यसप्रकार भनेपछि हृदयका ज्ञाता श्रीकृष्णले दुबै सेनाहरूको माँझमा भीष्म, द्रोण र '**महीक्षिताम्**'– शरीररूपी पृथ्वीमा अधिकार जमाएर बसेका सम्पूर्ण राजाहरूको बीचमा उत्तम रथलाई उभ्याएर भन्नुभयो– हे पार्थ! यहाँ एकत्रित भएका कौरवहरूलाई हेर। यहाँ उत्तम रथ सुन र चाँदीको रथ होइन। संसारमा उत्तमको परिभाषा नश्वर प्रतिको अनुकूलता–प्रतिकूलतामा गरिन्छ– यो परिभाषा अपूर्ण छ। जसले हाम्रो आत्मा, हाम्रो स्वरूपको सधैं साथ दिउन्, त्यही उत्तम हो, जसको पछाडि '**अनुत्तम**'– मलिनता नहोस्।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।२६।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

तत्पश्चात् अचूक लक्ष्यगर्ने, पार्थिव शरीरलाई रथ बनाउने पार्थले ती दुबै सेनाहरूमा स्थित काकाहरूलाई, बाजेहरूलाई, आचार्यहरूलाई, मामाहरूलाई, भाइहरूलाई, छोराहरूलाई, नातीहरूलाई, मित्रहरूलाई, ससुराहरूलाई र सुहृद्हरूलाई देखे।

दुबै सेनाहरूमा अर्जुनलाई मात्र आफ्नो परिवार, मामाको परिवार, ससुरालीको परिवार, सुहृद् र गुरुजन देखिए। महाभारतकालको गणनानुसार अठार अक्षौहिणी लगभग चालिस लाखको बरोबरी हुन्छ, तर प्रचलित गणनानुसार अठार अक्षौहिणी साढे छः अर्बको लगभग हुन्छ, जुन आजको विश्वको जनसंख्याको बराबर छ। यतिमात्रको लागि कहिलेकाहीं विश्वस्तरमा आवास, खाद्य–समस्या उत्पन्न हुन्छ। यति ठूलो जनसमूहमा अर्जुनको तीन–चार नातेदार आफन्तहरूको परिवार मात्र थियो। के यति ठूलो पनि कसैको परिवार हुन्छ? कदापि हुदैन। यो हृदय–देशको चित्रण हो।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

यसप्रकार उभिएका ती सम्पूर्ण बन्धुहरूलाई देखेर अत्यन्त करुणाले भरिएर ती कुन्तीपुत्र अर्जुनले शोक गर्दै भने। अर्जुन शोक गर्न लागे; किनकि उनले देखे कि यो सबै त आफ्नो परिवार नै हो। अतः भने–

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

हे कृष्ण! यस युद्धको इच्छाले उभिएका स्वजन समुदायलाई देखेर मेरा अङ्गहरू दुर्बल हुँदै छन्, मुख सुक्नथाल्यो र मेरो शरीरमा कम्पन तथा रोमाञ्च भइरहेछ। यति मात्र होइन–

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

हातबाट गाण्डीव झर्छ, छाला पनि डढिरहेछ। अर्जुनलाई ज्वरो आए जस्तै भयो, दुःखी भयो कि यो कस्तो युद्ध हो जसमा आत्मीयजन नै उभिएका छन्। अर्जुनलाई भ्रम भयो। उनले भने– अब म उभिई रहन पनि आफूलाई असमर्थ पाइरहेको छु, अब अगाडि हेर्ने सामर्थ्य छैन्।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

हे केशव! यस युद्धको लक्षण पनि विपरीत नै देख्छु। युद्धमा आफ्नै कुललाई मारेर परमकल्याण पनि देख्दिन। कुललाई मार्नाले कल्याण कसरी हुनेछ?

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

सम्पूर्ण परिवार युद्धको मुहानमा छन्। यिनीलाई युद्धमा मारेर विजय, विजयमा प्राप्तहुने राज्य र राज्यबाट प्राप्त हुने सुख अर्जुनलाई चाहिंदैन। ऊ

भन्दछ– कृष्ण! म विजय चाहन्न, राज्य तथा सुख पनि चाहन्न। गोविन्द! हामीलाई राज्य तथा भोग अथवा जीवनसँग पनि के प्रयोजन छ? किन? यसबारेमा भन्दछ–

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

हामीलाई जसको लागि राज्य–भोग र सुखादि इच्छित छन्, ती परिवारहरू नै जीवनको आशा त्यागेर युद्धको मैंदानमा उभिएका छन्। हामीले परिवारका लागि राज्य चाहेका थियौं, भोग–सुख र धनको पिपासा आत्मीयजन र परिवारसँग भोग्नको लागि थियो; तर सबै प्राणको आशा त्यागेर उभिएका छन् भने मलाई सुख–राज्य वा भोग चाहिंदैन। यी सबै यिनीहरूका लागि प्रिय थिए। यिनिहरूबाट अलग भएपछि मलाई तिनको आवश्यकता छैन। जबसम्म परिवार रहनेछ, तबसम्म यी वासनाहरू पनि रहने छन्। झुपडीमा बस्नेहरूले पनि आफ्नो परिवार, मित्र र आत्मीयजनलाई मारेर विश्वको साम्राज्य स्वीकार गर्ने छैन। अर्जुनले पनि यही भन्दछ कि मलाई भोग प्रिय थियो, विजय प्रिय थियो; तर जसको लागि थियो, जब उनीहरू नै रहने छैनन् भने भोगहरूको के प्रयोगजन? यस युद्धमा कसलाई मार्नु छ?–

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

यस युद्धमा आचार्य, बाजे, काका, छोराहरू र यसैप्रकार हजुरबुबा, मामा, ससुरा, नाती, साला तथा सम्पूर्ण आफन्त नै हुन्।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

हे मधुसूदन! मलाई मारे पनि अथवा तीनलोककै राज्यको लागि पनि म यी सबैलाई मार्न चाहँदिन; फेरि पृथ्वीको लागि भन्नु के छ र?

अठार अक्षौहिणी सेनामा अर्जुनलाई आफ्नो परिवार नै देखापर्‍यो। यति धेरै आत्मीयजन वास्तवमा के हुन्? वस्तुतः अनुराग नै अर्जुन हो।

भजनको सुरूमा प्रत्येक अनुरागीको अगाडि यस्तै समस्या रहेका हुन्छन्। सबै चाहन्छन् कि हामी भजन गरौं, त्यो परमसत्यलाई पाउन सकौं; तर कुनै अनुभवी सद्गुरुको संरक्षणमा कुनै अनुरागी जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको सङ्घर्षलाई बुझ्दछ कि मैले कोसँग लड्नु छ, तब त्यो हतोत्साहित हुन्छ। त्यो चाहन्छ कि मेरो पिताको परिवार, ससुरालीको परिवार, मामाको परिवार, सुहृद्, मित्र र गुरूजन साथै रहुन्, सबै सुखी रहुन् र यी सबैको व्यवस्था गर्दै हामी परमात्मस्वरूपको प्राप्ति पनि गरूँ; तर जब ऊ बुझ्दछ कि आराधनामा अग्रसर हुनको लागि परिवार छोड्नु पर्नेछ, यी सम्बन्धहरूको मोहलाई त्याग्नु पर्नेछ, तब ऊ व्याकुल हुनलाग्दछ।

पूज्य महाराजज्यूले भन्ने गर्नुहुन्थ्यो- मर्नु र साधु हुनु बराबर हो। साधुका लागि सृष्टिमा अरू कोही जीवित हुन पनि सक्छ; तर आफन्तहरूको नाममा अरू कोही हुँदैन। यदि कोही हुन्छ भने सम्पर्क (लगाउ) हुन्छ, मोह समाप्त कहाँ भयो? जहाँसम्म सम्पर्क छ, त्यसको पूर्ण त्याग, त्यस सम्पर्कको अस्तित्व मेटेर नै उसको विजय हुन्छ। यी सम्बन्धहरूको विस्तार नै त संसार हो, नभए संसारमा हाम्रो के छ र?" **'तुलसीदास कह चिद्‌विलास जग, बूझत बूझत बूझै।' (विनयपत्रिका, १२४)** मनको प्रसार नै जगत् हो। योगेश्वर श्रीकृष्णले पनि मनको प्रसारलाई नै जगत् भनेर सम्बोधित गर्नुभयो। जसले यसको प्रभावलाई रोक्नसक्यो, उसले चराचर संसारलाई नै जित्यो- **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।' (गीता, ५/१९)**

मात्र अर्जुन व्याकुल थियो, यस्तो कुरा होइन। अनुराग सबैको हृदयमा हुन्छ। प्रत्येक अनुरागी अधीर हुन्छ, उसलाई आफन्तको सम्झना हुन थाल्दछ। पहिले ऊ सोच्दथ्यो कि भजनबाट केही लाभ हुनेछ, अनि सबै सुखी हुनेछन्। यिनीहरूसँग रहेर उसलाई भोगौंला। जब यिनीहरू सँगै रहेनन् भने सुख पाएर के गर्ने? अर्जुनको दृष्टि राज्यसुखसम्म मात्र सीमित थियो। त्यो त्रिलोकीको साम्राज्यलाई नै सुखको पराकाष्ठा सम्झन्थ्यो। त्यसको अगाडि पनि कुनै सत्य छ, जसका ज्ञान अर्जुनलाई अहिले छैन।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

हे जनार्दन! धृतराष्ट्रका पुत्रहरूलाई मारेर पनि हामीलाई के खुशी हुनेछ? जहाँ धृतराष्ट्र अर्थात् धृष्टताको राज्य छ, त्यसबाट उत्पन्न मोहरूपी दुर्योधन इत्यादिलाई मारेर पनि हामीलाई के प्रसन्नता हुनेछ? यी उत्पातीहरूलाई मारेर हामीलाई पाप नै लाग्नेछ। जो जीवन-यापनको तुच्छ लाभको लागि अनीति अपनाउँछ, त्यसलाई उत्पाती भनिन्छ; तर वस्तुतः यसभन्दा पनि ठूलो उत्पाती त्यो हो जो आत्माको पथमा बाधा उत्पन्न गर्दछ। आत्मदर्शनमा बाधक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिको समूह नै उत्पाती हो।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

त्यसैले हे माधव! आफ्ना बान्धव धृतराष्ट्रका पुत्रहरूलाई मार्नकालागि हामी योग्य छैनौं। स्व-बान्धव कस्तो? उनीहरू त शत्रु थिए! वस्तुतः शरीरको सम्बन्ध अज्ञानबाट उत्पन्न हुन्छ। यो मामा हो, ससुराल हो, आत्मीयजन हो, यी सबै अज्ञान नै हुन्। जब शरीर नै नश्वर हो, तब यसको सम्बन्ध नै कहाँ रहने छ र? मोह रहेसम्म सुहृद् छन्, हाम्रो परिवार छ, हाम्रो संसार हो। मोह छैन भने केही पनि छैन। यसैले ती शत्रु पनि अर्जुनलाई आत्मीयजन देखापरे। ऊ भन्दछ कि आफ्ना कुटुम्बलाई (आफन्तलाई) मारेर हामी कसरी सुखी हुनेछौं? यदि अज्ञान र मोह छैन भने आफन्तको अस्तित्व नै हुँदैन। यो अज्ञान ज्ञानको प्रेरक पनि हो। भर्तृहरि, तुलसी आदि अनेकौं महानुभावहरूले वैराग्यको प्रेरणा स्वास्नीबाट पाए। कोही सौतेली आमाका व्यवहारबाट खिन्न भएर वैराग्य-पथमा अग्रसर भएका देखिन्छन्।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

यद्यपि लोभबाट भ्रष्टचित्त भएका यी मानिसहरू कुल-नाशको दोष र मित्रद्रोहको पापलाई देख्दैनन्, यो उनीहरूको दुर्बलता हो; तर पनि-

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३९।।

हे जनार्दन! कुलनाशबाट हुने दोषहरूलाई जान्ने हामीहरूले यस पापबाट बच्नको लागि विचार किन नगर्ने? म मात्र पाप गर्छु, यस्तो कुरा होइन, तपाई पनि गलती गर्न गइराख्नुभएको छ– श्रीकृष्णमाथि पनि आरोप लगाए। अहिले ऊ आफूलाई जानकारीमा श्रीकृष्णभन्दा कम ठान्दैन्। प्रत्येक नयाँ साधक सद्गुरुको शरणमा गएपछि यसै प्रकारले तर्क गर्दछ र आफूलाई जानकारीमा कम ठान्दैन्। अर्जुनले पनि यही भन्दछ कि यिनीहरू बरू नसम्झुन्; तर तपाई–हामी त समझदार छौं। कुलनाशको दोषहरूमाथि हामीले विचार गर्नुपर्‍यो। कुलनाशमा दोष के छ?–

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

कुलको नाश भएमा सनातन कुलधर्म नष्ट हुन्छन्। अर्जुनले कुलधर्म, कुलाचारलाई नै सनातन धर्म ठानिरहेका थिए। धर्मको नाश भएपछि सम्पूर्ण कुललाई पापले थिचिदिन्छ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।४१।।

हे कृष्ण! पाप बढी भएपछि कुलका स्त्रीहरू दूषित हुन्छिन्। हे वार्ष्णेय! स्त्रीहरू दूषित भएपछि वर्णसङ्कर जन्मिन्छन्। अर्जुनको मान्यता थियो कि कुलकी स्त्रीहरू दूषित हुनाले वर्णसङ्कर हुन्छ; तर श्रीकृष्णले यसको खण्डन गर्दै अगाडि बताए कि म वा स्वरूपमा स्थित महापुरुषले यदि आराधनाको क्रममा भ्रम उत्पन्न गरिदिएमा, वर्णसङ्कर हुन्छ। वर्णसङ्करको दोषहरूमा अर्जुन प्रकाश पार्छ–

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

वर्णसङ्कर कुलघातिहरू कुललाई नरकमा लिएर जानको लागि नै हुन्छ। लुप्त भएको पिण्डक्रिया गर्ने यिनीहरूका पितृहरू पनि झर्छन्। वर्तमान नष्ट हुन्छ, अतीतका पीतृहरू झर्छन् र भविष्यका पनि झर्नेछन्। यति मात्र होइन–

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

यी वर्णसङ्करकारक दोषहरूद्वारा कुल र कुलघातीहरूको सनातन कुलधर्म र जातिधर्म नष्ट हुन्छन्। अर्जुन मान्दथिए कि कुलधर्म सनातन हो, कुलधर्म नै शाश्वत हो; तर श्रीकृष्णले यसको खण्डन गरे र अगाडि भन्नुभयो कि आत्मा नै सनातन, शाश्वत धर्म हो। वास्तविक सनातन धर्मलाई जान्नुभन्दा पहिले मानिस धर्मको नाममा कुनै न कुनै रूढिलाई जान्दछ। ठीक यसैप्रकार अर्जुन पनि जान्दछ, जुन श्रीकृष्णको शब्दहरूमा एउटा रूढि हो।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

हे जनार्दन! नष्ट भएको कुलधर्मका मानिसहरूका अनन्तकालसम्म नरकमा वास हुन्छ, यस्तो मैले सुनेकोछु। कुलधर्म मात्र नष्ट हुँदैन, बरू शाश्वत सनातन धर्म पनि नष्ट हुन्छ। जब धर्म नै नष्ट भयो भने यस्ता पुरुषको अनन्तकालसम्म नरकमा वास हुन्छ, यस्तो मैले सुनेकोछौ, देखेको छैन।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

अहो! दुःख छ कि हामीहरू बुद्धिमान भएर पनि महान् पाप गर्नको लागि तयार भएका छौं। राज्य र सुखको लोभले आफ्नो कुललाई मार्नको लागि उद्यत भएका छौं।

अहिले अर्जुन आफूलाई कम ज्ञाता मान्दैन। आरम्भमा प्रत्येक साधक यसैप्रकार बोल्दछ। महात्मा बुद्धको कथन छ– "मानिसले जब अधूरो ज्ञान पाउँछ अनि आफूलाई महान् ज्ञानी सम्झन्छ र जब आधीभन्दा अगाडिको ज्ञान प्राप्त गर्नलाग्छ भने आफूलाई महान् मूर्ख सम्झन्छ।" ठीक यसैप्रकार

अर्जुन पनि आफूलाई ज्ञानी नै सम्झन्छ। ऊ श्रीकृष्णलाई नै सम्झाउँछ कि यस पापबाट परमकल्याण हुनेछ, यस्तो कुरा पनि छैन, मात्र राज्य र सुखको लोभमा परेर हामीहरू कुलनाश गर्न उद्यत भएका छौं, महान् भूल गरिरहेका छौं। म मात्र भूल गरिरहेको छु, यस्तो कुरा पनि होइन, तपाई पनि भूल गरिरहनु भएको छ, एक धक्का श्रीकृष्णलाई पनि दिए। अन्त्यमा अर्जुन आफ्नो निर्णय दिन्छ–

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

यदि म शस्त्ररहित, मुकाबिला नगर्नेलाई धृतराष्ट्रका शस्त्रधारी पुत्रले रणमा मारे भने उसको त्यो मार पनि मेरो लागि अतिकल्याणकारी हुनेछ। इतिहासले त भन्नेछ कि अर्जुन बुद्धिमान थियो जसले आफ्नो बलि दिएर युद्धलाई बचायो। मानिसहरूले प्राणको आहुति दिन्छन् कि सोझा–साझा बच्चाहरू सुखी रहुन्, कुल त बाँची रहोस्। मानिस विदेश जाओस्, वैभवपूर्ण प्रासादमा रहोस्, तर दुई दिनपछि उसलाई आफूले छाडेको झुपडीको सम्झना आउन थाल्छ। मोह यति प्रबल हुन्छ। यसैले अर्जुन भन्छ कि धृतराष्ट्रका शस्त्रधारी पुत्रहरू म प्रतिकार नगर्नेलाई रणमा मारे पनि त्यो मेरो लागि अति कल्याणकारी हुनेछ, किनकि बाल–बच्चाहरू त सुखी रहुन्।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४७।।

सञ्जयले भने– रणभूमिमा शोकले उद्विग्न मन भएका अर्जुन यसरी भनेर बाणसहित धनुषलाई त्यागेर रथको पछिल्लो भागमा बसे अर्थात् क्षेत्र–क्षेत्रज्ञको सङ्घर्षमा भाग नलिन पछिहटे।

निष्कर्ष–

गीता क्षेत्र–क्षेत्रज्ञको युद्धको निरूपण अन्वेषण हो। यो ईश्वरीय विभूतिहरूले सम्पन्न भगवत्स्वरूपलाई देखाउने गायन हो। यो गायन जुन क्षेत्रमा हुन्छ, त्यो

युद्ध-क्षेत्र 'शरीर' हो। जसमा दुई प्रवृत्तिहरू छन्- 'धर्मक्षेत्र र कुरुक्षेत्र'। यी सेनाहरूको स्वरूप उनको बलको आधार बतायो, शङ्खध्वनिबाट उनीहरूको पराक्रमको जानकारी भयो। यस पछि जुन सेनासँग लड्नु छ, त्यसको निरीक्षण भयो। जसको गणना अठार अक्षौहिणी (लगभग साढे छः अर्ब) भनिन्छ; तर वस्तुतः उनीहरू अनन्त छन्। प्रकृतिको दृष्टिकोण दुईवटा छन्- एउटा इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति 'दैवी सम्पद्', अर्को बहिर्मुखी प्रवृत्ति 'आसुरी सम्पद्'। दुबै प्रकृति नै हुन्। एउटा इष्टतिर उन्मुख गर्दछ, परमधर्म परमात्मातिर लिएर जान्छ र अर्को प्रकृतिमा विश्वास दिलाउँछ। पहिले दैवी सम्पद्लाई साधेर आसुरी सम्पद्लाई अन्त्य गरिन्छ, अनि शाश्वत सनातन परब्रह्मको दिग्दर्शन र त्यसमा स्थिति सँगै दैवी सम्पद्को आवश्यकता समाप्त हुन्छ, युद्धको परिणाम प्रकाशित हुन्छ।

अर्जुनलाई सैन्य निरीक्षणमा आफ्ना परिवार नै देखिन्छन् जसलाई मार्नु छ। जहाँसम्म नाता छ, त्यति नै संसार हो। अनुरागको पहिलो चरणमा पारिवारिक मोह बाधक बन्छ। साधक जब देख्दछ कि मधुर सम्बन्धहरूबाट यति विच्छेद हुनेछ, जस्तो कि उनीहरू छदै थिएनन्, तब उसलाई अत्यास हुनथाल्छ। स्वजनासक्तिलाई मार्नमा उसलाई खतरा देखिन्छ। ऊ प्रचलित रूढिहरूमा आफ्नो बचाउ खोज्न थाल्छ, जस्तो अर्जुनले गरे। उसले भने- "कुलधर्म नै सनातन हो। यस युद्धमा सनातन धर्म नष्ट हुनेछ, कुलका स्त्रीहरू दूषित हुनेछिन्। वर्णसङ्करको जन्म हुनेछ, जुन कुल र कुलघातीहरूलाई अनन्तकालसम्म नरकमा लैजानको लागि नै हुन्छ।" अर्जुन आफ्नो बुद्धिले 'सनातन धर्म'को रक्षाको लागि व्याकुल छ। उसले श्रीकृष्णसँग अनुरोध गरे कि हामीहरू समझदार भएर पनि यो महान् पाप किन गरौं? अर्थात् श्रीकृष्ण पनि पाप गर्न गइरहनुभएको छ। आखीरमा पापबाट बच्नको लागि 'म युद्ध गर्ने छैन' भन्दै आत्तिएका अर्जुन रथको पछिल्लो भागमा बसे। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको सङ्घर्षबाट पछिहटे।

टीकाकारहरूले यस अध्यायलाई 'अर्जुन-विषाद योग' भनेका छन्। अर्जुन अनुरागको प्रतीक हो। सनातन धर्मको लागि व्याकुल हुने अनुरागीको विषाद योगको कारण बन्दछ। यही विषाद मनुलाई भएको थियो। **'हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।'** (रामचरितमानस, १/

१४२) आशङ्का परेर नै मानिस विषाद गर्दछ। उसलाई शङ्का थियो कि वर्णसङ्कर जन्मिनेछ, जसले नर्कमा लिएर जानेछ। सनातन धर्म नष्ट हुने पनि उसलाई विषाद थियो। अतः 'संशय-विषाद योग' सामान्य नामकरण यस अध्यायको लागि उपयुक्त छ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

अतः यसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवम् ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको संवादमा 'संशय-विषाद योग' नामक प्रथम अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'संशय-विषाद योग' नामको पहिलो अध्याय समाप्त हुन्छ।

।। हरिः ॐ तत्सत् ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

।। अथ द्वितीयोऽध्यायः ।।

दोस्रो अध्याय

प्रथम अध्याय गीताको प्रवेशिका हो, जसको प्रारम्भमा बटुवालाई प्रतीत हुने अपठ्याराहरूका चित्रण छ। लड्नेहरू सबै कौरव र पाण्डवहरू थिए; तर आशङ्काको पात्र मात्र अर्जुन हो। अनुराग नै अर्जुन हो। इष्टको अनुरूप राग नै बटुवालाई क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको सङ्घर्षकोलागि प्रेरित गर्दछ। अनुराग आरम्भिक स्तर हो। पूज्य महाराजज्यू भन्नुहुन्थ्यो- "सद्गृहस्थ आश्रममा रहँदै ग्लानि हुनलागोस्, अश्रुपात् होस्, कण्ठ अवरुद्ध हुनलागोस्। अनि सम्झनु पर्छ कि यहाँबाटै भजन आरम्भ भयो।" अनुरागमा यी सबै कुराहरू आउँछन्। त्यसमा धर्म, नियम, सत्सँग, भाव सबै विद्यमान हुनेछन्।

अनुरागको प्रथम चरणमा पारिवारिक मोह बाधक बन्दछ। पहिले मानिस चाहन्छ कि उसले त्यस परम सत्यलाई प्राप्त गरोस्; तर अघि बढेर ऊ देख्दछ कि यी मधुर सम्बन्धहरूको उच्छेद गर्नु पर्नेछ, तब हताश थाल्छ। ऊ पहिलेदेखि जे-जसो धर्म-कर्म मानेर गर्दथ्यो, त्यतिमा नै सन्तोष गर्न लाग्छ। आफ्नो मोहको पुष्टिकोलागि ऊ प्रचलित रूढिहरूको प्रमाण पनि प्रस्तुत गर्दछ- जस्तै अर्जुनले गरे कि कुलधर्म सनातन हो। युद्धबाट सनातन धर्मको लोप हुनेछ, कुलक्षय हुनेछ, स्वैराचार फैलिने छ। यो अर्जुनको उत्तर थिएन बरू सद्गुरुको सान्निध्यभन्दा पूर्व अँगालेको एउटा कुरीति मात्र थियो।

यिनै कुरीतिहरूमा अल्झिएर मानिसले पृथक्-पृथक् धर्म, विभिन्न सम्प्रदाय, सानो-ठूलो गुट र असंख्य जातिहरूको रचना गर्छन्। कोही नाक थिच्दछन् कोही कान चिर्छन् कसैको स्पर्शले धर्म नष्ट हुन्छ त कतै रोटी-पानीले धर्म नष्ट हुन्छ। अनि के अछूत वा छूनेहरूको दोष हो? कहिल्यै पनि होइन, दोष हाम्रो

भ्रमदाताहरूको हो। धर्मको नाममा हामी कुरीतिका शिकार छौं, यसैले दोष हाम्रो हो।

महात्मा बुद्धको समयमा केश-कम्बल एउटा सम्प्रदाय थियो, जसमा कपाल बढाएर कम्बल जस्तो प्रयोग गर्नुलाई पूर्णताको मानदण्ड मानिन्थ्यो। कोही गोव्रतिक (गाइजस्तो जीवनयापन गर्ने) थिए, त कोही कुक्कुरव्रतिक (कुकुरजस्तो खाने-पिउने, रहनेहरू) थिए, ब्रह्मविद्याको यिनीहरूसँग कुनै सम्बन्ध छैन। सम्प्रदाय र कुरीति पहिले पनि थिए, आज पनि छन्। यसै प्रकार श्रीकृष्णकालमा पनि सम्प्रदाय थिए, कुरीतिहरू थिए। ती मध्ये केही कुरीतिको शिकार अर्जुन पनि थियो। उसले चार तर्क प्रस्तुत गरे- १- यस्तो युद्धबाट सनातन धर्म नष्ट हुनेछ, २- वर्णसङ्कर उत्पन्न हुनेछ, ३- पिण्डोदक क्रिया लुप्त हुनेछ र ४- हामीहरू कुलक्षयद्वारा महान् पाप गर्न उद्यत भएका छौं।

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

सञ्जयले भने- करुणाले व्याप्त, अश्रुपूर्ण व्याकुल आँखा भएका ती अर्जुनप्रति '**मधुसूदन**'- मदलाई विनाश गर्ने भगवान्ले यो वचन भन्नुभयो-

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

अर्जुन! यस विषम स्थानमा तिमीलाई यस्तो अज्ञान कहाँबाट आयो? विषम स्थान अर्थात् जसको बराबरी सृष्टिमा कुनै स्थान छँदैछैन, पारलौकिक छ लक्ष्य जसको, यस्तो निर्विवाद स्थानमा तिमीलाई अज्ञान कहाँबाट भयो? अज्ञान किन? अर्जुन त सनातन धर्मको रक्षाको लागि कटिबद्ध छ। के सनातन धर्मको रक्षाकोलागि प्राणको बाजी लगाएर तत्पर हुनु अज्ञान हो? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- हो, यो अज्ञान हो। न त सम्भावित पुरुषहरूद्वारा यसको आचरण गरिएको छ, यसले न त स्वर्ग नै दिने छ, न यसले कीर्ति नै गर्ने छ। सतमार्गमा जो दृढतापूर्वक

आरूढ छ, उसलाई आर्य भनिन्छ। गीता आर्य संहिता हो। परिवारको लागि मरिमेट्नु यदि अज्ञान हुँदैनथ्यो, भने महापुरुषहरू त्यसमा अवश्य हिडेका हुन्थे। यदि कुलधर्म नै सत्य भएको भए स्वर्ग र कल्याणको निःश्रेणी अवश्य बन्थ्यो। यो कीर्तिदायक पनि होइन। मीराले भजन गर्न लागी तब **'लोग कहे मीरा भई बावरी, सास कहे कुलनाशी रे।'** जुन परिवार, कुल र मर्यादाको लागि मीराकी सासु रोई रहेकी थिइन्, आज त्यो कुलवन्ती सासुलाई कसैले पनि जान्दैन, मीरालाई विश्वले जान्दछ। ठीक यसैप्रकार परिवारको लागि जो परेशान छन् उनको पनि कीर्ति कहिलेसम्म रहनेछ? जसमा कीर्ति छैन, कल्याण छैन, महापुरुषहरूले बिर्सेर पनि जसको आचरण गरेनन्, त सिद्ध छ कि त्यो अज्ञान हो। अतः-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।३।।

अर्जुन! नपुंसक नहोऊ। के अर्जुन नपुंसक थियो? के तपाई पुरुष हुनुहुन्छ? नपुंसक त्यो हो जो पौरुषहीन छ। सबैले आफ्नो बुद्धि अनुसार पुरुषार्थ नै गर्दछन्। किसान रात-दिन रगत-पसीना एक गरेर खेतमा पुरुषार्थ नै त गर्दछ। कोही व्यापारमा पुरुषार्थ सम्झन्छ त कोही पदको दुरूपयोग गरेर पुरुषार्थी बन्दछ। जीवनभरि पुरुषार्थ गरेर पनि रित्तो हात जानुपर्दछ। स्पष्ट छ कि यो पुरुषार्थ होइन। शुद्ध पुरुषार्थ हो 'आत्म-दर्शन'। गार्गीले याज्ञवल्क्यसँग भनिन्-

नपुंसकः पुमान् ज्ञेयो यो न वेत्ति हृदि स्थितम्।
पुरुषं स्वप्रकाशं तस्मानन्दात्मानमव्ययम्।। (आत्म-पुराण)

त्यो पुरुष हुँदा हुँदाहुँदै पनि नपुंसक हो जसले हृदयस्थ आत्मालाई चिन्दैन। त्यो आत्मा नै परुषस्वरूप, स्वयंप्रकाश, उत्तम, आनन्दयुक्त र अव्यक्त छ। उसलाई पाउने प्रयास नै पौरुष हो। अर्जुन! तिमी नपुंसक नबन्। यो तिम्रो लायक छैन। हे परंतप! हृदयको क्षुद्र दुर्बलता त्यागेर युद्धको लागि उठ। आसक्तिलाई त्याग गर। यो हृदयको दुर्बलता मात्र हो। यसमा अर्जुनले तेस्रो प्रश्न प्रस्तुत गरे-

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अहङ्कारलाई शमन गर्ने मधुसूदन! म रणभूमिमा पितामह भीष्म र आचार्य द्रोणसँग कसरी बाणले युद्ध गरूँला, किनकि अरिसूदन! उनीहरू दुबै पूजनीय छन्।

द्वैत नै द्रोण हो। प्रभु बेग्लै छन्, हामी बेग्लै छौं– द्वैतको यो ज्ञान नै प्राप्तिको प्रेरणाको आरम्भिक स्रोत हो। यो नै द्रोणाचार्यको गुरुत्व हो। भ्रम नै भीष्म हो। जबसम्म भ्रम छ, तबसम्म छोरा–छोरी, परिवार, आफन्त सबै आफ्नै लाग्छन्। आफ्नो लाग्नमा भ्रम नै माध्यम हो। आत्मा यिनीहरूलाई पूज्य मानेर यिनीहरूसँग रहन्छ कि यी पिता हुन्, हजुरबुबा हुन्, कुलगुरु हुन् इत्यादि। साधनको पूर्तिकालमा '**गुरु न चेला, पुरुष अकेला।**'

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः।
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।। (आत्मषट्क, ५)

जब चित्त त्यो परम आनन्दमा विलीन हुन्छ, तब न गुरु ज्ञानदाता र न शिष्य ग्रहणकर्ता नै रहन्छ। यही परमका स्थिति हो। गुरुको गुरुत्व पाएपछि गुरुत्व एकजस्तो हुन्छ। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– "अर्जुन! तिमी ममा निवास गर्नेछौ।" जस्तै श्रीकृष्ण उस्तै नै अर्जुन र ठीक उस्तै नै पाउने महापुरुष हुनपुग्छ। यस्तो अवस्थामा गुरुको पनि विलय हुन्छ। गुरुत्व हृदयमा प्रवाहित हुन्छ। अर्जुन गुरूपदलाई ढाल बनाएर यस सङ्घर्षमा प्रवृत्त हुन् आलटाल गर्नथाल्छ। ऊ भन्दछ–

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

यी महानुभाव गुरुजनहरूलाई न मारीकन म यस लोकमा भिक्षाको अन्नलाई नै श्रेयस्कर सम्झन्छु। यहाँ भिक्षाको अर्थ उदर–पोषणको लागि भीखमाँग्नु

होइन बरू सत्पुरुषको अलिकति सेवाद्वारा उहाँबाट कल्याणको याचना नै भिक्षा हो। **'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।'** (तैत्तिरीय०उप० भृगुवली ३/२/१) अन्न एकमात्र परमात्मा हो जसलाई प्राप्त गरेर आत्मा सधैंको लागि तृप्त हुन्छ। कहिले पनि अतृप्त हुँदैन। हामी महापुरुषको सेवा र याचनाद्वारा विस्तारै-विस्तारै ब्रह्म-पीयूष प्राप्त गर्न सकौं; तर यो परिवार पनि नछुटोस्, यो नै अर्जुनको भिक्षान्नको कामना हो। संसारमा अधिकांश मानिसहरू यस्तै गर्छन्। उनीहरू चाहन्छन् कि पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धलाई मार्न नपरोस् र मुक्ति पनि विस्तारै-विस्तारै मिलोस; तर हिड्ने बटुवाका लागि जसको संस्कार यसभन्दा माथि छ, जसमा सङ्घर्षको क्षमता छ, स्वभावमा क्षत्रियत्व प्रवाहित छ, उसको लागि यस भिक्षान्नको विधान छैन। स्वयं नगरेर याचना गर्नु भिक्षान्न हो। गौतम बुद्धले पनि मज्झिम निकायको धम्मदयाद सुत्त (१/१/३)मा यस भिक्षालाई आमिषदायाद भनेर हेला गरेको छन् जबकि शरीर-निर्वाहको दृष्टिले सबै भिक्षु थिए।

यी गुरुजनहरूलाई मारेर के पाइने छ? यस लोकमा रगतमा मुछिएको अर्थ र कामको भोग नै त भोग्न पाइने हो। अर्जुन कदाचित् सोच्दथे कि भजनबाट भौतिक सुखहरूको मात्रामा अभिवृद्धि हुनेछ। यति सङ्घर्ष बेहोरिसकेपछि पनि यस शरीरको पोषक अर्थ र कामको भोग नै त पाइने हो। ऊ पुनः तर्क दिन्छ-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

यो पनि निश्चित छैन कि त्यो भोग पाइन्छ नै। म यो पनि बुझ्दिन कि मेरो लागि के गर्नु श्रेयस्कर छ; किनकि जे जति मैले भने त्यो अज्ञान प्रमाणित भयो। यो पनि ज्ञात छैन कि हामी जित्नेछौं वा उनीहरू जित्नेछन्। जसलाई मारेर हामी बाँच्न पनि चाहँदैनौं, तिनै धृतराष्ट्रका पुत्र हाम्रो सामुने उभिएका छन्। अज्ञानरूपी धृतराष्ट्रबाट उत्पन्न मोह इत्यादि स्वजन समुदाय समाप्त नै हुनेछन् भने हामी बाँचेर के गर्नेछौं? अर्जुन फेरि सोच्दछ कि जे जति मैले भनें, कदाचित् त्यो पनि अज्ञान हुनसक्छ, अतः प्रार्थना गर्दछ-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

कायरताको दोषबाट नष्ट स्वभाव भएको, धर्मको विषयमा बिल्कुल मोहित चित्त भएको म तपाईसँग सोद्धछु, जे जसो निश्चित परमकल्याणकारी छ त्यो साधन मेरो लागि भन्नुस्। म तपाईको शिष्य हुँ, तपाईको शरणमा छु, मलाई सम्हाल्नुस्। मात्र शिक्षा न दिनुस्, बरू जहाँ लडबडाउँछु त्यहाँ समात्नुस्। "लाद दे लदाय दे और लदानेवाले साथ चले। कदाचित् रास्ते में गट्ठर गिर पड़ेगा तो कौन लदवायेगा"– यस्तै समर्पण अर्जुनको छ।

यहाँ अर्जुनले पूर्ण समर्पण गरिदिए। अहिलेसम्म ऊ श्रीकृष्णलाई आफ्नै स्तरको सम्झन्थे, अनेकौं विद्यामा आफूलाई केही अगाडि नै मान्दथे। यहाँ उनले आफ्नो बागडोर श्रीकृष्णलाई वस्तुतः अर्पण गरिदिए। सद्गुरु पूर्तिपर्यन्त हृदयमा रहेर साधकसँग हिड्छ। यदि उहाँ साथमा रहेन् भने साधक पार हुन सक्दैन। युवती छोरीको परिवारले जसरी विवाहसम्म उसलाई संयमको शिक्षा दिंदै बचाएर लिएर जान्छन्, ठीक त्यसैप्रकार सद्गुरु आफ्नो शिष्यको अन्तरात्मादेखि रथी भएर उसलाई प्रकृतिको अपठ्याराहरूबाट निकालेर पार गरिदिन्छन्। अर्जुन निवेदन गर्छ कि हे प्रभु एउटा कुरा अझै छ–

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

भूमिमाथि निष्कण्टक धन–धान्यसम्पन्न राज्यको र देवताहरूको स्वामी इन्द्रपदलाई पाएर पनि म त्यो उपायलाई हेर्दिन जो मेरो इन्द्रियहरूलाई सुकाई शोकलाई मेटाउन सकोस्। जब शोक छँदै छ भने यो सबै लिएर नै म के गर्नेछु? यदि यति मात्र पाउनु छ भने क्षमा गर्नुस्। अर्जुनले सोचे, अब यसका अगाडि भन्ने पनि के होला?–

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

सञ्जयले भने– हे राजन्! मोहनिशाजयी अर्जुनले हृदयका सर्वज्ञ श्रीकृष्णसँग यो भने कि 'गोविन्द! म युद्ध गर्ने छैन।' चुप लागे। अहिलेसम्म अर्जुनको दृष्टि पौराणिक छ जसमा कर्मकाण्डहरूको साथ भोगहरूको उपलब्धिको विधान छ, जसमा स्वर्ग नै सबैथोक मानिन्छ– जसमा श्रीकृष्ण प्रकाश पार्नुहुनेछ कि यो विचारधारा पनि गलत छ।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

त्यसपछि हे राजन्! अन्तर्यामी योगेश्वर श्रीकृष्णले दुबै सेनाहरूका बीचमा त्यस शोकयुक्त अर्जुनलाई हाँस्दै यो वचन भन्नुभयो–

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

अर्जुन! तिमी शोक नगर्ने योग्यहरूको लागि शोक गर्छौ र पण्डितहरूको जस्तै वचन भन्छौ, तर बुद्धिसम्पन्न पण्डितजन जसका प्राण गइसक्यो उसको लागि तथा जसको प्राण गएको छैन उसको लागि पनि शोक गर्दैनन्, किनकि उनीहरू पनि मर्नेछन्। तिमी पण्डितहरू जस्तो कुरा गर्छौ वस्तुतः ज्ञाता होइनौं; किनकि–

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

हुनत यस्तो पनि छैन कि म अथवा सद्गुरु कुनै समयमा थिएन अथवा तिमी अनुरागी अधिकारी अथवा **'जनाधिपाः'**– राजाहरू अर्थात् राजसी वृत्तिमा पाइने अहं थिएन र यस्तो पनि छैन कि अगाडि हामी सबै रहनेछैनौं। सद्गुरु सधैं रहनेछन्, अनुरागी सधैं रहनेछन्। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्णले योगको अनादितामाथि

प्रकाश पार्नुहुँदै भविष्यमा पनि उसको विद्यमानतामा जोड दिनुभयो। मर्नेहरूकोलागि शोक नगर्नका लागि कारण बताउँदै वहाँले भन्नुभयो-

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

जुन प्रकारले जीवात्माको यस शरीरमा कुमार, युवा र बुद्धावस्था हुन्छ, त्यसैप्रकार अर्को-अर्को शरीरको प्राप्तिमा धीर पुरुष मोहित हुँदैनन्। कुनै बेला तपाई बालक हुनुहुन्थ्यो, विस्तारै-विस्तारै युवा हुनुभयो, त्यसपछि तपाई मर्नु त भएन? फेरि बृद्ध हुनुभयो, पुरुष एउटै छ; त्यसैप्रकार अलिकति पनि फाटो नयाँ शरीरको प्राप्तिमा हुँदैन। कलेवरको यो परिवर्तन तबसम्म चल्नेछ, जबसम्म परिवर्तनभन्दा परको वस्तु प्राप्त नहोओस्।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

हे कुन्तीपुत्र! सुख-दुःख, सर्दी र गर्मी दिने इन्द्रियहरू र विषयहरूको सँयोग नै अनित्य छन्, क्षणभङ्गुर छन्। अतः भरतवंशी अर्जुन! तिमी यसको त्याग गर। अर्जुन इन्द्रिय र विषयको सँयोगजन्य सुखको स्मरण गरेर नै विकल थिए। कुलधर्म, कुलगुरुहरूको पूज्यता इत्यादि इन्द्रियहरूको लगाउ अन्तर्गत छन्। यी क्षणिक हुन्, झूठो हुन्, नाशवान् हुन्। विषयहरूको सँयोग सधै पाइने छैन र न सधैं इन्द्रियहरूमा क्षमता नै रहनेछन्। अतः अर्जुन! तिमी यसलाई त्याग, सहन गर। किन? के हिमालयको लडाई थियो जसमा अर्जुनले जाडो सहनु पर्थ्यो? अथवा के यो मरुभूमिको लडाई हो जसमा अर्जुनले गर्मी सहनु पर्थ्यो? 'कुरुक्षेत्र' जस्तो कि मानिसहरू बाहिर भन्दछन् समशीतोष्ण स्थल हो। जम्मा अठार दिन त युद्ध भयो, यतिकैमा जाडो-गर्मी कता बितिसक्यो? वस्तुतः सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख, मान-अपमानलाई सहन गर्नु एउटा योगीमा निर्भर गर्दछ। यो हृदय-देशको युद्धको चित्रण हो, यहाँ बाहिरी युद्धको लागि गीताले भन्दैन। यो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको सङ्घर्ष हो, जसमा आसुरी सम्पद्लाई बिल्कुल शान्त गरी परमात्मामा स्थिति दिलाएर दैवी सम्पद् पनि शान्त हुन्छ। जब विकार नै हुदैन भने सजातीय प्रवृत्तिहरूले कसमाथि आक्रमण गरून्? अतः पूर्णत्वको साथै

उनीहरू पनि शान्त हुन्छन्, योभन्दा पहिले होइन। गीता अन्तर्देशको युद्धको चित्रण हो। यस त्यागबाट के पाइने? यसबाट लाभ के छ? यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

किनकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख–सुखलाई समान ठान्ने जुन धीर पुरुषलाई इन्द्रिय र विषयहरूको सँयोगले व्यथित गर्न पाउदैन्, त्यो मृत्युभन्दा पर अमृतत्व प्राप्तिको योग्य हुन्छ। यहाँ श्रीकृष्णले एउटा उपलब्धि 'अमृत'को चर्चा गर्नुभयो। अर्जुन सोच्दथे कि युद्धको परिणाममा स्वर्ग पाइने वा पृथ्वी; तर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि न स्वर्ग र न पृथ्वी, बरू अमृत पाइनेछ। अमृत हे हो?–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अर्जुन! असत् वस्तुको अस्तित्व छैन, त्यो छँदैछैन, त्यसलाई रोक्न सकिंदैन र सत्यको तीनवटै कालमा अभाव छैन, त्यसलाई समाप्त गर्न सकिन्न। अर्जुनले सोधे– के भगवान् हुने नाताले तपाई भन्नुहुन्छ? श्रीकृष्णले बताउनुभयो– म त भनी नै रहेको छु, यी दुबैको अन्तर मसँग–सँगै तत्त्वदर्शीहरूद्वारा पनि देखिएको छ। श्रीकृष्णले त्यही सत्यलाई दोहोऱ्याउनु भयो जुन तत्त्वदर्शीहरूले कुनै बेला देखेका थिए। श्रीकृष्ण पनि एउटा तत्त्वदर्शी महापुरुष हुनुहुन्थ्यो। परमतत्व परमात्माको प्रत्यक्ष दर्शन गरेर त्यसमा स्थित भएकाहरू तत्त्वदर्शी कहलाउँछन्। सत् र असत् के हुन्? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ–

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

नाशरहित त त्यो हो, जसमा यो सम्पूर्ण जगत् व्याप्त छ। यस '**अव्ययस्य**'– अविनाशीलाई विनाश गर्न कोही समर्थ छैन; तर यो 'अविनाशी', 'अमृत'को नाम के हो? त्यो को हो?

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अविनाशी, अप्रमेय, नित्यस्वरूप आत्माका यी सबै शरीर नाशवान् भनिएका छन्। यसैले भरतवंशी अर्जुन! तिमी युद्ध गर। आत्मा नै अमृत हो, आत्मा नै अबिनशी हो, जसको तीनटै कालमा नाश हुँदैन। आत्मा नै सत् हो। शरीर नाशवान् हो, यो नै असत् हो, जसको तीनटै कालमा अस्तित्व छैन।

'शरीर नाशवान् छ, यसैले तिमी युद्ध गर'– यस आदेशबाट यो स्पष्ट हुँदैन कि अर्जुन मात्रले कौरवलाई मारुन्। पाण्डवपक्षमा पनि शरीर नै उभिएका थिए। के पाण्डवको शरीर अविनाशी थियो? यदि शरीर नाशवान् हो भने श्रीकृष्ण कसको रक्षामा उभिनुभएको थियो? के अर्जुन कुनै शरीरधारी थियो? शरीर जो असत् छ, जसको अस्तित्व छैन, जसलाई रोक्न सकिंदैन, के श्रीकृष्ण त्यही शरीरको रक्षामा उभिनुभएका छन्? यदि यस्तो हो भने उनी पनि अविवेकी र मुर्ख छन्; किनकि अगाडि श्रीकृष्ण आफै भन्नुहुन्छ कि जो मात्र शरीरको लागि बाँच्दछ, श्रम गर्छ, त्यो अविवेकी र मुर्खबुद्धि हो। त्यो पापायु पुरुष व्यर्थ बाँच्दछ। ३/१३ अन्ततः अर्जुन को थियो?

वस्तुतः अनुराग नै अर्जुन हो। अनुरागीका लागि इष्ट सधैं रथीबनेर साथै रहन्छ। सखाजस्तो उसको मार्गदर्शन गर्छ। तपाई शरीर हुनुहुन्न। शरीर त आवरण हो, बस्ने घर हो। त्यसमा बस्ने अनुरागपूर्ण आत्मा हो। भौतिक युद्ध, मार्नु-काट्नुले शरीरको अन्त्य हुँदैन। यो शरीर छुट्नेछ अनि आत्माले अर्को शरीर धारणा गर्नेछ। यसै सन्दर्भमा श्रीकृष्णले भनिसक्नु भएको छ कि जसरी बाल्यकालबाट युवा वा बृद्धावस्था आउँछ, त्यसै प्रकार शरीरान्तरको प्राप्ति हुन्छ। शरीर काटेपछि जीवात्माले नयाँ वस्त्र फेर्नेछ।

शरीर संस्कारहरूमा आश्रित छ र संस्कार मनमा आधारित छ। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'** (पंचदशी, ५/६०) मनको बिल्कुल निरोध हुनु, अचल-स्थिर रहनु र अन्तिम संस्कारको विलय एउटै क्रिया हो। संस्कारहरूको सतह टुट्नु नै शरीरको अन्त्य हो। यसलाई टुटाउन तपाईले आराधना गर्नु पर्नेछ, जसलाई श्रीकृष्णले 'कर्म' वा निष्काम कर्मयोगको संज्ञा दिनुभएको छ। श्रीकृष्णले ठाउँ-ठाउँमा अर्जुनलाई युद्धको प्रेरणा दिनुभयो; तर एउटा पनि श्लोक यस्तो छैन जसले भौतिक युद्ध वा मारकाटको समर्थन गर्छ। यो युद्ध सजातीय र विजातीय प्रवृत्तिहरूको हो, अन्तर्देशमा छ।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

जसले यस आत्मालाई मर्नेयोग्य मान्छन तथा जसले यस आत्मालाई मरेको ठान्दन्छ, ती दुबैले नै आत्मालाई जान्दैनन्; किनकि यो आत्मा न त मर्छ र न मारिन्छ नै फेरि यसैमा जोर दिनुहुन्छ–

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

यो आत्मा कुनै कालमा न जन्मिन्छ र न मर्छ, किनकि यसले वस्त्र नै फेरि रहन्छ। न यो आत्मा भएर अरू केही हुनेछ; किनकि यो अजन्मा हो, नित्य छ, शाश्वत र पुरातन छ। शरीर नष्ट भए पनि यो नष्ट हुँदैन्। आत्मा नै सत्य हो, आत्मा नै पुरातन हो, आत्मा नै शाश्वत हो, सनातन हो। तपाई को हुन्नुहुन्छ? शाश्वत धर्मको उपासक। शाश्वत को हो? आत्मा। अर्थात् हामी–तपाई आत्माको उपासक हौं। यदि तपाई आत्मिक पथलाई जान्नु हुन्न भने तपाईसँग शाश्वत–सनातन नामको कुनै वस्तु छैन। उसको लागि तपाईलाई चाहना छ भने प्रत्यशी अवश्य हुनुहुन्छ; तर सनातनधर्मी हुनु हुन्न, सनातन धर्मको नाममा कुनै कुरीतिको शिकार हुनुहुन्छ।

देश–विदेशमा, मानव मात्रमा आत्मा एकैजस्तो छ। यसैले विश्वमा कहीं पनि कसैले आत्माको स्थिति दिलाउने क्रिया जान्दछ र त्यसमा हिड्नको लागि प्रयत्नशील छ भने ऊ सनातनधर्मी हो; चाहे ऊ आफूलाई ईसाई, मुसलमान, यहूदी वा केही पनि किन न भनोस्।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

पार्थिव शरीरलाई रथ बनाएर ब्रह्मरूपी लक्ष्यमा अचूक निशाना लगाउने पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष यस आत्मालाई नाशरहित, नित्य, अजन्मा र अव्यक्त ठान्दछ, त्यो पुरुषले कसरी कसैलाई मार्छ? अविनाशीको विनाश असम्भव छ,

अजन्मा जन्म लिंदैन, अतः शरीरको लागि शोक गर्नु हुँदैन। यसैलाई उदाहरणद्वारा स्पष्ट गर्नुहुन्छ–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

जस्तै मानिस '**जीर्णानि वासांसि**'– जीर्ण-शीर्ण पुराना वस्त्रहरू त्यागेर नयाँ वस्त्रहरू ग्रहण गर्दछ, ठीक त्यसैप्रकार यो जीवात्मा पुरानो शरीरलाई त्यागेर अर्को नयाँ शरीर धारण गर्दछ। जीर्ण भएपछि नै नयाँ शरीर धारण गर्नुछ भने शिशु किन मर्छ? यो वस्त्र त अझै विकसित हुनुपर्ने। वस्तुतः यो शरीर संस्कारहरूमा आधारित छ। संस्कार जीर्ण भएपछि शरीरको त्याग हुन्छ। यदि संस्कार दुई दिनका हुन् भने अर्को दिन नै शरीर जीर्णभयो। यसपछि मानिस एक क्षण पनि बढी बाँच्दैन। संस्कार नै शरीर हो। आत्मा संस्कारहरूको अनुसार नयाँ शरीर धारण गर्दछ। '**अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।**' (**छान्दोग्योपनिषद्, ३/१४**) अर्थात् यो पुरुष निश्चय नै संकल्पमय हो। यसलोकमा पुरुषको जस्तो निश्चय हुन्छ, त्यस्तो नै यहाँबाट मरेर गएपछि हुन्छ। आफ्नो संकल्पले बनाएका शरीरहरूमा पुरुष उत्पन्न हुन्छ। यसप्रकार मृत्यु शरीरको परिवर्तन मात्र हो, आत्मा मर्दैन। फेरि यसको अजरता-अमरतामा बल दिनुहुन्छ–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अर्जुन! यस आत्मालाई शस्त्रादिले काट्दैन, अग्नि यसलाई डढाउन सक्दैन, पानी यसलाई भिजाउन सक्दैन र न वायुले यसलाई सुकाउन सक्छ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

यो आत्मा अच्छेद्य छ– यसमा प्वाल पार्न सकिंदैन, यो अदाह्य छ यसलाई डढाउन सकिंदैन, यो अक्लेद्य छ यसलाई भिजाउन सकिंदैन, आकाशले

यसलाई आफुमा समाहित गर्न सक्दैन। यो आत्मा निःसन्देह अशोष्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने र सनातन छ।

अर्जुनले भनेका थिए कि कुलधर्म सनातन हो। यस्तो युद्ध गर्नाले सनातन धर्म नष्ट हुन्छ; तर श्रीकृष्णले यसलाई अज्ञान माने र आत्मालाई नै सनातन बताउनु भयो। तपाई को हुनुहुन्छ? सनातन धर्मको अनुयायी। सनातन के हो? आत्मा। यदि तपाई आत्मासम्मको दूरी पार गर्ने विधि-विशेषबाट अवगत हुनुहुन्न भने तपाई सनातन धर्म जान्नु हुन्न। यसको कुपरिणाम साम्प्रदायिकतामा फँसेका धर्मभीरु मानिसहरूलाई भोग्न परिराखेको छ। मध्यकालीन भारतमा बाहिरबाट आउने मुसलमानहरू मात्र १२ हजार थिए आज २८ करोड छन्। १२ हजारदेखि बढेर लाखौ हुन सक्थे, बढी भन्दा बढी करोडको लगभग हुनसक्थे अरू कति हुनसक्थे? यो २८ करोडबाट पनि बढ्दै छन्। सबै हिन्दू नै हुन्, तपाईको सहोदर भाई हुन्, जो छुनु र खानुले नष्ट भए। उनीहरू नष्ट भएनन् बरू उनको सनातन, अपरिवर्तनशील धर्म नष्ट भैसके।

जब मैटर (Matter) क्षेत्रमा जन्मलिने कुनै पनि वस्तु यस सनातनलाई स्पर्श गर्न सक्तैन भने छुनु-खानुले सनातन धर्म नष्ट कसरी हुनसक्छ? यो धर्म होइन, एउटा कुरीति-परिस्थिति थियो, जसले भारतमा साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ्यो, देशको विभाजन भयो र राष्ट्रिय एकताको लागि आज पनि समस्या बनेको छ।

यो कुरीतिहरूका कथानक इतिहासमा प्रशस्त मात्रामा भरिएका छन्। हमीरपुर जिल्लामा पचास-साठी परिवार कुलीन क्षत्रिय (क्षेत्री) थिए, आज उनीहरू सबै मुसलमान हुन्। उनीहरूमा न तोपको र न तरवारको हमला भयो। भयो के? आधीरातमा एक-दुइजना मौलवी त्यस गाउँको एकमात्र इनारको छेउमा लुके कि कर्मकाण्डी ब्राह्मण सबभन्दा पहिले यहाँ नुहाउन आउने छ। त्यहाँ पुग्ने बित्तिकै उनीहरूले त्यसलाई समात्यो र मुख बन्द गरिदिए। उहाँको सामुन्ने त्यस इनारबाट पानी झिके, मुख लगाएर पानी खाए र बचेको पानी इनारभित्र हालिदिए, रोटीको एउटा टुक्रा पनि हालिदिए। पंडितज्यू हेरिरहे, विवश थिए। त्यसपछि पंडितज्यूलाई पनि साथै लिएर उनीहरू गए। आफ्नो घरमा उसलाई बन्द गरिदिए।

अर्को दिन उनीहरूले हात जोरेर पंडितज्यूसँग भोजनको लागि निवेदन गरे, तब उनी रिसाए- अरे! तिमी यवन हौ म ब्राह्मण, अनि कसरी खाऊँ? उनीहरूले भने- 'महाराज! हामीलाई तपाई जस्तो विचारवान् मान्छेहरूको ठूलो आवश्यकता छ। क्षमा गर्नुस्।' पंडितज्यूलाई छोडिदिए।

पंडितज्यूले आफ्नो गाउँ आए। देखे, मानिसहरू इनारको प्रयोग पूर्ववत् गर्दै थिए। उनी अनशन गर्न थाले। मान्छेहरूले कारण सोधे, तब भने- "यवन यस इनारको चौतारीमाथि चढेको थियो। मेरो अगाडी उनीहरूले यस इनारलाई जुठो गरिदिए र यसमा रोटीको टुक्रा पनि हालिदिए।" गाउँका मान्छेहरू स्तब्ध भए, सोधे- "अब के हुनेछ?" पंडितज्यूले भने- "अब के हुने? धर्म त नष्ट भयो।"

त्यस बेला मान्छेहरू शिक्षित थिएनन्। थाहा छैन कहिलेदेखि स्त्रीहरू र शूद्रहरूबाट पढ्ने अधिकार खोसिएको थियो। वैश्यले धनोपार्जन गर्नु नै आफ्नो धर्म मानेका थिए। क्षत्रिय चारणहरूको प्रशस्ति गायनमा मस्त थिए कि अन्नदाताको तरवार टल्केपछि बिजुली चम्कन लाग्थ्यो, दिल्लीको सिंहासन हल्लिन लाग्थ्यो। सम्मान त्यसरी नै प्राप्त थियो भने पढ्ने किन? धर्मसँग उनीहरूलाई के लिनु-दिनु थियो र? धर्म मात्र ब्राह्मणहरूको वस्तु बनेर रहेको थियो। उनीहरू नै धर्मसूत्रहरूका रचयिता, व्याख्याकार र उनीहरू नै झुठो-साँचोको निर्णायक थिए; जबकि प्राचीनकालमा स्त्रीहरू, वैश्यहरू, क्षत्रियहरू र ब्राह्मणहरू सबैलाई वेद पढ्ने अधिकार थियो। प्रत्येक वर्णका ऋषिहरूले वैदिक मन्त्रहरूको रचना गरेका छन्, शास्त्र-निर्णयमा भाग लिएका छन्। प्राचीन राजाहरूले धर्मको नाममा अडम्बर गर्नेलाई दण्ड दिए, धर्मपरायणहरूलाई समादर गरेका थिए। तर मध्यकालीन भारतमा सनातन धर्मको यथार्थ जानकारी (ज्ञान) न राखेकोले उपरोक्त गाउँलेहरू भेडाजस्तै एउटा कुनामा उभिंदै गए कि धर्म नष्टभयो। कति मानिसहरूले यस्तो अप्रिय शब्द सुनेर आत्महत्या गरे; तर सबै जना कहाँसम्म प्राणान्त गर्थे। अटूट श्रद्धा भए पनि विवश भएर अरू समाधान खोज्नु पर्‍यो। आज पनि उनीहरू बाँस गाडेर, मूसल राखेर हिन्दूहरूको जस्तै विवाह गर्दछन्, एउटा मौलवी निकाह पढाएर जान्छ। ती सबै शुद्ध हिन्दू हुन्, सबै मुसलमान बने।

भएको के थियो? पानी पिएका थिए, अनजानमा मुसलमानहरूले छोएको खाएका थिए। यसैले धर्म नष्ट भयो। धर्म त छुईमुई (लाजवन्ती) जस्तै भयो। यो लाजवन्ती एउटा विरुवा हो, तपाईले छोएमा पातहरू खुम्चिन्छन्, हात झिक्ने बितिकै फेरि विकसित हुन्छ। यो विरुवा त हात हटाएपछि विकसित हुन्छ; तर धर्म त यस्तो निन्याउरो भयो कि कहिलै पनि विकसित नै भएन। उनीहरू मरे– सधैंको लागि उसको राम–कृष्ण र परमात्मा मरे। जो शाश्वत थिए, उनीहरू मरे। वास्तवमा त्यो शाश्वतको नाममा कुनै कुरीति थियो, जसलाई मानिसहरूले धर्म मानेका थिए।

धर्मको शरणमा हामी किन जान्छौं? किनकि हामी मरणधर्मा (मर्ने–बाँच्ने) हौं र धर्म कुनै ठोस चीज हो, जसको शरणमा गएर हामी पनि अमर हुन्छौं। हामी त मारेपछि मर्नेछौं र यो धर्म मात्र छुनु र खानुले मर्नेछ, अनि त यसले हाम्रो के रक्षा गर्नेछ? धर्मले त तपाईको रक्षा गर्छ, तपाईभन्दा शक्तिशाली छ। तपाई तरवारबाट मर्नुहुन्छ तर धर्म? त्यो छोएदेखि नष्टभयो। कस्तो छ तपाईको धर्म? कुरीतिहरू नष्ट हुन्छन् न कि सनातन। सनातन त यस्तो ठोस वस्तु हो, जसलाई शास्त्रले पनि काट्न सक्दैन, अग्निले जलाउन सक्दैन, पानीले पनि गिलो पार्न सक्दैन। खानु–पिउनु त टाढाको कुरा, प्रकृतिमा उत्पन्न हुने कुनै पनि वस्तुले उसको स्पर्श नै गर्न सक्दैन भने त्यो सनातन नष्ट कसरी भयो?

यस्तै कुरीतिहरू अर्जुनकालमा पनि थिए। उसको शिकार अर्जुन पनि थियो। उसले विलाप गर्दै भने कि कुलधर्म सनातन हो। युद्धबाट सनातन धर्म नष्ट हुनेछ। कुलधर्म नष्ट भएमा हामी अनन्तकालसम्म नरकमा जानेछौं। तर श्रीकृष्णले भन्नुभयो– "तिमीलाई यस्तो अज्ञान कहाँबाट उत्पन्न भयो?" प्रमाणित छ कि त्यो कुनै कुरीति थियो, त्यसैबेला श्रीकृष्णले उसको निराकरण गरेर भन्नुभयो कि आत्मा नै सनातन हो। यदि तपाई आत्मिक पथलाई जान्नु हुन्न भने सनातन धर्ममा तपाईको प्रवेश अहिलेसम्म भएको छैन।

जब यो सनातन–शाश्वत आत्मा सबैमा व्याप्त छ भने खोज्ने कसलाई? यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

यो आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियहरूको विषय होइन, इन्द्रियहरूद्वारा यसलाई सम्झन सकिंदैन। जबसम्म इन्द्रिय र विषयको सँयोग रहन्छ तबसम्म आत्मा त छ; तर त्यसलाई बुझ्न सकिंदैन। त्यो अचिन्त्य हो। जबसम्म चित्त र चित्तको लहर रहन्छ, तबसम्म त्यो शाश्वत त छ; तर हाम्रो दर्शन, उपभोग र प्रवेशको लागि होइन। अतः चित्तलाई निरोध गर्नुस्।

पहिले श्रीकृष्णले भन्नु भएको छ कि असत् वस्तुको अस्तित्व छैन र सत्को तीनटै कालमा अभाव छैन। त्यो सत्य हो आत्मा। आत्मा नै अपरिवर्तनशील, शाश्वत र अव्यक्त छ। तत्वदर्शीहरूले आत्मालाई यिनै विशेष गुणधर्मले पूर्ण देखे। न त दस भाषाको जानकारले देख्यो, न कुनै समृद्धिशालीले देख्यो; बरू तत्वदर्शीहरूले देखे। श्रीकृष्णले अघि भन्नुभयो, तत्व परमात्मा हो। मनको निरोधकालमा साधकले उसको दर्शन र त्यसमा प्रवेश पाउँछ। प्राप्तिकालमा भगवान् पाइन्छन् र अर्को क्षण त्यसले आफ्नो आत्मालाई ईश्वरीय गुणधर्मबाट विभूषित देख्दछ। त्यसले हेर्छ कि आत्मा नै सत्य, सनातन र परिपूर्ण छ। यो आत्मा अचिन्त्य हुन्छ। यो विकाररहित अर्थात् अपरिवर्तनशील कहलाउँछ। अतः अर्जुन ! आत्मालाई यस्तो जानेर तिमी शोक गर्ने योग्य होइन। अब श्रीकृष्ण अर्जुनको विचारहरूमा विरोधाभास देखाउँदै हुनुहुन्छ, जुन सामान्य तर्क हो–

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

यदि तिमी यसलाई सधैं जन्मलिने र सधैं मर्ने मान्दछौं तापनि तिमीले शोक गर्नु हुदैन; किनकि–

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

यस्तो मानिए पनि जन्मलिनेको निश्चित मृत्यु र मर्नेहरूको निश्चित जन्म सिद्ध हुन्छ। यसैले तिमी बिना उपाय भएको यस विषयमा शोक गर्ने योग्य छैनौं। जसको कुनै उपचार छैन, उसको लागि शोक गर्नु एउटा अरू दुःखलाई आमन्त्रित गर्नु हो।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणि जन्मनु भन्दा पहिले बिना शरीर भएका र मरेपछि पनि बिना शरीर भएका छन्। जन्मको पूर्व र पश्चात् पनि देखिंदैन, मात्र जन्म-मृत्युको बीचमात्र शरीर धारण गरेको देखिन्छन्। अतः यस परिवर्तनको लागि व्यर्थको चिन्ता गर्दछौं? यस आत्मालाई कसले देख्छ? यसमा भन्नुहुन्छ-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

अघि श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो कि यस आत्मालाई तत्वदर्शीहरूले देखेका छन्; अब तत्वदर्शनको दुर्लभतामा प्रकाश पार्नुहुन्छ कि कोही विरलै महापुरुष नै यस आत्मालाई आश्चर्य जस्तो देख्छ। सुन्दैन, प्रत्यक्ष देख्छ र त्यस्तै अर्को कुनै महापुरुषले नै आश्चर्य जस्तो यसको तत्वलाई भन्दछ। जसले देखेको छ, त्यसैले यथार्थ भन्न सक्छ। अर्को कुनै विरलै साधक यसलाई आश्चर्य जस्तो सुन्छ। सबैले सुन्दा पनि सुन्दैन; किनकि यो अधिकारीको लागि नै हो। हे अर्जुन! कोही-कोही त सुनेर पनि यस आत्मालाई जान्दैनन्; किनकि साधना गर्न सक्दैनन्। तपाई लाख ज्ञानका कुरा सुन्नोस्, बुझ्नु होस्, टुप्पी कसेर बुझ्नोस्, लालायित पनि रहनोस्, तर मोह धेरै प्रबल छ, केही समय पछि नै तपाई आफूलाई सांसारिक व्यवहारहरूमा लिप्त पाउनु हुनेछ।

अन्त्यमा श्रीकृष्ण निर्णय दिनुहुन्छ-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

अर्जुन! यो आत्मा सबैको शरीरमा सँधै अवध्य छ, अकाट्य छ। यसैले सम्पूर्ण भूत-प्राणिहरूको लागि तिमी दुःख गर्ने लायक छैनौं।

'आत्मा नै सनातन हो'- यस तथ्यको प्रतिपादन गरी, यसको प्रभुतासहित वर्णन गरेर यो प्रश्न यहीं पूर्ण हुन्छ। अब प्रश्न उठ्छ कि यसको प्राप्ति कसरी

हुन्छ? सम्पूर्ण गीतामा यसको लागि मात्र दुइ बाटो छन्- पहिलो बाटो निष्काम कर्मयोग र अर्को ज्ञानयोग। दुबै बाटोमा गर्ने कर्म एउटै हुन्। त्यस कर्मको अनिवार्यतामा जोड (बल) दिंदै योगेश्वर श्रीकृष्ण ज्ञानयोगको विषयमा भन्नुहुन्छ-

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

अर्जुन! स्वधर्म देखेर पनि तिमी डराउने लायक छैनौं; किनकि धर्मसंयुक्त युद्धभन्दा ठूलो अरू कुनै परमकल्याणकारी बाटो क्षत्रियको लागि छैन। अहिलेसम्म त 'आत्मा शाश्वत छ', 'आत्मा सनातन छ', 'उही एकमात्र धर्म हो'- भनिएको छ, अब यो स्वधर्म कस्तो? धर्म त एकमात्र आत्मा नै हो। त्यो त अचल स्थिर छ, तब धर्माचरण के? तर यस आत्मपथमा प्रवृत्त हुने क्षमता प्रत्येक व्यक्तिको बेग्ला-बेग्लै हुन्छ। स्वभावबाट उत्पन्न यस क्षमतालाई स्वधर्म भनिएको छ।

यही एउटा सनातन आत्मिक पथमा हिड्ने साधकहरूलाई महापुरुषले स्वभावबाट उनको क्षमता अनुसार चार श्रेणीहरूमा बाँडे- शूद्र, वैश्य, क्षेत्रिय र ब्राह्मण। साधनाको शुरू अवस्थामा सबै साधक शूद्र अर्थात् अल्पज्ञ हुन्छ। घण्टौं भजनमा बसेर पनि ऊ दस मिनेट पनि आफूलाई पक्षमा पाउँदैन। ऊ प्रकृतिको मायाजालबाट मुक्त हुन्सक्दैन। यस अवस्थामा महापुरुषको सेवाद्वारा उसको स्वाभावमा सद्गुण आउँछन्। ऊ वैश्य श्रेणीको साधक बन्नेछ। आत्मिक सम्पत्ति नै स्थिर सम्पत्ति हो। यसको उसले विस्तार-विस्तारै संग्रह र गोपालन अर्थात् इन्द्रियहरूको सुरक्षा गर्नमा सक्षम हुन्छ। काम, क्रोध इत्यादिबाट इन्द्रियहरूको हिंसा हुन्छ तथा विवेक-वैराग्यले यिनको सुरक्षा हुन्छ; तर प्रकृतिलाई निर्जीव गर्ने क्षमता त्यसमा हुँदैन। क्रमशः उन्नति गर्दा-गर्दै साधकको अन्तःकरणमा तीनटै गुणहरूलाई काट्ने क्षमता अर्थात् क्षत्रियत्व आउँछ। यसै स्तरमा प्रकृति र उसको विकारहरू नष्ट गर्ने क्षमता आउँछ। यसैले युद्ध यहींबाट आरम्भ हुन्छ। क्रमशः साधना गरेर साधक ब्राह्मणत्वको श्रेणीमा बदलिन्छ। यस समय मनको शान्ति, इन्द्रियहरूको दमन, धारावाही चिन्तन, सरलता, अनुभव, ज्ञान इत्यादि लक्षणहरू साधकमा स्वतः प्रवाहित हुनेछ। त्यसको अनुष्ठानबाट हिडेर क्रमशः त्यसले ब्रह्ममा प्रवेश पाउनेछ, जहाँ त्यो ब्राह्मण पनि रहिरहदैन्।

विदेह राजा जनकको सभामा महर्षि याज्ञवल्क्यले चाक्रायण, उषस्ति, कहोल, आरुणि, उद्दालक र गार्गीका प्रश्नहरूको समाधान गर्दै भने कि आत्म-साक्षात्कारलाई पूर्णरूपले सम्पादन गर्ने नै ब्राह्मण हुन्छ। यो आत्मा नै लोक, परलोक र समस्त प्राणिहरूलाई भित्रबाट नियमित गर्दछ। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तारागण, अन्तरिक्ष, आकाश र प्रत्येक क्षण यस आत्माकै प्रशासनमा हुन्छन्। यो तिम्रो आत्मा अन्तर्यामी अमृत हो। आत्मा अक्षर हो, यस अतिरिक्त सबै नाशवान् छन्। जसले यस लोकमा यस 'अक्षरलाई' नजानेर हवन गर्दछ, हजारौं वर्षसम्म यज्ञ गर्दछ, उसका यी सबै कर्म नाशवान् हुन्। जसले यस अक्षरलाई नजानीकन यस लोकबाट मरेर जान्छ, ऊ दयनीय हुन्छ, कृपण हुन्छ र जो यस अक्षरलाई जानेर यस लोकबाट मरेर जान्छ त्यो ब्राह्मण हो। (बृहदारण्यकोपनिषद्, ३/४-५-७-८)

अर्जुन क्षत्रिय श्रेणीको साधक हुन्। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि क्षत्रिय श्रेणीको साधकको लागि युद्धबाहेक अरू कुनै कल्याणकारक बाटो नै छैन। प्रश्न उठ्छ कि क्षत्रिय के हो? प्रायः मानिसहरू यसको आशय समाजमा जन्मले उत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातिहरूसँग लिन्छन्। यिनलाई नै चार वर्ण मानेका छन्। तर होइन, शास्त्रकारले स्वयं भन्छ कि क्षत्रिय के हो? वर्ण के हो? यहाँ उहाँले मात्र क्षत्रियको नाम लिनुभयो र अगाडि अठारौं अध्यायसम्म यस प्रश्नको समाधान प्रस्तुत गर्नुभयो कि वस्तुतः यी वर्ण के हुन् र कसरी यसमा परिवर्तन हुन्छ?

श्रीकृष्णले भन्नुभयो, '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**' (**गीता, ४/१३**)- चार वर्णहरूको सृष्टि मैले गरें। अनि के मानिसलाई विभाजित गरियो? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि होइन, '**गुणकर्म विभागशः**'- गुणहरूको माध्यमले कर्मलाई चार भागमा बाँडियो। अब यो हेर्नुछ कि त्यो कर्म के हो, जसलाई बाँडियो? गुण परिवर्तनशील छन्। साधनाको उचित प्रक्रियाद्वारा तामसीबाट राजसी र राजसीबाट सात्विक गुणमा प्रवेश पाइन्छ। अन्ततः ब्राह्मण स्वभाव बन्छ। त्यो समय ब्रह्मा प्रवेश दिलाउने सबै योग्यताहरू त्यस साधकमा रहन्छन्। वर्ण-सम्बन्धी प्रश्न यहाँबाट आरम्भ भएर अठारौं अध्यायमा गएर पूर्ण हुन्छ।

श्रीकृष्णको मान्यता छ– '**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**' (**गीता, १८/४७**) स्वभावबाट उत्पन्न यस धर्ममा प्रवृत्तहुने क्षमता जुन स्तरको हुन्छ, त्यो गुणरहित शूद्र श्रेणीको भए पनि यसले परमकल्याण गर्छ; किनकि तपाई त्यहीबाट उत्थान गर्नुहुन्छ। त्योभन्दा माथिको नक्कल गरेर साधक नष्ट हुन्छ। अर्जुन! आफ्नो स्वभावबाट उत्पन्न यस युद्धमा प्रवृत्त हुने आफ्नो क्षमतालाई हेरेर पनि तिमी भय गर्ने योग्य छैनौं। यसभन्दा बढी अर्को कुनै कल्याणकारी कार्य क्षत्रियकोलागि छैन्। यसमा प्रकाशपार्दै फेरि योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

पार्थिव शरीरलाई नै रथ बनाएर अचूक लक्ष्य गर्ने अर्जुन! स्वतःप्राप्त स्वर्गको लागि खुलेको ढोका जस्तो यस युद्धलाई भाग्यवान् क्षत्रियले नै प्राप्त गर्दछन्। क्षत्रिय श्रेणीको साधकमा तीनै गुणहरूलाई काट्ने क्षमता हुन्छ। उसको लागि स्वर्गको ढोका खुलेको छ; किनकि त्यसमा दैवी सम्पद् पूर्णतः अर्जित रहन्छ, स्वरमा विचरण गर्ने उसमा क्षमता रहन्छ। यो नै स्वर्गको ढोका हो। क्षेत्र–क्षेत्रज्ञको यस युद्धलाई भाग्यवान् क्षत्रियले नै प्राप्त गर्छ; किनकि त्यसमा नै यस संघर्षको क्षमता हुन्छ।

संसारमा युद्धहरू हुन्छन्। विश्व समेटिएर लड्छ, प्रत्येक जाति लड्छन्; तर शाश्वत विजय जित्नेहरूलाई पनि प्राप्त हुँदैन। यिनीहरू त बदला हुन्। जो जसलाई जति थिच्दछ, कालान्तरमा त्यसले पनि त्यति नै थिचिनु पर्दछ। यो कस्तो विजय हो, जसमा इन्द्रियहरूलाई सुकाउने शोक बनी रहन्छ। अन्त्यमा शरीर पनि नष्ट भएर जान्छ? वास्तविक संघर्ष त क्षेत्र र क्षेत्रज्ञको हो, जसमा एक पटक विजय भएपछि प्रकृतिको सधैंको लागि निरोध र परमपुरुष परमात्माको प्राप्ति हुन्छ। यो यस्तो विजय हो, जसको पछि हार हुदैन।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

र यदि तिमी यस 'धर्मयुक्त संग्राम' अर्थात् शाश्वत सनातन परमधर्म परमात्मामा प्रवेश गराउने धर्मयुद्ध गर्दैनौ भने 'स्वधर्म' अर्थात् स्वभावबाट

उत्पन्न संघर्ष गर्ने क्षमता, क्रियामा प्रवर्त्त हुने क्षमतालाई गुमाएर पाप अर्थात् आवागमन र अपकीर्ति प्राप्त हुनेछ। अपकीर्तिमा प्रकाश पार्न हुन्छ–

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

सबैमान्छेहरू धेरै कालसम्म तिम्रो अपकीर्तिको कथा भन्नेछन्। आज पनि पदच्युत हुने महात्माहरूमा विश्वामित्र, पराशर, निमि, शृंगी इत्यादिको गणना हुन्छ। धैरै साधकले आफ्नो धर्ममा विचार गर्दछन्, सोच्दछन् कि मान्छेले हामीलाई के भन्नेछन्? यस्तो भाव पनि साधनामा सहायक हुन्छ। यसबाट साधनामा लागीरहने प्रेरणा पाइन्छ। केही दूरीसम्म यो भावले पनि साथ दिन्छ। माननीय पुरुषहरूको लागि अपकीर्ति मर्नुभन्दा पनि ठूलो हुन्छ।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

जुन महारथीहरूको दृष्टिमा तिमी धेरै माननीय भएर अब तुच्छतालाई प्राप्त गर्नेछौ, ती महारथीहरूले तिमीलाई भयको कारण युद्धबाट भयभीत भएको मान्नेछन्। महारथी को? यस पथमा महान् परिश्रमले अगाडि बढ्ने साधक महारथी हुन्। यसै प्रकार यत्तिकै परिश्रमले अविद्यातिर तान्ने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि पनि महारथी हुन्। जो तिमीलाई धेरै सम्मान दिन्थे कि साधक प्रशंसनीय छ, तिमी उसको दृष्टिबाट झर्नेछौ। यतिमात्र होइन–

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

शत्रुहरूले तिम्रो पराक्रमको निन्दा गर्दै नभन्ने खालका धेरै कुराहरू भन्नेछन्। एउटा दोष लाग्यो भने चारैतिबाट निन्दा र खराबीहरूको बाढी आउँछ, नभने खालका कुराहरू भनिन्छन्। यो भन्दा ठूलो दुःख के हुनेछ? अतः–

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

यस युद्धमा मरेछौ भने स्वर्ग प्राप्त गर्नेछौ, स्वरमा विचरण गर्ने क्षमता रहनेछ। श्वासको बाहिर प्रकृतिमा विचरण गर्ने धाराहरू अवरुद्ध हुनेछन्। परमदेव

परमात्मामा प्रवेश दिलाउने दैवी सम्पद् हृदयमा पूर्णतः प्रवाहित रहनेछ। अथवा यस संघर्षमा जितेपछि महामहिम स्थिति प्राप्त गर्नेछौ। यसैले अर्जुन! युद्धको लागि निश्चयी भएर उठ।

प्रायः मानिसहरू यस श्लोकको अर्थ यस्तो लगाउँछन् कि यस युद्धमा मरे स्वर्ग जानेछौ र जिते पृथ्वीको भोग गर्नेछौ; तर तपाईलाई स्मरण होला, अर्जुनले भनिसकेका छन्, "भगवान्! पृथ्वी नै होइन बरू त्रैलोक्यको साम्राज्य र देवताहरूको स्वामित्व अर्थात् इन्द्रपद प्राप्त भए पनि म त्यो उपाय देख्दिन, जो इन्द्रियहरूलाई सुकाउने मेरो शोकलाई समाप्त गर्न सकोस्। यदि यति नै पाउनु छ भने गोविन्द! म युद्ध कहिलै गर्दिन।" यदि यतिमा पनि श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि- अर्जुन! लडाई गर। जिते पृथ्वी पाउने छौ, हारे स्वर्गको नागरिक बन्नेछौ, तब श्रीकृष्णले के नै दिनुहुन्छ र? अर्जुन योभन्दा अगाडिको सत्य, श्रेय (परमकल्याण)को कामना गर्ने शिष्य थियो, जसलाई सद्गुरुदेव श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको यस संघर्षमा यदि शरीरको समय पूरा हुन्छ र लक्ष्यसम्म पुग्न सकिएन भने स्वर्ग प्राप्त गर्नेछौ अर्थात् स्वरमा नै विचरण गर्ने क्षमता प्राप्त गर्नेछौ, दैवी सम्पद् हृदयमा प्रवाहित हुनेछ र यो शरीर रहदा-रहदै संघर्षमा सफल भयौ भने '**महीम्**'- सबैभन्दा महान् ब्रह्मको महिमाको उपभोग गर्नेछौ, महामहिमका स्थिति प्राप्त गर्नेछौ। जितेपछि सर्वस्व, किनकि महामहिमत्वलाई प्राप्त गर्नेछौ र हाऱ्यो भने देवत्व- दुबै हातमा लड्डु रहनेछ। लाभमा लाभ र हानिमा पनि लाभ नै हुन्छ। फेरि यसैमा बल दिंदै हुनहुन्छ-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

यसप्रकार सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयलाई समान संझेर तिमी युद्धको लागि तयार होऊ। युद्ध गरेर तिमी पापको भागी हुने छैनौं। अर्थात् सुखमा सर्वस्व र दुःखमा पनि देवत्व छ। लाभमा महीम्को स्थिति अर्थात् सर्वस्व र हानिमा देवत्व हुनेछ। जयमा महामहिम स्थिति र पराजयमा पनि दैवी सम्पद्माथि अधिकार छ। यसप्रकार आफ्नो लाभ-हानिलाई स्वयं संझेर तिमी युद्धको लागि तयार होऊ। लड्नुमा नै दुबै वस्तुहरू छन्। लडेपछि पाप अर्थात् आवागमन प्राप्त हुने छैन। अतः तिमी युद्धको लागि तयार होऊ।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

पार्थ! यो बुद्धि तिम्रो लागि ज्ञानयोगको विषयमा भनिएको छ। कुन बुद्धि? यो नै कि युद्ध गर। ज्ञानयोगमा यतिमात्रै छ कि आफ्नो हस्ती (तागत) हेरे, लाभ-हानिलाई राम्ररी विचार गरेर कि जितमा महामहिम स्थिति र हारपछि देवत्व, जयमा सर्वस्व र पराजयमा पनि देवत्व, दुबैप्रकारका लाभ छन्। युद्ध नगरेमा सबैले हामीलाई खराब भन्नेछन्, भयभीत भएको मान्नेछन्, बदनामी हुनेछ, यसप्रकार आफ्नो अस्तित्व सामुन्ने राखेर स्वयं विचार गरेर युद्धमा अग्रसर हुनु नै ज्ञानयोग हो।

प्रायः मानिसहरूमा भ्रान्ति छ कि ज्ञानमार्गमा कर्म (युद्ध) गर्नु पर्दैन। उनीहरू भन्छन् कि ज्ञानमार्गमा कर्म छैन। 'म त शुद्ध छु', 'चैतन्य छु', 'अहं ब्रह्मास्मि।', 'गुण नै गुणमा कार्यरत हुन्छन्।'- यस्तो मानेर हातमा हाथ राखेर बस्छन्। योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार यो ज्ञानयोग होइन। ज्ञानयोगमा पनि त्यही कर्म गर्नुछ, जुन निष्काम कर्मयोगमा गरिन्छ। दुबैमा मात्र बुद्धिको, दृष्टिकोणको अन्तर छ। ज्ञानमार्गी आफ्नो स्थिति संझेर, आफूमा निर्भर भएर कर्म गर्छ, जबकि निष्काम कर्मयोगी इष्टमा आश्रित भएर कर्म गर्छ। गर्नु दुबै मार्गमा छ र त्यो कर्म पनि एउटै हो, जसलाई दुबै मार्गहरूमा गर्नुछ। मात्र कर्म गर्ने दृष्टिकोण दुई छन्।

अर्जुन! यस बुद्धिलाई अब तिमी निष्काम कर्मयोगको विषयमा सुन, जसबाट युक्त भएर तिमी कर्महरूको बन्धनलाई राम्ररी नष्ट गर्नेछौ। यहाँ श्रीकृष्णले 'कर्म'को नाम पहिलो पटक लिनुभयो, तर यो भन्नु भएन कि कर्म के हो? अब कर्म न भनेर पहिले कर्मको विशेषताहरूमाथि प्रकाश पार्नुहुन्छ-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

यस निष्काम कर्मयोगमा सुरुको अर्थात् बीजको नाश हुँदैन्। सीमित फलरूपी दोष छैन, यसैले यस निष्काम कर्मको, यस कर्मबाट सम्पादित धर्मको थोरै पनि साधनले जन्म-मृत्युरूपी महान् भयबाट उद्धार गरिदिन्छ। तपाई यस कर्मलाई बुझेर त्यसमाथि दुई पाइला अगाडि मात्र हिड्नुस (जो सदगृहस्थ

आश्रममा रहेर मात्र हिड्न सकिन्छ, साधक त हिड्छन् नै) बीउ मात्र छरी दियौं भने अर्जुन! बीउको नाश हुँदैन। प्रकृतिमा कुनै क्षमता छैन, यस्तो कुनै अस्त्र छैन कि त्यस सत्यलाई मेटाउन सकोस्। प्रकृतिले मात्र पर्दा हाल्न सक्छ, केहि ढिलो गर्न सक्छ, तर साधनको आरम्भलाई नाश गर्न सक्दैन।

अगाडि श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि सबै पापीहरूभन्दा ठूलो पापी किन न होस् ज्ञानरूपी डुङ्गाद्वारा निःसन्देह पार हुनेछ। ठीक त्यसै कुरालाई यहाँ भन्नुहुन्छ कि- अर्जुन! निष्काम कर्मयोगको बीजारोपण गरीदेऊ भने त्यो बीउको नाश हुँदैन। विपरीत फलरूपी दोष पनि यसमा हुँदैन कि तिमीलाई स्वर्ग, ऋद्धिहरू वा सिद्धिहरूसम्म पुऱ्याएर छाडीदेउन्। तिमीले यो साधनलाई छाडे पनि यो साधनले तिम्रो उद्धार गरेर नै छोड्नेछ। यस निष्काम कर्मयोगको थोरै पनि साधनाले जन्म-मृत्युको महान् भयबाट उद्धार गरिदिन्छ। '**अनेकजन्म-संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।**' (गीता, ६/४५) कर्मको यो बीजारोपणले अनेकौं जन्महरू पश्चात् त्यही उभ्याई दिनेछ, जहाँ परमधाम छ, परमगति छ। यसै क्रममा अगाडि भन्नुहुन्छ-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

अर्जुन! यस निष्काम कर्मयोगमा क्रियात्मक बुद्धि एउटै छ। क्रिया एक छ र परिणाम पनि एउटै नै छ। आत्मिक सम्पत्ति नै स्थिर सम्पत्ति हो। यस सम्पत्तिलाई प्रकृतिको द्वन्दमा विस्तार-विस्तारै अर्जित गर्नु व्यवसाय हो। यो व्यवसाय वा निश्चयात्मक क्रिया पनि एउटै हो। तब त जुन मानिसले अनेकौं क्रियाहरू बताउँछन्, के उनीहरू भजन गर्दैनन् ? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- "हो, उनीहरू भजन गर्दैनन्। ती पुरुषहरूको बुद्धि अनन्त हाँगा भएको हुन्छ, यसैले अनन्त क्रियाहरूको विस्तार गर्दछन्।"

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

हे पार्थ! ती '**कामात्मानः**'– कामनाहरूले युक्त, '**वेदवादरताः**'– वेदको वाक्यहरूमा अनुरक्त, '**स्वर्गपराः**'– स्वर्गलाई नै परमलक्ष्य मान्नु हुन्छ कि यसको अगाडि केही छँदैछैन।– यस्तो भन्ने अविवेकीजन जन्म-मृत्युरूपी फलदिने, भोग र ऐश्वर्यको प्राप्तिको लागि धेरै क्रियाहरूको विस्तार गर्दछन् र देखावटी शोभापूर्ण वाणीमा पनि व्यक्त गर्दछन्। अर्थात् अविवेकीहरूको बुद्धि अनन्त भेदहरू भएका हुन्छन्। उनीहरू फलदिने वाक्यहरूमा नै आसक्त हुन्छन, वेदका वाक्यहरूलाई नै प्रमाण मान्छन्, स्वर्गलाई श्रेष्ठ मान्छन्। उनीहरूको बुद्धि धेरै भेदहरू भएका हुन्छन्, यसैले अनन्त क्रियाहरूको रचना गर्छन्। उनीहरू नाम त परमतत्व परमात्माको नै लिन्छन तर त्यसको आडमा अनन्त क्रियाहरूको विस्तार गर्छन्। त के अनन्त क्रियाहरू कर्म होइनन्। कृष्ण भन्नुहुन्छ– होइनन्। अनि त्यो एउटा निश्चित क्रिया हो के? श्रीकृष्ण अहिले यो भन्नु हुन्न। अहिले त मात्र यति नै भन्नुहुन्छ कि अविवेकीहरूको बुद्धि अनन्त हाँगाहरू भएको हुन्छ, यसैले उनी अनन्त क्रियाहरूको विस्तार गर्छन्। उनी विस्तारमात्र गर्दैनन् बरू आलङ्कारिक शैलीमा त्यसलाई व्यक्त पनि गर्दछन्। त्यसको प्रभाव के हुन्छ?–

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

उनीको वाणीको छाप जस-जसको चित्तमा पर्दछ, अर्जुन! तिनको बुद्धि पनि नाश हुन्छ न कि उनले केही पाउँछन्। त्यो वाणीद्वारा हरण भएको चित्तहुनेहरूको र भोग-ऐश्वर्यमा आसक्त पुरुषको अन्तःकरणमा क्रियात्मक बुद्धि रहदैन, इष्टमा समाधिस्थ गराउने निश्चयात्मक क्रिया त्यसमा हुदैन।

यस्ता अविवेकीहरूको वाणी सुन्छ कसले? भोग र ऐश्वर्यमा आसक्त हुनेले नै सुन्छ, अधिकारीले सुन्दैन। यस्ता पुरुषहरूमा सम र आदितत्वमा प्रवेश गराउने निश्चयात्मक क्रियामा संयुक्त बुद्धि हुँदैन।

प्रश्न उठ्छ कि '**वेदवादरताः**'– जो वेदका वचनहरूमा आसक्त छन्, के उनले पनि गल्ती गर्छन्? यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

अर्जुन! '**त्रैगुण्यविषया वेदा**'– वेदले तीन गुणसम्म प्रकाश पार्दछ। यसको अगाडिको कुरा उसलाई थाहा हुँदैन। यसैले '**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।**'– अर्जुन! तिमी तीनवटै गुणहरूबाट माथि उठ अर्थात् वेदहरूको कार्यक्षेत्रबाट माथि बढ्। कसरी बढ्ने? यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ, '**निर्द्वन्द्वः**'– सुख-दुःखका द्वन्द्वहरूबाट रहित, नित्य सत्य वस्तुमा स्थित र योगक्षेम नखोजेर आत्मपरायण होऊ। यसप्रकार माथि उठ। प्रश्न उठ्छ कि हामी नै उठौं वा कोही वेदहरूभन्दा माथि उठेको पनि छ? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि अगाडि जो पनि उठ्छ, उसले ब्रह्मलाई जान्दछ र जो ब्रह्मलाई जान्दछ, ऊ विप्र हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

चारैतिरबाट परिपूर्ण जलाशय प्राप्त भएपछि मानिसको सानो जलाशयबाट जति प्रयोजन रहन्छ, राम्ररी ब्रह्मलाई जान्ने ब्राह्मणलाई वेदहरूसँग त्यति नै प्रयोजन रहन्छ। तात्पर्य यो छ कि जो वेदबाट माथि उठ्छ, उसले ब्रह्मलाई जान्दछ, उही नै ब्राह्मण हो। अर्थात् तिमी वेदहरूबाट माथि उठ, ब्राह्मण बन।

अर्जुन क्षत्रिय थिए, श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि ब्राह्मण बन। ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि वर्ण स्वभावका क्षमताहरूको नाम हो। यो कर्मप्रधान हुन्छ न कि जन्मदेखि निर्धारित हुने कुनै रुढि। जसलाई गंगाको धारा प्राप्त छ, त्यसलाई क्षुद्र जलाशयबाट के प्रयोजन? कोही त्यसमा दिसा धुन्छन भने कोही पशुहरूलाई जलाशयमा नुहाइदिन्छ, यसका अगाडि कुनै उपयोग छैन। यसैप्रकार ब्रह्मलाई साक्षात् जान्ने त्यस विप्र महापुरुषको, त्यस ब्राह्मणको वेदहरूसँग त्यति नै प्रयोजन रहन्छ। प्रयोजन रहन्छ अवश्य, वेद रहन्छन् किनकि आउने पीढिहरूको लागि उनको उपयोग छ। त्यहींबाट वार्ता आरम्भ हुनेछ। यसपछि योगेश्वर श्रीकृष्ण 'कर्म' गर्ने बेलामा गर्नुपर्ने सावधानीहरूको प्रतिपादन गर्नुहुन्छ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

कर्म गर्नुमा नै तिम्रो अधिकार होस, फलमा होइन। यस्तो संझनु कि फल छँदैछैन। फलको वासना गर्ने पनि नहोऊ र कर्म गर्नुमा तिम्रो अश्रद्धा पनि नहोस्।

अहिलेसम्म योगेश्वर श्रीकृष्णले उनचालिस श्लोकमा पहिलोपल्ट कर्मको नाम लिनुभयो, तर यो भन्नु भएन कि त्यो कर्म के हो र त्यसलाई गर्ने कसरी? त्यस कर्मको विशेषताहरूमाथि प्रकाश पार्नुभयो कि–

(१) अर्जुन! यस कर्मद्वारा तिमी कर्मको बन्धनबाट राम्रो प्रकारले मुक्त हुनेछौं।

(२) अर्जुन! यसमा आरम्भको अर्थात् बीउको नाश हुदैन। आरम्भ गरिदियो भने प्रकृतिसँग त्यसलाई नष्ट गर्ने कुनै उपाय छैन।

(३) अर्जुन! यसमा सीमित फलरूपी दोष पनि छैन कि स्वर्ग, ऋद्धि-सिद्धिहरूमा अल्झाएर रोकी देओस्।

(४) अर्जुन! यस कर्मको थोरै पनि साधना जन्म-मरणको भयबाट उद्धारक हुन्छ।

तर अहिलेसम्म उनले यो भनेनन् कि त्यो कर्म के हो? गर्ने कसरी? यसै अध्यायको एकचालिसौं श्लोकमा वहाँले भन्नुभयो–

(५) अर्जुन! यसमा निश्चयात्मक बुद्धि एउटै छ, क्रिया एउटै छ। अनि के धेरै क्रिया गर्नेहरू भजन गर्दैनन्? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– उनीहरू कर्म गर्दैनन्। यसका कारण वहाँ भन्नुहुन्छ कि अविवेकीहरूको बुद्धि अनन्त शाखा भएका हुन्छन्, यसैले अनन्त क्रियाहरूको विस्तार गरिलिन्छन्। उनीहरू देखावटी शोभायुक्त वाणीमा यी क्रियाहरूलाई व्यक्त पनि गर्दछन्। उनीहरूको वाणीको छाप जसको हृदयमा पर्दछ, उसको बुद्धि नष्ट हुन्छ। अतः निश्चयात्मक क्रिया एउटै हो, तर यो भन्नु भएन कि त्यो क्रिया कुन हो?

सतचालिसौं श्लोकमा वहाँले भन्नुभयो– अर्जुन! कर्म गर्नुमा नै तिम्रो अधिकार छ, फलमा छैन। फलको चाहना राख्ने पनि नहोऊ र कर्म गर्नमा तिम्रो अश्रद्धा पनि नहोस् अर्थात् निरन्तर गरिरहनका लागि त्यसैमा लीन भएर गर्नु, तर यो भन्नु भएन कि त्यो कर्म के हो? प्रायः यस श्लोकलाई उदाहरण दिंदै मानिसहरू भन्दछन् कि केही पनि गर मात्र फलको कामना नगर, भइहाल्यो निष्काम कर्मयोग, तर अहिलेसम्म श्रीकृष्णले भन्नुभएन कि कर्म कुन हो, जसलाई गरौं? यहाँ मात्र कर्मको विशेषताहरूमाथि प्रकाश पार्नुभयो कि कर्मले

दिन्छ के र कर्म गर्ने समयमा पालन गर्नुपर्ने सावधानीहरू के हुन्? प्रश्न जस्ताको त्यस्तै छ, जसलाई योगेश्वरले अगाडिको अध्याय तीन-चारमा स्पष्ट गर्नु हुनेछ।

फेरि यसैमा जोड (बल) दिनुहुन्छ-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

हे धनंजय! आसक्ति र संग-दोषलाई त्यागेर, सिद्धि र असिद्धिमा समान भाव राखेर, योगमा स्थिर रहेर कर्म गर। कुन कर्म? निष्काम कर्म गर। '**समत्वं योग उच्यते**'- यो समत्व भावलाई नै योग भनिन्छ। विषमता जसमा नहोस्, यस्तो भावलाई समत्व भनिन्छ। ऋद्धि र सिद्धिहरूले विषम बनाउँछन्, आसक्तिले हामीलाई विषम बनाउँछ, फलको इच्छाले विषमता उत्पन्न गर्दछ, यसैले फलको चाहना हुनु हुँदैन, तर पनि कर्म गर्नुमा अश्रद्धा पनि नहोओस्। देखेको सुनेको सबै वस्तुहरूमा आसक्तिको त्याग गरेर, प्राप्ति र अप्राप्तिको विषयमा न सोचेर मात्र योगमा स्थित भएर कर्म गर। योगबाट चित्त चलायमान नहोस्।

योग एउटा पराकाष्ठाको स्थिति हो र एउटा प्रारम्भको स्थिति पनि हुन्छ। प्रारम्भमा पनि हाम्रो दृष्टि लक्ष्यमा नै हुनु पर्दछ। अतः योगमा दृष्टि राख्दै कर्मको आचरण गर्नु पर्दछ। समत्व भाव अर्थात् सिद्धि र असिद्धिमा समभाव नै योग कहलाउँछ। जसलाई सिद्धि र असिद्धिले विचलित गर्न सक्दैन, विषमता जसमा उत्पन्न हुँदैन, यस्तो भाव हुनुको कारण यसलाई समत्व योग भन्ने गरिन्छ। यसले इष्टबाट समत्व दिलाउँछ, यसैले यसलाई समत्व योग भनिन्छ। कामनाहरूको बिल्कुलै त्याग हुन्छ, यसैले यसलाई निष्काम कर्मयोग भनिन्छ। परमात्मासँग मेल गराउँछ, यसैले यसको नाम योग अर्थात् मेल हो। यसमा बौद्धिक स्तरमा ध्यान राख्नुपर्छ कि सिद्धि र असिद्धिमा समभाव रहोस्, आसक्ति नहोस्, फलको चाहना आउन नपाओस्। यसैले यहि निष्काम कर्मयोग, बुद्धियोग पनि कहलाउँछ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

धनंजय! '**अवरं कर्म**'- निकृष्ट कर्म, वासनायुक्त कर्म बुद्धियोगबाट धेरै टाढा छन्। फलको कामना गर्नेहरू कृपण हुन्। उनीहरू आत्मासँग उदारताको

व्यवहार गर्दैनन्। अतः समत्व बुद्धियोगको आश्रय ग्रहण गर। जस्तो कामना छ, त्यस्तै पायौ भने त्यसलाई भोग्नको लागि शरीर धारण गर्नु पर्नेछ। आवागमन बनेको छ भने कल्याण कस्तो? साधकले त मोक्षको पनि वासना राख्नु हुदैन; किनकि वासनाबाट मुक्त हुनु नै मोक्ष हो। फलको प्राप्तिको चिन्तन गर्नाले साधकको समय व्यर्थ नष्ट हुन्छ र फल प्राप्त भएपछि त्यो त्यस फलमा अल्झिन्छ। उसको साधना समाप्त हुन्छ। अनि ऊ भजन किन गरोस्? त्यहाँबाट त्यो बाटो विराउँछ। यसैले समत्व बुद्धिले योगको आचरण गरौं।

ज्ञानमार्गलाई पनि श्रीकृष्णले बुद्धियोग भन्नुभएका थिए कि– अर्जुन! यो बुद्धि तिम्रो लागि ज्ञानयोगको विषयमा भनियो र यहाँ निष्काम कर्मयोगलाई पनि बुद्धियोग भनियो। वस्तुतः दुबैमा बुद्धिको दृष्टिकोणको नै अन्तर छन्। त्यसमा लाभ–हानिलाई जाँच गरेर हिड्नु पर्छ। यसमा पनि बौद्धिक स्तरमा समत्व बनाइराख्नु पर्दछ, यसैले यसलाई समत्व बुद्धियोग भनिन्छ। यसैले धनंजय! तिमी समत्व बुद्धियोगको आश्रय ग्रहण गर; किनकि फलको वासना गर्ने अत्यन्त कृपण हुन्छन्।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

समत्व बुद्धियुक्त पुरुषले पुण्य–पाप दुबैलाई यसै लोकमा त्यागिदिन्छ। त्यसमा लिपायमान हुँदैन। यसैले समत्व बुद्धियोगको लागि चेष्टा गर। '**योगः कर्मसु कौशलम्**'– समत्व बुद्धिको साथ कर्महरूको आचरण नै कौशल योग हो।

संसारमा कर्म गर्ने दुई दृष्टिकोण प्रचलित छन्। मान्छेहरू कर्म गर्छन् तर उसको फल पनि अवश्य चाहन्छन् वा फल न पाए कर्म गर्न चाहँदैन; तर योगेश्वर श्रीकृष्ण यी कर्महरूलाई बन्धनकारी भन्नु हुँदै, आराधनालाई एकमात्र कर्म मान्नुहुन्छ। यस अध्यायमा वहाँले कर्मको नाम मात्र लिनुभयो। आध्याय तीनको नवौं श्लोकमा यसको परिभाषा दिनु भएको छ र चौथो अध्यायमा कर्मको स्वरूपमाथि विस्तारपूर्वक प्रकाश पार्नु भएको छ। प्रस्तुत श्लोकमा श्रीकृष्णले सांसारिक परम्पराबाट हटेर कर्म गर्ने विधि बताउनु भयो कि कर्म त

गर, श्रद्धापूर्वक गर; तर फलको अधिकारलाई स्वेच्छाले छोडिदेउ। फल कहाँ जानेछ? यो नै कर्म गर्ने कौशल हो। निष्काम साधकको सबै शक्ति यसप्रकार कर्ममा लागी रहन्छ। आराधनाको लागि नै त शरीर हुन्छ। तापनि जिज्ञासा स्वाभाविक हुन्छ कि के सधैं कर्म नै गरी रहनुपर्छ वा यसको केही परिणाम पनि निस्कने छ? यसलाई हेरौं–

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

बुद्धियोगले युक्त ज्ञानीहरू कर्मबाट उत्पन्न हुने फललाई त्यागेर जन्म र मृत्युको बन्धनबाट छुटकारा पाउँछन्। उनीहरू निर्दोष अमृतमय परमपदलाई प्राप्त हुन्छन्।

यहाँ तीन बुद्धिहरूको चित्रण छ। (श्लोक ३९) सांख्यबुद्धिमा दुई फल छन्– स्वर्ग र श्रेय। (श्लोक ५१) कर्मयोगमा प्रवृत्त बुद्धिको एउटै फल छ– जन्म–मृत्युबाट मुक्ति, निर्मल अविनाशी पदको प्राप्ति। मात्र यी दुई नै योगक्रिया हुन्, यसबाहेक अरू बुद्धि अविवेकजन्य, अनन्त शाखाहरू भएका छन्, जसको फल कर्मयोगको लागि पटक–पटक जन्म–मृत्यु हुन्छ।

अर्जुनको दृष्टि त्रिलोकीको साम्राज्य र देवताहरूका स्वामीपनसम्म नै सीमित थियो। यतिसम्मको लागि नै ऊ युद्धमा प्रवृत्र हुन सकिरहेको थिएन। यहाँ श्रीकृष्ण उसलाई नयाँ तथ्य उद्घाटित गर्नुहुन्छ कि आसक्तिरहित कर्मद्वारा अनामय पद प्राप्त हुन्छ। निष्काम कर्मयोगले परमपद दिलाउँछ, जहाँ मृत्युको प्रवेश हुदैन। यस कर्ममा प्रवृत्ति कहिले हुनेछ?–

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

जुन कालमा तिम्रो (प्रत्येक साधकको) बुद्धि मोहरूपी दलदललाई पूर्णतः पार गर्नेछ, अलिकति पनि मोह रहँदैन– न पुत्रमा, न धनमा, न प्रतिष्ठामा– यी सबैबाट सम्पर्क टूटेपछि, त्यस बेला जो सुन्ने योग्य हुन्छ त्यसलाई तिमी सुन्न सक्नेछौ र सुने अनुसार वैराग्यलाई प्राप्त हुन सक्नेछौ अर्थात् त्यसलाई आचरणमा परिणत गर्न सक्नेछौ। अहिले जुन सुन्नेलायक छ, त्यसलाई न त तिमीले सुन्न

पाएका छौ र आचरणको त प्रश्न नै उठदैन। यसै योग्यतामा फेरि प्रकाश पार्नुहुन्छ–

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

अनेकौं प्रकारका वेदवाक्यहरूलाई सुनेर विचलित भएको तिम्रो बुद्धि जब परमात्म–स्वरूपमा समाधिस्थ भएर अचल, स्थिर हुनेछ, तब तिमी समत्व योगलाई प्राप्त हुनेछौ। पूर्ण समस्थितिलाई प्राप्त गर्नेछौ, जसलाई 'अनामय परमपद' भनिन्छ। यो नै योगको पराकाष्ठा हो र यो नै अप्राप्यको प्राप्ति हो। वेदहरूबाट पनि यही शिक्षा पाइन्छ; तर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ, '**श्रुतिविप्रतिपन्ना**'– श्रुतिहरूको अनेकौं सिद्धान्तलाई सुनेर बुद्धि विचलित हुन्छ। सिद्धान्त त अनेकौं सुनियो, तर जो सुन्ने योग्य छ, मानिसहरू त्यसबाट टाढा नै रहन्छन्।

यो विचलित बुद्धि जुन बेला समाधिमा स्थिर हुनेछ, तब तिमी योगको पराकाष्ठा अमृतपद प्राप्त गर्नेछौ। यसमा अर्जुनको उत्कण्ठा स्वाभाविक छ कि ती महापुरुष कस्ता कसरी हुन्छन्, जो अनामय परमपदमा स्थित छन्, समाधिमा जसको बुद्धि स्थिर छ? उनले प्रश्न गरे–

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

'**समाधीयते चित्तं यस्मिन् स आत्मा एव समाधिः**'– जसमा चित्तको समाधान गर्न सकिन्छ त्यो आत्मा नै समाधि हो। अनादि तत्वमा जसले समत्व प्राप्त गर्दछ, उसलाई समाधिस्थ भनिन्छ। अर्जुनले सोधे– केशव! समाधिस्थ स्थिरबुद्धिभएको महापुरुषका के लक्षण हुन्छन्? स्थितप्रज्ञ पुरुष कसरी बोल्छ? उ कसरी बस्छ? उ कसरी हिड्छ? चार प्रश्न अर्जुनले गरे। यसमा भगवान् श्रीकृष्णले स्थितप्रज्ञको लक्षण बताउँदै भन्नुभयो–

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

पार्थ! जब मानिसले मनमा स्थित सम्पूर्ण कामनाहरूलाई त्यागिदिन्छ, तब त्यो आत्माद्वारा आत्मामा नै सन्तुष्ट भएर स्थिरबुद्धिवाला भनिन्छ। कामनाहरूको त्यागमा नै आत्माको दिग्दर्शन हुन्छ। यस्तो आत्माराम, आत्मतृप्त महापुरुष नै स्थितप्रज्ञ हो।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

दैहिक, दैविक तथा भौतिक दुःखहरूमा जसको मन उद्विग्न हुँदैन, सुखको प्राप्तिको जसको स्पृहा हटिसकेको छ तथा जसको राग, भय र क्रोध नष्ट भइसकेका छन्, मननशीलताको चरम सीमामा पुगेको यस्तो मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाउँछ। यसको अरु लक्षण बताउनु हुन्छ–

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित भएर, शुभ अथवा अशुभलाई प्राप्त भएर न प्रसन्न हुन्छ र न द्वेष गर्छ, उसको बुद्धि स्थिर छ। शुभ त्यो हो, जो परमात्मस्वरूपमा लगाउँछ। अशुभ त्यो हो जो प्रकृतितिर लिएर जान्छ; तर स्थितप्रज्ञ पुरुष अनुकूल परिस्थितिहरूबाट न प्रसन्न हुन्छ र न प्रतिकूल परिस्थितिहरूबाट द्वेष गर्छ; किनकि प्राप्त हुने योग्य वस्तु त्यसबाट अलग हुदैन र न पतित गर्ने विकारहरू उसको लागि हुन्छन् अर्थात् अब साधनसँग उसको आफ्नो कुनै प्रयोजन रहेन।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

जसरी कछुवा आफ्नो अंगलाई समेट्छ, ठीक त्यसैप्रकार यो पुरुष जब सबैतिरबाट आफ्नो इन्द्रियहरूलाई समेट्छ, अनि उसको बुद्धि स्थिर हुन्छ। खतरालाई देख्ने बित्तिकै कछुवाले जसरी आफ्नो टाउको र खुट्टा लुकाउँछ, ठीक त्यसरी जुन पुरुष विषयहरूमा विचरण गर्दै गरेको इन्द्रियहरूलाई सबैतिरबाट समेटेर हृदय–देशमा निरोध गर्छ, त्यस समयमा त्यस पुरुषको बुद्धि स्थिर हुन्छ। तर यो त एउटा दृष्टान्त मात्र हो। खतराको आभास समाप्त हुनासाथ कछुवाले

आफ्नो अंग पुनः फैलाउँछ, के त्यसरी स्थितप्रज्ञ महापुरुष पनि विषयहरूमा रस लिनथाल्छ? यसमा भन्नुहुन्छ–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

इन्द्रियहरूद्वारा विषयहरूलाई ग्रहण नगर्ने पुरुषहरूको विषय त निवृत्त हुन्छ, किनकि वहाँ ग्रहण नै गर्नुहुन्न, तर उसको राग निवृत्त हुँदैन, आसक्ति रही रहन्छ। सम्पूर्ण इन्द्रियहरूलाई विषयहरूबाट समेट्ने निष्कामकर्मीको राग पनि '**परं दृष्ट्वा**'– परमतत्व परमात्माको साक्षात्कार गरेर निवृत्त हुन्छ।

महापुरुषले कछुवा जस्तो आफ्नो इन्द्रियहरूलाई विषयमा फैलाउँदैन। एक पटक इन्द्रियहरू समेटिए संस्कार नै समाप्त हुन्छ, फेरि ती निस्कदैनन्। निष्काम कर्मयोगको आचरणद्वारा परमात्माको प्रत्यक्ष दर्शनका साथै त्यस पुरुषको विषयहरूबाट राग पनि निवृत्त हुन्छ। प्रायः चिन्तन–पथमा हठ गर्छन्। हठद्वारा इन्द्रियहरूलाई रोकेर उनी विषयबाट त निवृत्त हुन्छन् तर मनमा उसको चिन्तन, राग लागेकै हुन्छ। यो असक्ति '**परं दृष्ट्वा**'– परमात्माको साक्षात्कार गरेपछि निवृत्त हुन्छ, यसभन्दा पहिले हुँदैन।

'पूज्य महाराजज्यू' यस सम्बन्धमा आफ्नो एउटा घटना भन्नुहुन्थ्यो। गृहत्यागभन्दा पूर्व वहाँलाई तीन पटक आकाशवाणी भएको थियो। मैले सोधें– "महाराजज्यू! तपाईलाई भविष्यवाणी किन भयो, हामीहरूलाई त भएन?" तब यसमा महाराजज्यूले भन्नुभयो– '**हो! ई शंका मोहूं के भई रही।**' अर्थात् यो सन्देह मलाई पनि भएको थियो। तब अनुभवमा आयो कि म सात जन्मदेखि लगातार साधु हुँ। चार जन्म त मात्र साधुजस्तै भेष बनाएँ, तिलक लगाएँ, कहिले विभूति लगाएँ, कतै कमण्डल लिएर विचरण गरें। योगक्रियाको ज्ञान थिएन। तर अघिल्लो तीन जन्मदेखि राम्रो साधुछु, जस्तो हुन पर्दछ। ममा योगक्रिया जाग्रत थियो। अघिल्लो जन्ममा पार लागी सकेको थियो, निवृत्ति पनि हुनै लागेको थियो, तर दुई इच्छा थियो– स्त्री र गाँजा। मनभित्र इच्छाहरू थिए, तर बाहिरबाट मैले शरीरलाई दृढ राखें। मनमा वासना लागेको थियो, यसैले जन्म लिनु पर्‍यो। जन्मलिने बित्तिकै भगवान्ले थोरै समयमा सबै

थोक देखाएर-सुनाएर निवृत्ति दिलाउनु भयो, दुई-तीन चटकन दिएर साधु बनाइदिनु भयो।

ठीक यही कुरा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि इन्द्रियहरूद्वारा विषयलाई ग्रहण नगर्ने पुरुषको विषय त निबृत्त हुन्छ; तर साधनाद्वारा परमपुरुष परमात्माको साक्षात्कार गरेपछि ऊ विषयहरूको रागबाट पनि निवृत हुनजान्छ। अतः जबसम्म साक्षात्कार हुँदैन, 'कर्म' गर्नुछ।

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।।
(रामचरितमानस, ५/४८/६)

इन्द्रियहरूलाई विषयबाट समेट्नु कठिन छ। यसमाथि प्रकाश पार्नु-हुन्छ कि-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

कौन्तेय! प्रयत्न गर्नेहरू मेधावी पुरुषको प्रमथनशील इन्द्रियहरू उसको मनलाई जबरजस्ती हरण गर्छन्, विचलित गरिदिन्छ। यसैले-

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

ती सम्पूर्ण इन्द्रियहरूलाई संयत गरेर, योगबाट युक्त र समर्पणको साथै मेरो आश्रित होउ किनकि जुन पुरुषको इन्द्रियहरू वशमा हुन्छ, उसको बुद्धि स्थिर हुन्छ। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण साधनको निषेधात्मक आवयवहरूद्वारा उसको विधेयात्मक पक्षमा जोड (बल) दिनुहुन्छ। मात्र संयम र निषेधबाट इन्द्रियहरू वशमा हुँदैन। समर्पणको साथै इष्ट-चिन्तन अनिवार्य छ। इष्ट-चिन्तनको अभावमा विषय-चिन्तन हुनेछ, जसको कुपरिणाम श्रीकृष्णको शब्दहरूमा हेरौं-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

विषयको चिन्तन गर्ने पुरुषलाई त्यस विषयमा आसक्ति हुन्छ। आसक्तिबाट कामना उत्पन्न हुन्छ। कामना-पूर्तिमा व्यवधान आउनाले क्रोध उत्पन्न हुन्छ।

क्रोध कसलाई जन्मदिन्छ?–

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।६३।।

क्रोधबाट विशेष मूर्खता अर्थात् अविवेक उत्पन्न हुन्छ। नित्य–अनित्य वस्तुको विचार रहँदैन। अविवेकबाट स्मरण–शक्ति भ्रमित हुन्छ। (जस्तो अर्जुनलाई भएको थियो– '**भ्रमतीव च मे मनः।**' (१/३०) गीताको समापनमा उसले भन्यो– '**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।**', (१८/७३)। के गर्ने, के नगर्ने– यसको निर्णय हुन पाउँदैन।) स्मृति भ्रमित भएमा योगपरायण बुद्धि नष्ट हुन्छ र बुद्धि नष्ट भएमा त्यो पुरुष आफ्नो श्रेय–साधनबाट च्युत हुन्छ।

यहाँ श्रीकृष्णले बल दिनुभयो कि विषयको चिन्तन गर्नु हुँदैन। साधकले नाम, रूप, लीला र धाममा नै कतै लाग्नु पर्छ। भजनमा ढिलो गरेमा मन विषयहरूमा जान्छ। विषयहरूको चिन्तनबाट आसक्ति हुन्छ। आसक्तिबाट त्यस विषयको कामना साधकको अन्तर्मनमा हुन्छ। कामनाको पूर्तिमा व्यवधान भएमा क्रोध, क्रोधबाट अविवेक, अविवेकबाट स्मृति–भ्रम र स्मृति–भ्रमबाट बुद्धि नष्ट हुन्छ। निष्काम कर्मयोगलाई नै बुद्धियोग भनिन्छ, किनकि बुद्धि–स्तरमा यसमा विचार राख्नु पर्छ कि कामना आउन न पाओस्, फल छँदैछैन। कामना आउनाले यो बुद्धियोग नष्ट हुन्छ– '**साधन करिय विचारहीन मन शुद्ध होय नहीं तैसे।**' (**विनयपत्रिका, पद संख्या ११५/३**) विचार आवश्यक छ। विचारशून्य पुरुष श्रेय–साधनबाट तल झर्छ। साधनक्रम टुट्छ, पुरै नष्ट हुँदैन। भोगपछि साधन त्यहींबाट फेरि आरम्भ हुन्छ, जहाँ अवरुद्ध भएको थियो।

यो त विषयाभिमुख साधकको गति हो। स्वाधीन अन्तःकरण साधक कुन गतिलाई प्राप्त हुन्छ? यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

आत्माको विधिलाई प्राप्त प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष राग–द्वेषबाटरहित वशमा गरिएको आफ्नो इन्द्रियहरूद्वारा '**विषयान् चरन्**'– विषयहरूमा विचरण गरी रहे पनि '**प्रसादमधिगच्छति**'– अन्तःकरणको निर्मलतालाई प्राप्त हुन्छ। त्यो

आफ्नो भावदृष्टिमा रहन्छ। महापुरुषको लागि विधि-निषेध रहँदैन। उसको लागि कतै पनि अशुभ रहँदैन, जसबाट ऊ आफ्नो बचाउ गरोस र उसको लागि कुनै शुभ बाँकी रहँदैन, जसको ऊ कामना गरोस्।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

भगवान्को पूर्ण कृपा-प्रसाद 'भगवत्ता'सँग संयुक्त उसमा त्यसको सम्पूर्ण दुःखहरूको अभाव हुन्छ, **'दुःखालयम् अशाश्वतम्'। (गीता, ८/१५)** संसारको अभाव हुन्छ र त्यो प्रसन्नचित्त पुरुषको बुद्धि चाँडै नै राम्रो ढंगले स्थिर हुन्छ। तर जो योगयुक्त छैन, उसको दशामा प्रकाश पार्नु हुन्छ-

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

योगसाधनरहित पुरुषको अन्तःकरणमा निष्काम कर्मयुक्त बुद्धि हुदैन। त्यस अयुक्तको अन्तःकरणमा भाव पनि हुँदैन। भावनारहित पुरुषलाई शान्ति कहाँ र अशान्त पुरुषलाई सुख कहाँ? योगक्रिया गर्नाले केही देखिनमात्रले नै भाव बन्दछ- **'जानें बिनु न होइ परतीती।' (मानस, ७/८८ख/७)** भावना बिना शान्ति मिल्दैन र शान्तिरहित पुरुषलाई सुख अर्थात् शाश्वत सनातनको प्राप्ति हुँदैन।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

पानीमा डुंगालाई जसरी वायुले बगाएर गरेर गन्तव्यबाट टाढा लैजानन्छ, ठीक त्यसैरी विषयहरूमा विचरण गर्दै गरेका इन्द्रियहरूमा जुन इन्द्रियसंग मन रहन्छ, त्यो एउटै इन्द्रियले त्यस अयुक्त पुरुषको बुद्धिलाई हरण गर्छ। अतः योगको आचरण अनिवार्य छ। क्रियात्मक आचरणमाथि श्रीकृष्ण जोड दिंदै भन्नुहुन्छ-

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

यसैले हे महाबाहो! जुन पुरुषको इन्द्रियहरू इन्द्रियका विषयहरूबाट पुरै वशमा गरिएका हुन्छन्, उसको बुद्धि स्थिर हुन्छ। 'बाहु' कार्यक्षेत्रको प्रतीक हो। भगवान्लाई 'महाबाहु' र 'आजानबाहु' भन्ने गरिन्छ। वहाँले बिना हात-खुट्टाको सबैतिर कार्य गर्नु हुन्छ। वहाँमा जसले प्रवेश पाउँछ वा त्यही भगवत्तातिर अग्रसर छ, त्यो पनि महाबाहु हो। श्रीकृष्ण र अर्जुन दुबैलाई महाबाहु भनिएको छ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

सम्पूर्ण भूत-प्राणिको लागि त्यो परमात्मा रात्रितुल्य छ; किनकि वहाँ देखापर्नु हुन्न। न विचारले नै काम गर्छ- यसैले रात्रि सदृश हो। त्यस रात्रीमा, परमात्मामा संयमी पुरुष राम्ररी देख्छ, हिड्छ, जाग्छ; किनकि त्यहाँ उसको पहुँच छ। योगी इन्द्रियहरूको संयमद्वारा त्यसमा प्रवेश पाउँछ। जुन नाशवान् सांसारिक सुख-भोगको लागि सम्पूर्ण प्राणी रात-दिन परिश्रम गर्छन्, योगीको लागि त्यही निशा (रात्रि) हो।

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी।।
(रामचरितमानस, २/३२३/८)

जुन योगी परमार्थ-पथमा निरन्तर सजग र भौतिक इच्छाहरूबाट पुरै निःस्पृह हुन्छ, त्यसले नै त्यस इष्टमा प्रवेश पाउँछ। ऊ बस्न त संसारमा नै बस्छ; तर संसारको त्यसमाथि प्रभाव पर्दैन। महापुरुषको यस प्रकृतिको चित्रणलाई हेरौं-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

जस्तै सबैतिरबाट परिपूर्ण अचल-प्रतिष्ठा भएको समुद्रमा नदीहरूको पानी त्यसलाई न हल्लाउँदै ठूलो वेगका साथ त्यसमा समाहित हुन्छ, ठीक

त्यसैप्रकार परमात्मामा स्थित, स्थितप्रज्ञ पुरुषमा सम्पूर्ण भोग विकार उत्पन्न न गरीकन त्यसमा समाहित हुन्छ। यस्तो पुरुष परमशान्तिलाई प्राप्त हुन्छ, न कि भोग भोग्नेहरू।

भयंकर वेगले बग्ने सहस्रौं नदीहरूको धारा बाली–नाली नष्ट गर्दै, हत्याहरू गर्दै, नगरहरूलाई बगाउँदै, हाहाकार मचाउँदै बडो वेगले समुद्रमा झर्छन्; तर समुद्रलाई एक इञ्च पनि न माथि उठाउन सक्छ, न तल झार्छ बरू त्यसैमा समाहित हुन्छ, ठीक यसैप्रकार स्थितप्रज्ञ महापुरुषमा सम्पूर्ण भोग त्यत्तिकै वेगले आउँछन्; तर समाहित हुन्छन्। ती महापुरुषहरूमा न शुभ संस्कार दिन सक्छ, न अशुभ। योगीको कर्म अशुक्ल र अकृष्ण हुन्छन्। किनकि जुन चित्तमा संस्कार पर्दछ, त्यसको निरोध र विलिनीकरण भइसक्यो। यसको साथै भगवत्ताको स्थिति आयो। अब संस्कार परे पनि कहाँ पर्ने? यो एउटै श्लोकमा श्रीकृष्णले अर्जुनका अनेकौं प्रश्नहरूको समाधान गरिदिनु भयो। उसको जिज्ञासा थियो कि स्थितप्रज्ञ महापुरुषको लक्षण के हो? उ कसरी बोल्छ, बस्छ, हिंड्छ? श्रीकृष्णले एउटै शब्दमा उत्तर दिनुभयो कि ऊ समुद्र जस्तै हुन्छ। उसको लागि विधि–निषेध हुँदैन कि यसरी बस र यसरी हिड। ऊ नै परमशान्तिलाई प्राप्त हुन्छ; किनकि संयमी हुन्छ। भोगहरूको कामना गर्नेले शान्ति पाउँदैन। यसमाथि फेरि जोड (बल) दिनुहुन्छ–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाहरूलाई त्यागेर '**निर्ममः**'– म र मेरो भाव तथा अहंकार र स्पृहाबाट रहित आचरण गर्छ, त्यो त्यस परमशान्तिलाई प्राप्त हुन्छ, त्यसपछि केही पनि पाउन बाँकी रहँदैन।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

पार्थ ! उपरोक्त स्थिति ब्रह्मलाई प्राप्त भएको पुरुषको स्थिति हो। समुद्रजस्ता ती महापुरुषहरूमा विषय नदीहरू जस्तै त्यसमा मिसिन्छन्। उनी पूर्ण संयमी र प्रत्यक्षतः परमात्मदर्शी हुन्। मात्र 'अहं ब्रह्मास्मि' पढेर वा रटेर यो स्थिति

पाइदैन। साधन गरेर नै यस ब्रह्मको स्थितिलाई पाउन सकिन्छ। यस्तो महापुरुष ब्रह्मनिष्ठामा स्थित भएर शरीरको अन्तकालमा पनि ब्रह्मानन्दलाई नै प्राप्त हुन्छ।

निष्कर्ष-

प्रायः केही मानिसहरू भन्छन् कि दोस्रो अध्यायमा गीता पूरा भयो, तर यदि कर्मको नाममात्र लिएर कर्म पूरा हुन्छ भने गीताको समापन मात्र सकिन्छ। यस अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले यही भन्नुभयो कि– अर्जुन! निष्काम कर्मयोगको विषयमा सुन, जसलाई जानेर तिमी संसारको बन्धनबाट मुक्त हुनेछौ। कर्म गर्नु तिम्रो अधिकार हो, फलमा होइन। कर्म गर्नमा तिम्रो अश्रद्धा पनि न होस्। निरन्तर गर्नको लागि तत्पर होऊ। यसको परिणाममा तिमी '**परं दृष्ट्वा**' (२/५९)– परमपुरुषको दर्शन गरेर स्थितप्रज्ञ बन्नेछौ, परमशान्ति पाउनेछौ; तर यो बताएनन् कि 'कर्म' के हो?

यो 'सांख्ययोग' नामक अध्याय होइन। यो नाम शास्त्रकारको होइन, बरू टीकाकारहरूको देन हो। उनीहरू आफ्नो बुद्धिको अनुसार नै ग्रहण गर्छन् भने आश्चर्य के छ?

यस अध्यायमा कर्मको गरिमा, त्यसलाई गर्नमा अपनाउनु पर्ने सावधानी र स्थितप्रज्ञको लक्षण भनेर श्रीकृष्णले अर्जुनको मनमा कर्मको प्रति उत्कण्ठा जगाए, उसलाई केही प्रश्न दिनुभयो। आत्मा शाश्वत छ, सनातन छ, उसलाई जानेर तत्वदर्शी बन। यसलाई प्राप्त गर्ने दुई साधनहरू छन्– 'ज्ञानयोग' र 'निष्काम कर्मयोग'।

आफ्नो शक्तिलाई बुझेर, हानि–लाभको स्वयं निर्णय लिएर कर्ममा प्रवृत्त हुनु ज्ञानमार्ग हो तथा इष्टमा निर्भर भएर समर्पणका साथ त्यही कर्ममा प्रवृत्त हुनु निष्काम कर्ममार्ग वा भक्तिमार्ग हो। गोस्वामी तुलसीदासले दुबैको चित्रण यसप्रकार गर्नुभएको छ–

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही।।
(रामचरितमानस, ३/४२/८-९)

मलाई दुई प्रकारले भजन गर्नेहरू छन्– एउटा ज्ञानमार्गी, अर्को भक्तिमार्गी। निष्काम कर्ममार्गी वा भक्तिमार्गी शरणागत भएर मेरो आश्रय लिएर हिड्छ, ज्ञानयोगी आफ्नो शक्ति सामुन्ने राखेर, आफ्नो हानि–लाभको विचार गरेर आफ्नै भरमा हिड्छ, जबकि दुबैको शत्रु एउटै हो। ज्ञानमार्गीले काम–क्रोध आदि शत्रुहरूमाथी विजय पाउनु छ र निष्काम कर्मयोगीले पनि यसैसँग युद्ध गर्नुछ। कामनाहरूको त्याग दुबैले गर्दछन् र दुबै मार्गहरूमा गर्ने कर्म पनि एउटै हो। "यस कर्मको परिणाममा परमशान्तिलाई प्राप्त गर्नेछौ।" तर यो भनेनन् कि कर्म के हो? अब तपाईको अगाडि पनि कर्म एउटा प्रश्न छ। अर्जुनको मनमा पनि कर्मको प्रति जिज्ञासा भयो। तेस्रो अध्यायको आरम्भमा नै उसले कर्म–विषयक प्रश्न प्रस्तुत गरे। अत:–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्याय:।।२।।

यसप्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको संवादमा 'कर्मजिज्ञासा' नामक दोस्रो अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीताया: 'यथार्थगीता' भाष्ये 'कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्याय:।।२।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'कर्मजिज्ञासा'नामको दोस्रो अध्याय समाप्त हुन्छ।

।। हरि: ॐ तत्सत् ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

।। अथ तृतीयोऽध्यायः ।।

तेस्रो अध्याय

अध्याय दुईमा भगवान् श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि यो बुद्धि तिम्रोलागि ज्ञानमार्गको विषयमा भनिएको हो। कुन बुद्धि? यो नै कि युद्ध गर। जितेपछि महामहिमको स्थिति प्राप्त गर्नेछौ र हारेपछि देवत्व छ। जीतमा सर्वस्व छ र हारपछि पनि देवत्व छ। केहीं पाउँछौ नै। अतः यस दृष्टिले लाभ र हानि दुवैमा केही न केही पाइन्छ नै। थोरै पनि क्षति हुँदैन। फेरि भने, अब यसैलाई तिमी निष्काम कर्मयोगको विषयमा सुन– जुन बुद्धिसँग युक्त भएर तिमी कर्महरूको बन्धनबाट राम्रो ढँगले छुट्कारा पाउने छौ। फेरि उसको विशेषताहरूमा प्रकाश पार्नुभयो। कर्म गर्ने बेला आवश्यक सावधानीहरूमा जोड (बल) दिए कि फलको वासना गर्ने नहोऊ, कामनाबाट रहित भएर, कर्ममा प्रवृत्र होऊ र कर्ममा तिम्रो अश्रद्धा पनि नहोओस्, जसबाट तिमी कर्मबन्धनबाट मुक्त हुनेछौं। मुक्त त हुनेछौ, तर बाटोमा आफ्नो स्थिति देखा परेन।

अतः अर्जुनलाई निष्काम कर्मयोगभन्दा ज्ञानमार्ग सजिलो र प्राप्ति हुनसक्ने प्रतीत भयो। उनले प्रश्न गरे– जनार्दन! निष्काम कर्मभन्दा ज्ञानमार्गै तपाईको दृष्टिमा श्रेष्ठ छ भने मलाई भयंकर कर्ममा किन लगाउनु हुन्छ? प्रश्न स्वभाविक थियो। मानौं कि एउटै स्थानमा जानको लागि दुई बाटोहरू छन्। यदि तपाईलाई वास्तवमा जानु छ भने तपाई अवश्य प्रश्न गर्नु हुनेछ कि यसमा सजिलो कुन हो? यदि गुर्न हुन्न भने तपाई बटुवा होइन। ठीक यसैप्रकार अर्जुनले पनि प्रश्न राखे–

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

जनहरूमा दयागर्ने जनार्दन! यदि निष्काम कर्मयोगभन्दा ज्ञानयोग तपाईलाई श्रेष्ठ मान्य छ भने हे केशव! तपाई मलाई भयंकर कर्मयोगमा किन लगाउनु हुन्छ?

निष्काम कर्मयोगमा अर्जुनलाई भयंकरता देखियो; किनकि यसमा कर्म गर्नमा नै अधिकार छ, फलमा कहिल्यै पनि छैन। कर्म गर्नमा अश्रद्धा पनि नहोस् र निरन्तर समर्पणको साथ योगमा दृष्टिराख्दै कर्ममा लागिरहन्छ। जबकि ज्ञानमार्गमा हारेपछि देवत्व छ, जितेपछि महामहिमको स्थिति छ। यसप्रकार अर्जुनलाई निष्काम कर्मयोगभन्दा ज्ञानमार्ग सजिलो प्रतीत भयो। यसैले उनले निवेदन गरे-

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

तपाई यी मिसिएका (छ्यासमिस) कुराहरूबाट मेरो बुद्धिलाई मोहित जस्तै गर्नुहुन्छ। तपाईले मेरो बुद्धिको मोहलाई हटाउन प्रवृत्त हुनु भएको छ। अतः यीमध्ये कुनै एउटा निश्चय गरेर भन्नुस्, जसबाट म **'श्रेय'**- परमकल्याण मोक्ष प्राप्त गर्न सकूँ। यसमा श्रीकृष्णले भन्नुभयो-

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

निष्पाप अर्जुन! यो संसारमा सत्य-शोधका दुई धाराहरू मबाट पहिले भनिएका छन्। पहिलोको तात्पर्य कुनै बेला सतयुग वा त्रेतामा होइन बरू भर्खरै जुन दोश्रो अध्यायमा भनिएको छ- ज्ञानीहरूको लागि ज्ञानमार्ग र योगीहरूको लागि निष्काम कर्ममार्ग भनिएको छ। दुबै मार्गहरूका अनुसार कर्म त गर्नु नै पर्नेछ। कर्म अनिवार्य छ।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अर्जुन! मानिस कर्महरूलाई न आरम्भ गर्नुभन्दा पहिले निष्कर्मताको अन्तिम स्थितिलाई प्राप्त हुन्छ र न त आरम्भ गरिएका क्रियालाई त्यागेरमात्र भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धिलाई नै प्राप्त गर्दछ। अब तिमीलाई ज्ञानमार्ग राम्रो लागोस् वा निष्काम कर्ममार्ग, दुबैमा कर्म त गर्नु नै पर्नेछ।

प्रायः यस स्थलमा मानिसहरू भगवत्पथमा सानो बाटो र बचाऊ खोज्न लाग्दछन्। "कर्म आरम्भ नै गरेन, भइगए निष्कर्मी"– कतै यस्तो भ्रम न रहोस्। यसैले श्रीकृष्ण जोड दिनुहुन्छ कि कर्महरूलाई आरम्भ नगर्नाले कोही निष्कर्मभावलाई प्राप्त गर्दैन। शुभाशुभ कर्महरूको जहाँ अन्त्य हुन्छ, त्यहाँ परमनिष्कर्मताको त्यस स्थितिलाई कर्म गरेर नै पाउन सकिन्छ। यसैप्रकार धेरै मानिसहरू भन्दछन्, "हामी त ज्ञानमार्गी हौं, ज्ञानमार्गमा कर्म छदै छैन।"– यस्तो मानेर कर्महरूलाई त्याग्नेहरू ज्ञानी हुँदैनन्। आरम्भ गरिएको क्रियालाई त्याग्नुमात्रले कोही भगवत्साक्षात्काररूपी परमसिद्धिलाई प्राप्त गर्दैन; किनकि–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कुनै पनि मानिस कुनै कालमा क्षणमात्र पनि कर्म नगरीकन बस्न सक्दैन; किनकि सबै मानिस प्रकृतिद्वारा उत्पन्न भएका गुणहरूबाट विवश भएर कर्म गर्दछन्। प्रकृति र प्रकृतिबाट उत्पन्न गुण जबसम्म जीवित छन् तबसम्म कुनै पनि पुरुष कर्म नगरीकन बस्नै सक्दैन।

अध्याय चारको तैतिसौं र सैतिसौं श्लोकमा श्रीकृष्णले भन्नुहुन्छ कि यावन्मात्र कर्म ज्ञानमा समाप्त हुन्छन्। ज्ञानरूपी अग्निले सम्पूर्ण कर्महरूलाई भस्म गरिदिन्छ। यहाँ उनी भन्छन् कि कर्म नगरीकन कोही बस्नै सक्दैन्। अन्त्यमा ऊ महापुरुषले के भन्नुहुन्छ? वहाँको आशय यो छ कि यज्ञ गर्दा–गर्दै तीनवटै गुणहरूबाट अतीत भएपछि मनको विलय र साक्षात्कारको साथ यज्ञको परिणाम निस्केपछि कर्म समाप्त हुन्छन्। त्यस निर्धारित क्रियाको पूर्णताभन्दा पहिले कर्म मेटिदैन, प्रकृतिले पिण्ड छाड्दैन।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

यति हुँदा-हुँदै विशेषरूपले मुर्ख मानिसहरू, जो कर्मेन्द्रियहरूलाई हठले रोकेर इन्द्रियहरूका भोगलाई मनले स्मरण गरी रहन्छन्, उनीहरू मिथ्याचारी हुन्, पाखण्डी हुन्, न कि ज्ञानी। सिद्ध छ कि श्रीकृष्णकालमा पनि यस्ता रुढिहरू थिए। मानिसहरू गर्नेयोग्य क्रियालाई छोडेर इन्द्रियहरूलाई हठले रोकेर बस्दथे र भन्दथे कि "म ज्ञानी हुँ", "पूर्ण छु"। तर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि उनीहरू धूर्त हुन्। ज्ञानमार्ग राम्रो लागोस् वा निष्काम कर्मयोग, दुबै मार्गहरूमा त कर्म गर्नु नै पर्नेछ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

अर्जुन! जो पुरुष मनले इनिदैयहरूलाई वशमा राखेर, जब मनमा पनि वासनाहरूको स्फुरण हुँदैन, बिल्कुलै अनासक्त भएर कर्मेन्द्रियहरूबाट कर्मयोगको आचरण गर्दछ, त्यो श्रेष्ठ हो। ठीक छ, बुझें कि कर्मको आचरण गरुँ; तर यहाँ प्रश्न उठ्छ कि कुन कर्म गरुँ? यसमा भन्नुहुन्छ-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

अर्जुन! तिमी निर्धारित गरिएको कर्मलाई गर। अर्थात् कर्म त धेरै छन्, ती मध्ये कुनै एउटा छानिएको छ, त्यही नियत कर्मलाई गर। कर्म नगर्नुभन्दा कर्म गर्नु नै श्रेष्ठ हो। यस कारण कि गरिराख्यो भने, थोरै पनि बाटो हिड्यो जस्तो कि पहिले भनिसकिएको छ- महान् जन्म-मृत्युको भयबाट उद्धार गर्ने छ, यसैले श्रेष्ठ छ। कर्म नगरेमा तिम्रो शरीर-यात्रा पनि सिद्ध हुने छैन। शरीर-यात्राको अर्थ मानिसहरू भन्दछन्- 'शरीर-निर्वाह'। कस्तो शरीर-निर्वाह? के तपाई शरीर हुनुहुन्छ? यो पुरुष जन्म-जन्मान्तरदेखि, युग-युगान्तरदेखि शरीरको यात्रा नै गर्दै आइरहेको छ। जस्तै वस्त्र पुरानो भयो भने दोस्रो-तेस्रो धारण गर्छन्, यसैप्रकार कीरा-फट्याङग्रादेखि लिएर मानव, ब्रह्मादेखि लिएर सम्पूर्ण

संसार परिवर्तनशील छ। तलमाथिका योनिहरूमा बराबर यो जीवले शरीरहरूको नै यात्रा गर्दैछ। 'कर्म' कुनै यस्तो वस्तु हो, जो यस यात्रालाई सिद्ध गरिदिन्छ, पूर्ण गरिदिन्छ। मानौं कि एउटा पनि जन्म लिनुपर्‍यो भने यात्रा जारी छ, अहिलेसम्म बटुवा हिड्दै छ। ऊ अरु-अरु शरीरहरूको यात्रा गर्दैछ। यात्रा पूर्ण तब हुन्छ, जब गन्तव्यमा पुगिन्छ। परमात्मामा स्थिति भएपछि यस आत्मालाई शरीरहरूको यात्रा गरी रहनु पर्दैन अर्थात शरीर-त्याग र शरीर-धारणगर्ने क्रम समाप्त हुन्छ। अतः कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो कि यस पुरुषलाई फेरि शरीरहरूको यात्रा गर्नु पर्दैन। **'मोक्ष्यसेऽशुभात्' (गीता, ४/१६)**- अर्जुन! यस कर्मलाई गरेर तिमी संसार-बन्धन 'अशुभ'बाट छुटकारा पाउनेछौं। कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो, जसले संसार-बन्धनबाट मुक्ति दिलाउँछ। अब प्रश्न उठ्छ कि त्यो निर्धारित कर्म के हो? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

हे कौन्तेय! यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। त्यो क्रिया नै कर्म हो जसबाट यज्ञ पूर्ण हुन्छ। सिद्ध छ कि कर्म एउटा निर्धारित प्रक्रिया हो। यसको अतिरिक्त जुन कर्महरू हुन्छन्, के ती कर्म होइनन्? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- होइन, त्यो कर्म होइन। **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**- यो यज्ञको प्रक्रियाको अतिरिक्त संसारमा जे जति गरिन्छ, सम्पूर्ण संसार जसमा रात-दिन व्यस्त छ, त्यो यसै लोकको एउटा बन्धन हो, न कि कर्म। कर्म त **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'**- अशुभ अर्थात् संसार-बन्धनबाट छुटकारा दिने हो। मात्र यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। त्यो कार्य नै कर्म हो, जसबाट यज्ञ पूर्ण हुन्छ। अतः अर्जुन! त्यस यज्ञको पूर्तिको लागि सँग-दोषबाट अलग भएर राम्ररी कर्मको आचरण गर। सँग-दोषबाट अलग नभइकन यो कर्म नै हुँदैन।

अब हामीले थाहा पायौं कि 'यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो'; तर यहाँ फेरि एउटा नवीन प्रश्न उठयो कि त्यो यज्ञ के हो, जसलाई गर्न सकियोस्? यसको लागि पहिले यज्ञको बारेमा न भनेर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि यज्ञ कहाँबाट आयो? यसले के दिन्छ? त्यसको विशेषतामाथि प्रकाश पार्नुभयो र चौथो

अध्यायमा गएर स्पष्ट गर्नुभयो कि यज्ञ के हो, जसलाई हामीले कार्यरूप दिन सकौं र हामीबाट कर्म होओस्? योगेश्वर श्रीकृष्णको शैलीबाट स्पष्ट छ कि जुन वस्तुको चित्रण गर्नुछ, वहाँले पहिले त्यसको विशेषताहरूको चित्रण गर्नुहुन्छ जसबाट श्रद्धा जागृत होस्, त्यसपछि वहाँ त्यसमा अपनाउनुपर्ने सावधानीहरूमाथि प्रकाश पार्नु हुन्छ र अन्त्यमा मुख्य सिद्धान्त प्रतिपादन गर्नुहुन्छ।

स्मरण रहोस् कि यहाँ श्रीकृष्णले कर्मको दोस्रो अँगमाथि प्रकाश पार्नु भयो कि कर्म एउटा निर्धारित क्रिया हो। जो जसो गरिन्छ, त्यो कर्म होइन।

अध्याय दुईमा पहिलो पटक कर्मको नाम लिनुभयो, त्यसको विशेषताहरूमा जोड (बल) दिनुभयो, त्यसमा अपनाउनुपर्ने सावधानीहरूमा प्रकाश पार्नुभयो; तर यो भन्नु भएन कि कर्म के हो? यहाँ अध्याय तीनमा बताउनभयो कि कर्म नगरीकन कोही बस्न सक्दैन। प्रकृतिबाट पराधीन भएर मानिस कर्म गर्छन्। यस्तो भए पनि मानिसहरू इन्द्रियहरूलाई हठपूर्वक रोकेर मनले विषयहरूको चिन्तन गर्छन्, उनीहरू दम्भी हुन्, दम्भको आचरण गर्नेहरू हुन्। यसैले हे अर्जुन! मनले इन्द्रियहरूलाई समेटेर तिमी कर्म गर। तर प्रश्न जस्ताको त्यस्तै छ कि कुन कर्म गर्ने? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! तिमी निर्धारित गरिएको कर्म गर।

अब प्रश्न उठ्छ कि निर्धारित कर्म के हो, जसलाई हामी गरौं? तब वहाँले बताउनुभयो कि यज्ञलाई कार्यरूप दिनु नै कर्म हो। फेरि प्रश्न उठ्छ कि त्यो यज्ञ के हो? यहाँ यज्ञको उत्पत्ति, विशेषता बताएर शान्त हुनु हुनेछ र अगाडि अध्याय चारमा यज्ञको पुरा रूप पाइनेछ, जसलाई गर्नु 'कर्म' हो।

कर्मको यो परिभाषा गीतालाई बुझ्ने साँचो हो। यज्ञको अतिरिक्त संसारमा मानिसहरू केही न केही गर्दै रहन्छन्। कोही खेती गर्छ त कोही व्यापार, कोही पदासीन छ भने कोही सेवक, कोही आफूलाई बुद्धिजीवी भन्दछ भने कोही श्रमजीवी, कोही समाज–सेवालाई कर्म मान्दछ भने कोही देश–सेवालाई र यीनै कर्महरूमा मानिसहरू सकाम र निष्काम कर्मको भूमिका बनाएर बसेका छन्। तर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि ती कर्म होइनन्। **'अन्यत्र लोकोऽयं**

कर्मबन्धनः'- यज्ञको प्रक्रियाको अतिरिक्त जे जति पनि गरिन्छ, त्यो यसै लोकको बन्धनकारी कर्म हो न कि मोक्ष प्रदान गर्ने कर्म। वस्तुतः यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। अब यज्ञको बारेमा न भनेर पहिले यो बताउनु हुन्छ कि यज्ञ कहाँबाट आयो?-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

प्रजापति ब्रह्माले कल्पको आदिमा यज्ञसहित प्रजालाई रचेर भने कि यस यज्ञद्वारा बृद्धिलाई प्राप्त होऊ। यो यज्ञ तिमीहरूको '**इष्टकामधुक्**'- जसबाट अनिष्ट नहोस्, विनाशरहित इष्ट-सम्बन्धी कामनाको पूर्ति गर्नेछ।

यज्ञसहित प्रजालाई कसले रच्यो? प्रजापति ब्रह्माले। ब्रह्मा को हो? के चार मुख र आठवटा आँखा भएका देवता, जस्तो कि प्रचलित छ? होइन, श्रीकृष्णको अनुसार देवता नामको कुनै छुटै सत्ता छँदै छैन। फेरि प्रजापति को हुन्? वस्तुतः जसले प्रजाको मूल उद्गम परमात्मामा प्रवेश गरिसकेको छ, त्यो महापुरुष प्रजापति हो। बुद्धि नै ब्रह्मा हो।- '**अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान।**' (**रामचरितमानस, ६/१५क**) त्यस समय बुद्धि यंत्रमात्र हुन्छ। त्यस पुरुषको वाणीमा परमात्मा नै बोल्छ।

भजनको वास्तविक क्रिया प्रारम्भ भएपछि बुद्धिको उत्तरोत्तर उत्थान हुन्छ। प्रारम्भमा त्यो बुद्धि ब्रह्मविद्यासँग सँयुक्त हुनाले 'ब्रह्मवित्' कहलाउँछ। क्रमशः विकारहरूको शमन भएपछि ब्रह्मविद्यामा श्रेष्ठ हुनाले 'ब्रह्मविद्वर' भन्ने गरिनछ। उत्थान अरू सूक्ष्म भएपछि बुद्धिको अवस्था विकसित हुन्छ, त्यसलाई 'ब्रह्मविद्वरीयान' भन्ने गरिन्छ। त्यस अवस्थामा ब्रह्मविद्वेता पुरुषले अरूलाई पनि उत्थान मार्गमा ल्याउनसक्ने अधिकार प्राप्त गर्छ। बुद्धिको पराकाष्ठा हो 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' अर्थात् ब्रह्मवित् को त्यो अवस्था, जसमा इष्ट प्रवाहित छ। यस्तो स्थितिवाला महापुरुष प्रजाको मूल उद्गम परमात्मामा प्रविष्ट र स्थिर रहन्छ। यस्ता महापुरुषहरूको बुद्धि मात्र यन्त्र हो, त्यो नै प्रजापति कहलाउँछ। उनी प्रकृतिको द्वन्द्वको विश्लेषण गरेर 'आराधना-क्रिया'को रचना गर्छन्। यज्ञको अनुरूप संस्कार दिनु नै प्रजाको रचना हो। यसभन्दा पूर्व समाज

अचेत, अव्यवस्थित रहन्छ। सृष्टि अनादि छ, संस्कार पहिलेदेखि नै छन्; तर अस्त-व्यस्त विकृत छन्। यज्ञको अनुरूप उनलाई ढाल्नु नै रचना वा सजाउनु हो।

यस्तो महापुरुषले कल्पको आदिमा यज्ञसहित प्रजाको रचना गरे। कल्पले निरोगी बनाउँछ। बैदले कल्प दिन्छ; कसैले कायाकल्प गर्दछ। यो क्षणिक शरीरहरूको कल्प हो। वास्तविक कल्प तब हुन्छ जब भवरोगबाट मुक्ति मिलोस्। आराधनाको प्रारम्भ यस कल्पको शुरुआत हो। आराधना पूरा भएपछि तपाईको कल्प पूराभयो।

यसप्रकार परमात्मा स्वरूपस्थ महापुरुषले भजनको प्रारम्भमा यज्ञसहित संस्कारहरूलाई सुसंगठित गरेर भने कि यस यज्ञद्वारा तिमी बृद्धिलाई प्राप्त होऊ। कस्तो बृद्धि? के घर कच्चीबाट पक्की बन्नेछ? आम्दानी बढी हुनलाग्नेछ। होइन, यज्ञ 'इष्टकामधुक्'- इष्ट-सम्बन्धी कामनाको पूर्ति गर्नेछ। इष्ट हो परमात्मा, त्यस परमात्मा-सम्बन्धी कामनाको पूर्तिगर्ने हो। प्रश्न स्वाभाविक छ कि यज्ञले सोझै त्यस परमात्माको प्राप्ति गराईदिनेछ अथवा क्रमिक रूपमा हिडेर-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

यस यज्ञद्वारा देवताहरूको उन्नति गर अर्थात् दैवी सम्पद्को बृद्धि गर। ती देवताहरूले तिमीहरूको उन्नति गर्नेछन्। यसप्रकार आपसमा बृद्धिगर्दै परमश्रेय, जसको पछि केही पनि पाउन शेष नरहोस, यस्तो परमकल्याणलाई प्राप्त गर। जसो-जसो हामी यज्ञमा प्रवेश गर्नेछौं (अगाडि यज्ञको अर्थ हुनेछ आराधनाको विधि) त्यसो-त्यसो हृदय-देशमा दैवी सम्पद् अर्जित हुँदै जानेछ। 'परमदेव' एकमात्र परमात्मा हो, त्यस परमदेवमा प्रवेश दिलाउने जो सम्पद छ, अन्तःकरणको जो सजातीय प्रवृत्ति छ, त्यसैलाई 'दैवी सम्पद्' भनिन्छ। त्यसले परमदेवलाई सम्भव गराउँछ, यसैले दैवी सम्पद् भनिन्छ, न कि बाहिरी देवता-ढुङ्गा-पानी, जस्तो मानिसहरू कल्पना गर्छन्। योगेश्वर श्रीकृष्णको शब्दमा तिनीहरूको कुनै अस्तित्व नै छैन। अगाडि भन्नुहुन्छ-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

यज्ञद्वारा संवर्धित देवता (दैवी सम्पद्) तपाईको '**इष्टान् भोगान् हि दास्यन्ते**'- इष्ट अर्थात् आराध्य-सम्बन्धी भोगहरूलाई दिनुहुनेछ, अरू केही पनि होइन। '**तैः दत्तान्**'- वहाँ नै एकमात्र दाता हुनुहुन्छ। इष्टलाई पाउने अरू कुनै विकल्प नै छैन। यी दैवी गुणहरूलाई नबढाइकन जसले यस स्थितिको भोग गर्छ त्यो निश्चय नै चोर हो। जब उसले पाएकै छैन भने के भोग्नेछ? तर अवश्य भन्छन् कि हामी त पूर्णछौं, तत्वदर्शीहौं। यस्तो गफ दिनेहरू यस पथबाट मुख लुकाउने खालका हुन्। त्यो निश्चय नै चोर हो, न कि प्राप्तिवाल। तर प्राप्ति गर्नेले के पाउँछन्?-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

यज्ञबाट बचेको अन्नलाई खाने सन्तजन सबै पापहरूबाट मुक्त हुन्छन्। दैवी सम्पद्को बृद्धि गर्दा-गर्दै परिणाममा प्राप्तिकाल नै पूर्तिकाल हो। जब यज्ञ पूर्ण भयो, तब बाँकी बचेको ब्रह्म नै अन्न हो। यसैलाई श्रीकृष्णले अर्को शब्दमा भन्नुभयो- '**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।**'- यज्ञले जसको सृष्टि गर्छ त्यस भोज्य पदार्थलाई खानेहरू ब्रह्ममा प्रविष्ट हुन्छन्। यहाँ, वहाँले भन्नुहुन्छ कि यज्ञबाट बाँकी बचेको पदार्थलाई (ब्रह्म-पीयूषलाई) ग्रहण गर्नेहरु सबै पापहरूबाट छुटकारा पाउँछन्। सन्तजनले त छुटकारा पाउँछन्; तर पापी मानिसहरू मोहले उत्पन्न शरीरहरूको लागि कठोर श्रम गर्छन्। उनीहरू पाप खान्छन्। उनीहरूले भजन पनि गरे, आराधनालाई बुझे, अग्रसर पनि भए; तर त्यसको सट्टामा एउटा मिठो चाहना उत्पन्नभयो कि '**आत्मकारणात्**'- शरीरकोलागि र शरीरका सम्बन्धहरूका लागि केही पाइयोस्। उसले पाउनेछ; तर त्यति भोग गरेपछि त्यसले आफूलाई त्यहीं उभेको पाउनेछ, जहाँबाट हिड्न प्रारम्भ गरेको थियो। यसभन्दा ठूलो क्षति के होला? जब शरीर नै नश्वर छ, तब यसको सुखभोगले कहिलेसम्म साथ दिनेछ? उनीहरू आराधना त गर्छन्, तर सट्टामा पापलाई नै खान्छन्।

'पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।' त्यो नष्ट त हुनेछैन तर अगाडि पनि जाने छैन। यसैले श्रीकृष्ण निष्कामभावले कर्म गर्नमा बल दिनुहुन्छ। श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि यज्ञ परमश्रेय दिन्छ र त्यसको रचना महापुरुषहरूद्वारा हुन्छ; तर ती महापुरुष प्रजाको रचनामा किन प्रवृत्त हुन्छन्? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

सम्पूर्ण प्राणी अन्नबाट उत्पन्न हुन्छन्। **'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'** (तैत्तरीयोपनिषद्–भृगुवल्ली, २/१) अन्न परमात्मा नै हो। त्यस ब्रह्मपीयूषलाई नै उद्देश्य बनाएर प्राणी यज्ञतिर अग्रसर हुन्छ। अन्नको उत्पत्ति वष्टिबाट हुन्छ। बादलहरूबाट हुने वर्षा होइन, बरू कृपावृष्टिद्वारा। पूर्व संचित यज्ञकर्म नै यस जन्ममा, जहाँबाट साधना छुटेको थियो, त्यहींबाट इष्ट कृपाको रूपमा बर्सन्छ। आजको आराधना भोली कृपाको रूपमा पाइनेछ, यसैले वृष्टि यज्ञबाट हुन्छ। स्वाहा भन्ने र तिल–जौ जलाएपछि नै वृष्टि हुने भए विश्वको अधिकांश मरुभूमि खडेरी भएर किन रहन्थे? उपजाऊ भूमि बन्थे। यहाँ कृपावृष्टि यज्ञको देन हो। यो यज्ञ कर्महरूबाट नै उत्पन्न हुने हो, कर्मद्वारा यज्ञ पूरा हुन्छ।

त्यस कर्मलाई वेदबाट उत्पन्न भएको जान। वेद ब्रह्मस्थित महापुरुषहरूको वाणी हो। जुन तत्व विदित छैन, त्यसको प्रत्यक्ष अनुभूतिको नाम वेद हो, न कि केही श्लोक–संग्रह। वेदलाई अविनाशी परमात्माबाट उत्पन्न भएको जान। भन्न त महात्माहरूले भने; तर उनीहरू परमात्मासँग तद्रूप भैसकेका छन्, उनको माध्यमबाट अविनाशी परमात्मा नै बोल्छ, यसैले वेदलाई अपौरुषेय भनिन्छ। महापुरुषले वेद कहाँबाट पाए? वेद अविनाशी परमात्माबाट उत्पन्न भयो। ती महापुरुष परमात्माको जस्तै रूप हुन्, ती मात्र यन्त्र हुन्, यसैले उनीद्वारा उही बोल्छ। किनकि यज्ञद्वारा नै मनको निरोधकालमा ऊ विदित हुन्छ। यसैले सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सधैं यज्ञमा नै प्रतिष्ठित हुन्छ। यज्ञ नै उसलाई पाउने एकमात्र उपाय हो। यसैमा वहाँ जोड (बल) दिनुहुन्छ–

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

हे पार्थ! जो पुरुष यसै लोकमा मनुष्य-शरीर प्राप्त गरेर यसप्रकार चलाइएको साधन-चक्रको अनुसार क्रिया गर्दैन अर्थात् दैवी सम्पद्को उत्कर्ष, देवताहरूको बृद्धि र परस्पर बृद्धिद्वारा अक्षयधाम प्राप्तगर्नु- यस क्रमको अनुसार जसले क्रिया गर्दैन, इन्द्रियहरूको आरामचाहने त्यो 'पापायु' पुरुष व्यर्थ नै बाँच्दछ।

बन्धुहरू! योगेश्वर श्रीकृष्णले अध्याय दुइमा कर्मको नाम लिनुभयो र यस अध्यायमा भन्नुभयो कि नियत कर्मको आचरण गर यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। यो बाहेक जे जति गरिन्छ, त्यो यसै लोकको बन्धन हो। यसैले सँग-दोषबाट अलग रहेर त्यस यज्ञको पूर्तिको लागि कर्मको आचरण गर। वहाँले यज्ञको विशेषताहरूमाथि प्रकाश पार्नुभयो कि यज्ञको उत्पत्ति ब्रह्माबाट भएको हो। प्रजा अन्नलाई उद्देश्य बनाएर त्यस यज्ञमा प्रवृत्त हुन्छन्। यज्ञ कर्मबाट र कर्म अपौरुषेय वेदबाट उत्पन्न हुन्छ, जबकि वेद-मन्त्रहरूको द्रष्टा महापुरुष नै थिए। यसैले वेद परमात्माबाट उत्पन्न भएको हो। सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञमा सधैं प्रतिष्ठित छन्। यस साधन-चक्रको अनुसार जसले क्रिया गर्दैन, त्यो पापायु पुरुष इन्द्रियहरूको सुखचाहने हो, व्यर्थ नै बाँच्छ। अर्थात् यज्ञ यस्तो विधि-विशेष हो, जसमा इन्द्रियहरूको आराम छैन बरू अक्षय सुख छ। इन्द्रियहरूको संयम साथ यसमा लागीपर्ने विधान छ। इन्द्रियहरूको सुख चाहनेहरू पापायु हुन्। अहिलेसम्म श्रीकृष्णले भन्नुभएको छैन कि यज्ञ के हो? तर के यज्ञ गरी नै रहनेछौं वा यसको कुनै बेला अन्त्य पनि हुनेछ? यसमा योगेश्वर भन्नुहुन्छ-

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

तर जो मनुष्य आत्मामा नै लागेको, आत्मतृप्त र आत्मामा नै सन्तुष्ट छ, उसको लागि कुनै कर्तव्य बाँकी नै रहदैन। यो नै लक्ष्य थियो। जब अव्यक्त, सनातन, अविनाशी, आत्मतत्व प्राप्तभयो, तब अगाडि खोज्ने

कसलाई? यस्तो पुरुषको लागि न कर्मको आवश्यकता छ, न कुनै आराधनाको। आत्मा र परमात्मा एक अर्काका पर्याय हुन्। यसलाई फेरि चित्रण गर्नुहुन्छ–

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

यस संसारमा त्यस पुरुषलाई कर्म गरेर केही लाभ छैन र न छोडे केही हानि छ, जबकि पहिले आवश्यक थियो। उसको सम्पूर्ण प्राणिहरूमा कुनै स्वार्थ–सम्बन्ध रहदैन। आत्मा नै त शाश्वत, सनातन, अव्यक्त, अपरिवर्तनशील र अक्षय हो। जब उसैलाई नै पाउनुभयो, उसैबाट सन्तुष्ट, उसैबाट तृप्त, त्यसैमा ओत–प्रोत र स्थित हुनुहुन्छ, अगाडि कुनै सत्ता नै रहँदैन भने कसलाई खोज्ने? के पाइनेछ? त्यस पुरुषले कर्म छाडिदिएमा केही हानि पनि छैन; किनकि विकार जसमा अङ्कित हुन्छन्, त्यो चित्त नै रहेन। यसको सम्पूर्ण भूतहरूमा, बाहिरी संसार र आन्तरिक संकल्पहरूको तहमा अलिकति पनि अर्थ रहँदैन। सबैभन्दा ठूलो अर्थ त परमात्मा थियो, जब त्यो नै प्राप्त भयो भने अरूसँग उसको के प्रयोजन होला?

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

यस स्थितिलाई प्राप्त गर्न तिमी अनासक्त भएर निरन्तर '**कार्यं कर्म**'– जो गर्ने योग्य कर्म हो, त्यस कर्मलाई राम्ररी गर। किनकि अनासक्त पुरुष कर्मका आचरणबाट परमात्मालाई प्राप्त हुन्छ। 'नियत कर्म' र 'कार्यं कर्म' एउटै हुन्। कर्मको प्रेरणा दिंदै वहाँ भन्नुहुन्छ–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

जनक भनेको राजा जनक होइन, जनक जन्मदातालाई भनिन्छ। योग नै जनक हो। तपाईको स्वरूपलाई जन्मदिन्छ, प्रकट गर्दछ। योग संयमी प्रत्येक महापुरुष जनक हुन्। यस्तो योग–संयुत धेरै ऋषिहरू '**जनकादयः**'– जनक इत्यादि ज्ञानीजन महापुरुषले पनि '**कर्मणा एव हि संसिद्धिम्**'–

कर्महरूद्वारा नै परमसिद्धि प्राप्त गरेका छन्। परमसिद्धि भनेको परमतत्व परमात्माको प्राप्ति। जनक इत्यादि जति पनि पूर्वमा महर्षि भए, यस 'कार्य कर्म' द्वारा, जुन यज्ञको प्रक्रिया हो, यस कर्मलाई गरेर नै '**संसिद्धिम्**'- परमसिद्धिलाई प्राप्त भएका हुन्। तर प्राप्तिपश्चात् वहाँ पनि लोकसंग्रहलाई हेरेर कर्म गर्नुहुन्छ, लोकहितलाई मानेर कर्म गर्नुहुन्छ। अतः तिमी पनि प्राप्तिको लागि र प्राप्ति पश्चात् लोकनायक बन्नका लागि कार्य कर्म गर्न योग्य छौ। किन?

अहिले श्रीकृष्णले भन्नु भएको थियो कि प्राप्ति पश्चात् महापुरुषलाई कर्म गर्नाले न केही लाभ छ र न छोडे केही हानि नै छ, तापनि लोकसंग्रह, लोकहित व्यवस्थाको लागि उनी राम्रो किसिमले नियत कर्मको नै आचरण गर्नुहुन्छ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

श्रेष्ठ पुरुष जुन-जुन आचरण गर्दछन्, अरू पुरुष पनि उसकै अनुसार गर्दछन्। त्यो महापुरुष जे जसो प्रमाण गरेर दिन्छ, संसारले उसको अनुसरण गर्छ।

पहिले श्रीकृष्णले स्वरूपमा स्थित, आत्मतृप्त महापुरुषहरूको कार्यकलापमा प्रकाश पार्नु भयो कि उनका लागि कर्म गर्नाले न केही लाभ छ र छोडेपछि न कुनै हानि; तर जनकादि कर्ममा राम्रो किसिमले लागी रहन्थे। यहाँ ती महापुरुषहरूसँग श्रीकृष्ण विस्तारै आफ्नो तुलना गर्नुहुन्छ कि म पनि एउटा महापुरुष हुँ।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

हे पार्थ! मलाई तीनवटै लोकहरूमा कुनै कर्तव्य छैन। पछाडि भनी सक्नु भएको छ- त्यस महापुरुषको सबै भूतहरूमा कुनै कर्तव्य छैन। यहाँ भन्नुहुन्छ- तीनवटै लोकहरूमा मेरो कुनै पनि कर्तव्य बाँकी छैन तर थोरै पनि

प्राप्त हुने योग्य वस्तु अप्राप्त छैन, तापनि म कर्ममा राम्ररी लागी रहन्छु। किन?–

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

किनकि यदि म सावधान भएर केही गरी कर्ममा लागेन भने मानिसहरू मेरो व्यवहारको अनुसार आचरण गर्न लाग्नेछ तब के तपाईको अनुकरण पनि खराब हो? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– हो!

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

यदि मैले सावधान भएर कर्म गरेन भने यो सबै लोक भ्रष्ट हुनेछ र म **'संकरस्य'**– वर्णसंकरको कर्त्ता हुनेछु तथा यी सबै प्रजाहरूको हनन गर्ने, मार्नेवाला बन्नेछु। स्वरूपमा स्थित महापुरुष सावधान भएर यदि आराधना–क्रममा लागेन भने सबै समाज वहाँको नकल गरेर भ्रष्ट हुनेछ। महापुरुषले त आराधना पुरा गरेर परम नैष्कर्म्यको स्थितिलाई पाएका छन्। उनीहरूले न गरेमा उनको लागि कुनै हानि हुदैन; तर समाजले अहिले आराधना शुरु नै गरेको छैन्। पछि आउने पीढिहरूको मार्ग–दर्शनका लागि नै महापुरुषले कर्म गर्नुहुन्छ, म पनि गर्छु अर्थात् श्रीकृष्ण एउटा महापुरुष हुनुहुन्थ्यो, न कि बैकुण्ठबाट आएका कुनै विशेष भगवान्। उनले भने कि महापुरुषले लोक–सङ्ग्रहको लागि कर्म गर्छ, म पनि गर्छु। यदि गरेन भने मानिसहरूको पतन हुनेछ, सबैले कर्म गर्न छोडेर बस्ने छन्।

मन बडो चंचल छ। यसले सबै कुरा चाहन्छ, मात्र भजन चाहँदैन। यदि स्वरूपस्थ महापुरुष कर्म गर्दैन भने पछिका पीढिहरू पनि देखासिखिले तुरुन्तै कर्म छोड्नेछन्। यिनीहरूले बहाना पाउनेछन् कि वहाँ भजन गर्नुहुन्न, पान खानुहुन्छ, अत्तर लगाउनुहुन्छ, सामान्य किसिमको कुराकानी गर्नुहुन्छ, तापनि महापुरुष भनिन्छन्। यस्तो सोचेर उनीहरू आराधनाबाट अलग हुन्छन् र पतित हुन्छन्। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि यदि मैले कर्म गरेन भने सबै भ्रष्ट हुनेछन् र म 'वर्णसङ्कर'को कर्त्ता बन्नेछु।

महिलाहरू दूषित हुनाले वर्णसङ्कर भएका देखिन्छन्-सुनिन्छन्। अर्जुन पनि यसै भयले विकल थियो कि महिलाहरू दूषित हुनेछन् तब वर्णसङ्कर उत्पन्न हुनेछन्; तर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- यदि म सावधान भएर आराधनामा लागिन भने म वर्णसङ्करको कर्त्ता हुनेछु। वस्तुतः आत्माको शुद्ध वर्ण हो परमात्मा। आफ्नो शाश्वत स्वरूपको पथबाट हट्नु वर्णसङ्करता हो। यदि स्वरूपस्थ महापुरुषले सक्रियता भएर लागी राखेन भने मानिसहरू उसको अनुकरण गरेर क्रियारहित हुनेछन्, आत्मपथबाट अलग हुनेछन्, वर्णसंकर हुनेछन्। उनीहरू प्रकृतिमा हराउने छन्।

महिलाहरूको सतीत्व र नस्लजातको शुद्धता एउटा सामाजिक व्यवस्था हो, अधिकारको प्रश्न हो। समाजको लागि त्यसको उपयोगिता पनि छ, तर माता-पिताको भूलले सन्तानका साधनामा कुनै प्रभाव पर्दैन। '**आपन करनी पार उतरनी।**' हनुमान, व्यास, वशिष्ठ, नारद, शुकदेव, कबीर, ईसा इत्यादि प्रतिष्ठित महापुरुष भए, जबकि सामाजिक कुलीनतासँग यिनीहरूको सम्पर्क छैन। आत्मा आफ्नो पूर्वजन्मका गुण-धर्म लिएर आउँछ। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- '**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।**' (१५/७) मनसहित इन्द्रियहरूबाट जुन कार्य यस जन्ममा हुन्छ, त्यसका संस्कार लिएर जीवात्मा पुरानो शरीरलाई त्यागेर नवीन शरीरमा प्रवेश गर्दछ। यसमा जन्मदाताहरूको के लाग्यो? उसको विकासमा कुनै अन्तर आएन। अतः महिलाहरू दूषित भएर वर्णसङ्कर हुँदैनन्। महिलाहरू दूषित हुने र वर्णसङ्करको कुनै सम्बन्ध छैन। शुद्ध स्वरूपतिर अग्रसर नभएर प्रकृतिमा छरिनु नै वर्णसङ्करता हो।

यदि महापुरुषले सावधान भएर क्रिया (नियत कर्म)मा लागी परेका मानिसहरूबाट क्रिया गराएनन् भने उनी सबै प्रजाको हनन गर्ने र हत्यारा बन्नेछन्। साधना-क्रममा लागेर त्यस मूल अविनाशीको प्राप्ति नै जीवन हो र प्रकृतिमा छरिएर भौंतारिनु मृत्यु हो; तर त्यो महापुरुषले यी सबै प्रजालाई यदि क्रिया-पथमा चलाउँदैन, यी सबै प्रजाको छरिनुलाई रोकेर सत्यपथमा चलाउँदैन, भने त्यो सबै प्रजाको हनन गर्ने हत्यारा हो, हिंसक हो र क्रमशः हिड्दै त्यसमा हिंडाउने शुद्ध अहिंसक हो। गीताको अनुसार शरीरको निधन, नश्वर कलेवरको निधन मात्र परिवर्तन हो, हिंसा होइन।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्।।२५।।

हे भारत! कर्ममा आसक्त भएका अज्ञानीजन जसरी कर्म गर्दछन् त्यसरी नै अनासक्त भएका विद्वान, पूर्णज्ञाताले पनि लोक-हृदयमा प्रेरणा र कल्याण-सङ्ग्रह चाहँदै कर्म गरोस्। यज्ञको विधि जानेर र गरेर पनि हामी अज्ञान छौं। ज्ञानको अर्थ हो प्रत्यष्क्ष जानकारी। जबसम्म अलिकति पनि हामी अलग छौं, आराध्य अलग छ, तबसम्म अज्ञान विद्यमान रहन्छ। जबसम्म अज्ञानता छ, तबसम्म कर्ममा आसक्ति रहन्छ। अज्ञानी जति आसक्तिसँग आराधाना गर्दछ, त्यसै प्रकार अनासक्त। जसलाई कर्महरूसँग प्रयोजन छैन भने उसलाई आसक्ति किन हुनेछ? यस्तो पूर्णज्ञाता महापुरुषले पनि लोकहितको लागि कर्म गरोस्, दैवी सम्पद्को उत्कर्ष गरोस्, जसले गर्दा समाज त्यसमा हिड्न सकोस्।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

ज्ञानी पुरुषहरूले कर्ममा आसक्ति हुने अज्ञानीहरूको बुद्धिमा भ्रम उत्पन्न गर्नु हुदैन, अर्थात् स्वरूपस्थ महापुरुषले ध्यान दिउन् कि उनको कुनै आचरणबाट पछिका पीढिहरूको मनमा कर्मप्रति अश्रद्धा उत्पन्न नहोस्। परमात्मा-तत्वसँग मिलेका महापुरुषले पनि आफै राम्रो ढंगले नियत कर्म गर्दै उनीहरूबाट पनि गराउनु पर्दछ।

यही कारण थियो कि 'पूज्य महाराजज्यू' बृद्धावस्थामा पनि राती दुई बजे नै उठेर बस्नुहुन्थ्यो। खोक्नथाल्थे, तीन बजे बोल्नथाल्थे- "उठ, माटोका प्रतिमूर्तिहरू।" सबैजना उठेर चिन्तनमा लागेपछि आफू अलिकति पल्टिनुहुन्थ्यो। केही बेरपछि फेरि उठेर बस्नुहुन्थ्यो। भन्दथे- "तिमीहरू सोच्दछौ कि महाराज सुत्नु भएको छ तर म सुतेको छैन, श्वासमा लागेकोछु। बृद्धावस्थाको शरीर छ, बस्नमा कष्ट हुन्छ यसैले म पल्टी रहन्छु, तर तिमीहरूले त स्थिर र सोझो बसेर ध्यानमा लाग्नुपर्छ। जबसम्म तेलको धाराजस्तै श्वासको तागा लाग्दैन, क्रम नटुटोस्, अरू सङकल्पले बीचमा व्यवधान गर्न नसकोस्; त्यति बेलासम्म

सधैं लागिरहनु साधकको धर्म हो। मेरो श्वास त बाँसजस्तै स्थिर उभेको छ।" यही कारण हो कि अनुयायीहरूबाट गराउनका लागि त्यो महापुरुष राम्रो ढंगले कर्ममा लागी रहन्छ। **'जिस गुन को सिखावै, उसे करके दिखावै।'**

यसप्रकार स्वरूपस्थ महापुरुषको पनि कर्तव्य छ कि आफू स्वयं कर्म गर्दै साधकहरूलाई पनि आराधनामा लगाई राखून। साधक पनि श्रद्धापूर्वक आराधनामा लागुन्। तर ज्ञानयोगी होस् अथवा समर्पण भाव भएका निष्काम कर्मयोगी, साधकमा साधनाको अहंकार आउनु हुँदैन। कर्म कसको द्वारा हुन्छ, त्यसलाई हुनुमा कारण को हुन्? यसमाथि श्रीकृष्ण प्रकाश पार्नुहुन्छ–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

आरम्भदेखि पूर्तिपर्यन्त कर्म प्रकृतिका गुणहरूद्वारा गरिन्छन्, तापनि अहंकारको कारण विशेष मूढपुरुष 'म कर्त्ता हुँ'– यस्तो मान्छ। यो कसरी मानने कि आराधना प्रकृतिका गुणहरूद्वारा हुन्छ? यस्तो कसले देख्यो? यसमा भन्नुहुन्छ–

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

हे महाबाहो! गुण र कर्मको विभागलाई **'तत्त्ववित्'**– परमतत्व परमात्माको जानकारी राख्ने महापुरुषहरूले देखे र सम्पूर्ण गुण, गुणहरूमा क्रियाशील छन्– यस्तो मानेर उनी गुण र कर्महरूको कर्त्तापनमा आसक्त हुँदैनन्।

यहाँ तत्वको अर्थ परमतत्त्व परमात्मा हो, न कि पाँच वा पचीस तत्व, जस्तो कि मानिसहरू गणना गर्दछन्। योगेश्वर श्रीकृष्णको शब्दमा तत्व एकमात्र परमात्मा हो, अरू कुनै तत्व छँदैछैन। गुणलाई पार गरेर परमतत्त्व परमात्मामा स्थित महापुरुष गुणहरूको अनुसार कर्महरूको विभाजन देख्न पाउँछन्। तामसी गुण रहेमा उसको कार्य हुनेछ– आलस्य, निद्रा, प्रमाद, कर्ममा प्रवृत्त नहुने स्वभाव। राजसी गुण छ भने आराधनाबाट पछि नहट्ने स्वभाव, शौर्य,

स्वामीभावबाट कर्म हुनेछ र सात्विक गुण कार्यरत भएमा ध्यान, समाधि, अनुभवी उपलब्धि, धारावाही चिन्तन, सरलता स्वभावमा हुनेछ। गुण परिवर्तनशील छ। प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानी नै देख्न सक्छ कि गुणका अनुरूप कर्महरूको उत्कर्ष–अपकर्ष हुन्छ। गुणले आफ्नो कार्य गराउँछ, अर्थात् गुण गुणहरूमा क्रियाशील रहन्छन्– यस्तो बुझेर त्यो प्रत्यक्ष द्रष्टा कर्ममा आसक्त हुँदैन। तर जसले गुणको पार पाएको छैन, जो अहिले बाटोमा छ, उसले त कर्ममा आसक्त रहनु छ। यसैले–

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

प्रकृतिको गुणबाट मोहित भएका पुरुषहरू गुण र कर्ममा क्रमशः पवित्र गुणहरूमा उन्नति देखेर त्यसमा आसक्त हुन्छन्। ती राम्रो ढंगले नबुझ्ने '**मन्दान्**'– अल्छी गर्नेहरूलाई ज्ञानीहरूले हतोत्साहित न गरुन् बरू प्रोत्साहन देउन्; किनकि कर्म गरेर नै उनीहरूले परम नैष्कर्म्यको स्थिति पाउने छन्। आफ्नो शक्ति र स्थितिको आकलन गरेर कर्ममा प्रवृत्त हुने ज्ञानमार्गी साधकहरूले कर्मलाई गुणको देन मान्नु पर्छ, आफूलाई कर्त्ता मानेर अहंकारी बन्नु हुँदैन; पवित्र गुणलाई प्राप्त गरेर त्यसमा आसक्त हुनु हुँदैन। तर निष्काम कर्मयोगीले कर्म र गुणको विश्लेषणमा समय दिने कुनै आवश्यकता छैन। कुन गुण आउने–जाने गरी रहेको छ, यो देख्नु इष्टको जिम्मेवारी हुन्छ। गुणहरूको परिवर्तन र क्रमिक उत्थानलाई उसले इष्टको देन मान्दछ। अतः कर्त्तापनको अहंकार वा गुणमा आसक्ति हुने समस्या उसको लागि रहँदैन, जबकि निरन्तर त्यसमा लागी रहन्छ। यसैमा युद्धको स्वरूप बताउँदै श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

यसैले अर्जुन! तिमी '**अध्यात्मचेतसा**'– अन्तरात्मामा चित्तलाई निरोध गरेर, ध्यानस्थ भएर, सम्पूर्ण कर्महरूलाई मलाई अर्पण गरेर आशारहित, ममतारहित र सन्तापरहित भएर युद्ध गर। जब चित्त ध्यानमा स्थित छ, अलिकति पनि कतै आशा छैन, कर्ममा ममत्व छैन, असफलताको सन्ताप छैन भने त्यो

पुरुषले कस्तो युद्ध गर्नेछ। जब सबैतिरबाट चित्त खुम्चिएर हृदय-देशमा निरुद्ध हुँदै गइरहेको छ भने ऊ किन युद्ध गर्नेछ, कोसँग र त्यहाँ को छ? वास्तवमा जब तपाई ध्यानमा प्रवेश गर्नुहुनेछ, त्यही बेला युद्धको वास्तविक स्वरूप शुरु हुनेछ, तब काम-क्रोध, राग-द्वेष, आशा-तृष्णा इत्यादि विकारहरूको समूह, विजातीय प्रवृत्तिहरू जो 'कुरु' कहलाउँछ, संसारमा प्रवृत्ति दिइरहन्छ। बाधाको रूपमा भयंकर आक्रमण गर्दछन्। यिनीहरूबाट पार पाउनु नै युद्ध हो। यिनीहरूलाई समाप्त गर्दै अन्तरात्मामा केन्द्रित हुनु, ध्यानस्थ हुँदै जानु नै यथार्थ युद्ध हो। यसैमा फेरि जोड (बल) दिनुहुन्छ-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

अर्जुन! जो सुकै मानिस दोषदृष्टि रहति भएर, श्रद्धाभाव समर्पणसँग संयुक्त भएर सधैं मेरो यस मतानुसार आचरण गर्दछ कि 'युद्ध गर' ती पुरुषहरू पनि सम्पूर्ण कर्महरूबाट छुटकारा पाउँछन्। योगेश्वरको यो आश्वासन कुनै हिन्दू, मुसलमान वा ईसाईको लागि होइन, मानवमात्रको लागि हो। उनको मत छ कि युद्ध गर- यसबाट यस्तो प्रतीत हुन्छ कि यो उपदेश युद्ध गर्नेहरूको लागि हो। अर्जुनको अगाडि सौभाग्यले विश्वयुद्धको संरचना थियो, तपाईको अगाडि त कुनै युद्ध छैन, तपाई गीताको पछि किन लाग्नु भएको छ; किनकि कर्महरूबाट छुटकारा पाउने उपाय त युद्धगर्नेहरूको लागि हो। तर यस्तो केही पनि छैन। वस्तुतः यो अन्तर्देशको युद्ध हो। क्षेत्र र क्षेत्रज्ञको, विद्या र अविद्याको, धर्मक्षेत्र र कुरुक्षेत्रको सङ्घर्ष हो। तपाई जसो-जसो ध्यानमा चित्तलाई निरोध गर्नुहुनेछ, विजातीय प्रवृत्ति बाधाको रूपमा प्रत्यक्ष हुनेछ, भयंकर आक्रमण गर्नेछ। त्यसको शमन गर्दै चित्तको निरोध गर्दैजानु नै युद्ध हो जो दोषदृष्टि रहति भएर श्रद्धाले यस युद्धमा संलग्न हुन्छ, त्यो कर्मको बन्धनबाट, आवागमनबाट राम्रो ढंगले छुटकारा पाउँदछ। जो यस युद्धमा प्रवृत्त हुँदैन, उसको के गति हुनेछ? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ-

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

जो दोषदृष्टि भएको '**अचेतसः**'- मोह-निशामा अचेत मानिसहरू मेरो यस मतको अनुसार क्रिया गर्दैनन् अर्थात् ध्यानस्थ भएर आशा, ममता, सन्तापरहित भएर समर्पणको साथ युद्ध गर्दैन, '**सर्वज्ञानविमूढान्**'- ज्ञान-पथमा सर्वथा मोहित ती मानिसहरूलाई तिमी कल्याण भ्रष्ट भएको जान। जब यो नै सही हो भने मानिसहरू किन गर्दैनन्? यसमा भन्नुहुन्छ-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

सबै प्राणी आफ्नो प्रकृतिलाई प्राप्त हुन्छन्, आफ्नो स्वभावबाट परवश भएर कर्ममा भाग लिन्छन्। प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानी पनि आफ्नो प्रकृतिको अनुसार चेष्टा गर्दछन् प्राणी आफ्नो कर्ममा क्रियाशील हुन्छन् र ज्ञानी आफ्नो स्वरूपमा। जसका प्रकृतिको जस्तो दबाव छ, त्यस्तै नै कार्य गर्दछ। यो स्वयंसिद्ध छ। यसमा निराकरण कसैले के गर्नेछ? यही कारण हो कि सबै मानिस मेरो मतानुसार कर्ममा प्रवृत्त हुन् पाउदैनन्। उनीहरू आशा, ममता, संतापको, अर्को शब्दमा राग-द्वेषको त्याग गर्न सक्दैन् जसले गर्दा कर्मको सम्यक् आचरण हुन पाउदैन। यसैलाई अझै स्पष्ट गर्नुहुन्छ र अर्को कारण भन्नुहुन्छ-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

इन्द्रिय र इन्द्रियहरूको भोगमा राग र द्वेष स्थित छन्। यी दुबैको वशमा हुनु हुँदैन, किनकि यस कल्याणमार्गमा कर्महरूबाट छुटिने प्रणालीमा यी राग र द्वेष दुर्धर्ष शत्रु हुन्, आराधनालाई अपहरण गरी लिएर जान्छन्। जब शत्रु भित्र छन्, तब बाहिर कोही कसैसँग, किन लड्नेछ? शत्रु त इन्द्रिय र भोगहरूको संसर्गमा छन्, अन्तःकरणमा छन्। अतः यो युद्ध पनि अन्तःकरणको युद्ध हो; किनकि शरीर नै क्षेत्र हो, जसमा सजातीय र विजातीय दुबै प्रवृत्तिहरू, विद्या र अविद्या रहन्छन्, जुन मायाका दुई अँग हुन्। यिनै प्रवृत्तिहरूबाट पारपाउनु, सजातीय प्रवृत्तिलाई साधेर विजातीयको अन्त्यगर्नु युद्ध हो। विजातीय समाप्त भएपछि सजातीयको उपयोग समाप्त हुन्छ। स्वरूपको स्पर्श गरेर सजातीयको

पनि त्यसैको अन्तरालमा विलय हुनु, यसप्रकार प्रकृतिको पार पाउनु युद्ध हो, जो ध्यानमा नै सम्भव छ।

राग-द्वेषको शमनमा समय लाग्छ, यसैले धेरै जसो साधक क्रियालाई छाडेर एक्कासी महापुरुषको नक्कल गर्नलाग्छ। श्रीकृष्ण यसबाट सावधान गर्नु हुन्छ-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

एउटा साधक दस वर्षदेखि साधनामा लागेको छ र दोस्रो आजै साधनामा प्रवेश गरेको छ, दुबैको क्षमता एक-जस्तो हुँदैन। प्रारम्भिक साधकले यदि उसको नक्कल गर्छ भने नष्ट हुनेछ। यसैमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- राम्ररी आचरण गरिएको अर्काको धर्मभन्दा गुणरहित भए पनि आफ्नो धर्म धेरै उत्तम हो। स्वभावबाट उत्पन्न कर्ममा प्रवृत्तहुने क्षमता स्वधर्म हो। आफ्नो क्षमतानुसार कर्ममा प्रवृत्तहुने साधक कुनै न कुनै दिन पार पाउनेछ। अतः स्वधर्माचरणमा मर्नु पनि परम कल्याणकारक हो। जहाँबाट साधन छुट्नेछ, शरीर मिलेपछि त्यहींबाट फेरि प्रारम्भ हुनेछ। आत्मा त मर्दैन। (शरीर) वस्त्र परिवर्तन गरेमा तपाईका बुद्धि-विचार परिवर्तन त हुँदैन? आफूभन्दा श्रेष्ठ जस्तो स्वाङ्ग बनाएमा साधक भयलाई प्राप्त हुनेछ। भय प्रकृतिमा हुन्छ परमात्मामा हुँदैन। प्रकृतिको आवरण अझैं बाक्लो हुनेछ।

यस भगवत्पथमा नक्कलको बाहुल्य छ। 'पूज्य महाराजज्यू'लाई एक पटक आकाशवाणी भएको थियो कि 'अनुसुइया' गएर बस्नोस्, तब जम्मूबाट चित्रकूट आए र अनुसुइयाको घनघोर जंगलमा निवास गर्नलागे। धेरै महात्मा उताबाट आउने-जाने गर्दथे। एउटाले देखे कि परमहंसजी दिगम्बर, नङ्ग-धङ्ग निवास गर्छन्, उनको सम्मान छ, तब चाँडै उनले लंगोटी फ्याँकिदिए, दण्ड-कमण्डल कुनै अरू महात्मालाई दिए र दिगम्बर भए। केही समयपछि आएर देखे, परमहंसज्यू मानिसहरूसँग कुराकानी गर्नुहुन्छ, गाली-गलौज पनि दिनुहुन्छ। महाराजजीको आदेश भएको थियो कि भक्तहरूको कल्याणार्थ

केही गाली पनि दिनेगर्नु, यस पथका पथिकहरूको देखरेख गरी रहनू। महाराजज्यूको नक्कल गरेर त्यो महात्मा पनि गाली गर्नलागे, तर यसको बदलामा मानिसहरू पनि केही न केही भनी हाल्थे। महात्माले भन्नलागे– त्यहाँ कोही बोलदैन, यहाँ त जबाब दिन्छन्।

एक–दुई वर्षपछि फर्केत देखे कि परमहंसज्यू गद्दीमा बस्नुभएको छ, मानिसहरू पंखा हम्की रहेछन्, चँवर चली रहेछ। यसले जंगलको एउटा खण्डहरमा खाट मगायो, गद्दा ओछयाउन लगायो र चँवर चलाउनका लागि दुइजनालाई नियुक्त गरे। प्रत्येक सोमवार भीड लगाउन लागे– केटा चाहिएमा पचास रुपियाँ, केटी चाहिएमा पचीस रुपियाँ। तर **'उघरे अन्त न होइ निबाहू'**– एक महीनामा नै अपमानित भएर हिडे। यस भगवत्पथमा नक्कलले साथ दिंदैन। साधकले स्वधर्मको नै आचरण गर्नुपर्छ।

स्वधर्म के हो? अध्याय दुईमा श्रीकृष्णले स्वधर्मको नाम लिनुभएको थियो कि स्वधर्मलाई पनि देखेर तिमी युद्ध गर्ने योग्यछौ। क्षत्रियको लागि योभन्दा ठूलो कल्याणकारी मार्ग नै छैन। स्वधर्ममा अर्जुन क्षत्रिय पाइन्छ। सङ्केत गर्‍यो कि अर्जुन! जो ब्राह्मण हो, वेदको उपदेश उनको लागि क्षुद्र जलाशय तुल्य छ। तिमी वेदबाट माथि उठ र ब्राह्मण बन अर्थात् स्वधर्ममा परिवर्तन सम्भव छ। त्यहाँ फेरि भने कि राग–द्वेषको वशमा नहोऊ, यिनीलाई काट। स्वधर्म श्रेयस्कर हो– यसको यो आशय होइन कि अर्जुनले कुनै ब्राह्मणको नक्कल गरेर उस्तै वेशभूषा बनाई लेओस्।

एउटै कर्मपथलाई महापुरुषले चार श्रेणीहरूमा विभाजित गरिदिए– निकृष्ट, मध्यम, उत्तम र अति उत्तम। यी श्रेणीका साधकहरूलाई क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय र ब्राह्मणको संज्ञा दिए। शूद्रको क्षमताबाट कर्मको आरम्भ हुन्छ र साधना–क्रममा त्यही साधक ब्राह्मण बन्छ। यसभन्दा पनि अगाडि जब त्यो परमात्मामा प्रवेश पाउँछ तब– **'न ब्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रः, चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं।'** त्यो वर्णबाट माथि हुन्छ। यही कुरा श्रीकृष्ण पनि भन्नुहुन्छ कि **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'**– चारवटै वर्णको रचना मैले गरें। तब के जन्मको आधारमा मानिसलाई विभाजित गर्नुभयो? होइन,

'गुणकर्म विभागशः'- गुणहरूको आधारमा कर्म बाँडियो। कुन कर्म? के सांसारिक कर्म? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- होइन, नियत कर्म। नियत कर्म के हो? त्यो हो यज्ञको प्रक्रिया, जसमा हुन्छ- श्वासमा प्रश्वासको हवन, प्रश्वासको श्वासमा हवन, इन्द्रिय संयम इत्यादि, जसको शुद्ध अर्थ हो- योग-साधना, आराधना। आराध्यदेवसम्म पुऱ्याउने विधि-विशेष नै आराधना हो। यस आराधना-कर्मलाई नै चार श्रेणीहरूमा बाँडियो। जस्तो क्षमतावाला पुरुष छ, त्यसले त्यही श्रेणीबाट प्रारम्भ गर्नु पर्दछ, यो नै सबैको आ-आफ्नो स्वधर्म हो। यदि उसले उन्नत श्रेणीवालाको नक्कल गऱ्यो भने भयलाई प्राप्त हुनेछ। सर्वथा नष्ट त हुँदैन; किनकि यसमा बीजको नाश हुँदैन। हो, त्यो प्रकृतिको दबावले भयाक्रान्त, दीन-हीन अवश्य हुनेछ। शिशु कक्षाको विद्यार्थी स्नातक कक्षामा बस्न लाग्यो भने के त्यो स्नातक बन्नेछ? त्यो प्रारम्भिक वर्णमालाबाट पनि वंचित रहनेछ। अर्जुन प्रश्न गर्छ कि मानिस स्वधर्मको आचरण किन गर्न पाउँदैन?-

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

हे श्रीकृष्ण! फेरि यो पुरुष जबरदस्ती घिसारेर लगाए जस्तै न चाहँदा पनि कसको प्रेरणाले पापको आचरण गर्दछ? तपाईको मतानुसार किन चल्न सक्दैन? यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

अर्जुन! रजोगुणबाट उत्पन्न यो काम र क्रोध अग्निसमान भोग भोग्नेले कहिलै तृप्त नहुनेहरू ठूलो पापी हुन्। काम-क्रोध, राग-द्वेषका नै पूरक हुन्, अहिले जसको मैले चर्चा गरेको छु, यस विषयमा तिमी यिनीलाई नै शत्रु जान। अब यसको प्रभाव भन्नु हुन्छ-

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

जस्तै धूवाँबाट अग्नि र मैलबाट ऐना ढाकिन्छ, जस्तो झिलीबाट गर्भ ढाकिन्छ ठीक यस्तै प्रकारले काम-क्रोध आदि विकारहरूबाट ज्ञान ढाकिएको छ। भिजेको काठलाई जलाएमा धूवाँ नै धूवाँ हुन्छ, आगो भएर पनि ज्वाला (लप्को) रूप लिन पाउँदैन। मैलबाट ढाकेको ऐनामा जसरी प्रतिबिम्ब स्पष्ट हुँदैन, झिल्लीको कारण जसरी गर्भ ढाकिएको रहन्छ, त्यसैप्रकार यी विकारहरू रहदा परमात्माको प्रत्यक्ष ज्ञान हुँदैन।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

कौन्तेय! आगो समान भोगहरूबाट तृप्त नहुनेवाला, ज्ञानीहरूको निरन्तर बैरी यस कामले ज्ञान छोपिएको छ। अहिले श्रीकृष्णले काम र क्रोध दुई शत्रु भन्नुभयो। प्रस्तुत श्लोकमा वहाँले मात्र एउटा शत्रु कामको नाम लिनु हुन्छ। वस्तुतः काममा क्रोधको अन्तर्भाव छ। कार्य पूर्ण भएपछि क्रोध समाप्त हुन्छ तर कामना साप्त हुँदैन। कामना-पूर्तिमा व्यवधान पर्नासाथ क्रोध फेरि जागेर आउँछ। कामका अन्तरालमा क्रोध पनि निहित छ। यस शत्रुको निवास कहाँ छ? यसलाई कहाँ खोज्ने? निवास थाहा भएमा यसलाई समूल नष्ट गर्नमा सुविधा हुनेछ। यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

इन्द्रियहरू, मन र बुद्धि यसको वास-स्थान कहलाउँछ। यो काम यी मन, बुद्धि र इन्द्रियहरूद्वारा नै ज्ञानलाई आच्छादित गरेर जीवात्मालाई मोहमा पार्दछ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

यसैले अर्जुन! तिमी पहिले इन्द्रियहरूलाई '**नियम्य**'- वशमा गर; किनकि शत्रु त यसका अन्तरालमा लुकेको छ। त्यो तिम्रो शरीरभित्र छ। बाहिर खोजेमा त्यो कतै पनि पाइने छैन। यो हृदय-देशको, अन्तर्जगत्‌को लडाई हो। इन्द्रियहरूलाई वशमा राखेर, ज्ञान विज्ञानको नाश गर्ने यस पापी कामलाई नै मार। काम सोझै पकडमा आउँदैन, अतः विकारहरूको निवास-स्थानलाई नै घेराउ गर, इन्द्रियहरूलाई नै संयत गर।

तर इन्द्रियहरू र मनलाई संयतगर्नु धेरै कठिन छ। के यो हामी गर्न सक्दछौं? यसमा श्रीकृष्ण तपाईको सामर्थ्य बताउँदै प्रोत्साहित गर्नुहुन्छ-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

अर्जुन! यस शरीरभन्दा तिमी इन्द्रियहरूलाई पर अर्थात् सूक्ष्म र बलवान् जान। इन्द्रियहरूदेखि पर मन छ, यो त्योभन्दा पनि बलवान् छ। मनभन्दा पर बुद्धि छ र जो बुद्धिदेखि पनि धेरै पर छ त्यो तिम्रो आत्मा छ। त्यही नै तिमी हौ। यसैले इन्द्रियहरू, मन र बुद्धिको निरोध गर्नमा तिमी सक्षम छौ।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

यसप्रकार बुद्धिदेखि पर अर्थात् सूक्ष्म र बलवाने आफ्नो आत्मालाई जानेर, आत्मबललाई सम्झेर, बुद्धिले आफ्नो मनलाई वशमा गरेर अर्जुन! यस कामरूपी दुर्जय शत्रुलाई मार। आफ्नो शक्तिलाई सम्झेर यस दुर्जय शत्रुलाई मार। काम एक दुर्जय शत्रु हो। इन्द्रियहरूले यो आत्मालाई मोहित गर्दछ। तब आफ्नो शक्ति सम्झेर, आत्मालाई बलवाने सम्झेर कामरूपी शत्रुलाई मार। भन्ने आवश्यकता छैन कि यो शत्रु आन्तरिक हो र 'युद्ध' पनि अन्तर्देशको नै हो।

निष्कर्ष-

धेरै जसो गीताप्रेमी व्याख्याकारहरूले यस अध्यायलाई 'कर्मयोग' नाम दिइएका छन्, तर यो तर्कसंगत छैन। दोस्रो अध्यायमा योगेश्वरले कर्मको नाम

लिनुभयो। उनले कर्मको महत्वलाई प्रतिपादन गरेर त्यसमा कर्म-जिज्ञासा जागृत गरे र यस अध्यायमा वहाँले कर्मलाई परिभाषित गरे कि यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। सिद्ध छ कि यज्ञ कुनै निर्धारित दिशा हो। यसको अतिरिक्त जे केही पनि गरिन्छ, त्यो यसै लोकको बन्धन हो। श्रीकृष्ण जे भन्नु हुनेछ, त्यो कर्म **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** संसार-बन्धनबाट छुटकारा दिलाउने कर्म हो।

श्रीकृष्णले यज्ञको उत्पत्ति भन्नुभयो। त्यसले के दिन्छ? उसको विशेषताहरूका चित्रण गर्नुभयो। यज्ञ गर्नलाई जोड दिनुभयो। वहाँले भन्नुभयो- यस यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। जसले गर्दैनन्, ऊ पापायु, आराम चाहनेहरू व्यर्थ बाँच्दछन्। पूर्वका महर्षिहरूले पनि यसलाई गरेर नै नैष्कर्म्य सिद्धि पाएका थिए। उनीहरू आत्मतृप्त छन्, उनको लागि कर्मको आवश्यकता छैन्। तापनि पछिको पीढीहरूको मार्ग-दर्शनको लागि उनीहरू पनि कर्ममा राम्ररी लागी रहन्थे। ती महापुरुषहरूसँग श्रीकृष्णले आफ्नो तुलना गर्नुभयो कि मलाई पनि अब कर्मसँग कुनै प्रयोजन छैन; तर म पनि पछिका पीढीहरूका हितका लागि कर्ममा लागी रहन्छु। श्रीकृष्णले स्पष्टतः आफ्नो परिचय दिनुभयो कि उनी एउटा योगी थिए।

वहाँले कर्ममा प्रवृत्त साधकहरूलाई चलायमान न गर्न भन्नुभयो; किनकि कर्म गरेर नै ती साधकलाई स्थिति प्राप्त गर्नुछ। यदि गर्ने होइनन् भने नष्ट भएर जानेछन्। यस कर्मको लागि ध्यानस्थ भएर युद्ध गर्नुछ। आँखाहरू बन्द छन्, इन्द्रियहरूबाट समेटिएर चित्तको निरोध भयो भने युद्ध कस्तो? त्यस समय काम-क्रोध, राग-द्वेष बाधक हुन्छन्। यी विजातीय प्रवृत्तिहरू माथि विजय पाउनुनै युद्ध हो। आसुरी सम्पद्, कुरुक्षेत्र विजातीय प्रवृत्तिलाई विस्तार-विस्तारै हटाउँदै ध्यानस्थ हुँदै जानु नै युद्ध हो। वस्तुतः ध्यानमा नै युद्ध छ। यो नै यस अध्यायको सारांश हो, जसमा न कर्म बतायो न यज्ञ। यदि यज्ञ समझमा आयो भने कर्म पनि समझमा आउनेछ। अहिले त कर्मको बारेमा बुझाइएकै छैन।

यस अध्यायमा मात्र स्थितप्रज्ञ महापुरुषको प्रशिक्षणात्मक पक्षमा जोड दिइयो। यो त गुरुजनहरूको लागि निर्देश हो। उनीहरूले नगरे पनि केही क्षति

हुँदैन; र न यस्तो गर्नमा वहाँहरूका आफ्नो कुनै लाभ नै छ; तर जुन साधकहरूलाई परमगति अभीष्ट छ, उसका लागि विशेष केही भन्दै भनिएन भने, यो 'कर्मयोग' कसरी हो? कर्मको स्वरूप पनि स्पष्ट छैन, जसलाई गर्न सकियोस्; किनकि 'यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो' अहिलेसम्म वहाँले यति नै भन्नुभयो। यज्ञको बारेमा भन्नुभएन। कर्मको स्वरूप स्पष्ट भएको छैन। हो, युद्धको यथार्थ चित्रण गीतामा यहाँ नै पाइन्छ।

सम्पूर्ण गीतामा दृष्टिपात् गरौं, अध्याय दुइमा भन्नुभयो कि शरीर नाशवान् छ; अतः युद्ध गर। गीतामा युद्धको यही ठोस कारण बताइयो। आगाडि ज्ञानयोगको संदर्भमा क्षत्रियका लागि युद्ध नै कल्याणको एकमात्र साधन बताइयो र भनियो कि यो बुद्धि तिम्रो लागि ज्ञानयोगका विषयमा भनिएको हो। कुन बुद्धि? यो नै कि हार–जीत दुबै दृष्टिहरूमा लाभ नै छ– यस्तो सम्झेर युद्ध गर। फेरि अधयाय चारमा भनियो कि योगमा स्थित रहेर हृदयमा स्थित आफ्नो यस सँशयलाई ज्ञानरूपी तरवारले काट। त्यो तरवार योगमा छ। अध्याय पाँचदेखि दससम्म युद्धको चर्चा पनि छैन। एघारौं अध्यायमा मात्र यति भनियो कि यी शत्रु मबाट पहिले नै मारिएका छन्, तिमी निमित्त मात्र भएर मात्र उभी राख। यशलाई प्राप्त गर। यी तिमीबिना पनि मारिएका छन्, तिमी यो मुर्दालाई नै मार।

अध्याय पन्ध्रमा संसार सुविरुढ मूल भएको पीपलको रुख जस्तो भनियो; जसलाई असँगतारूपी शस्त्रले काटेर त्यस परमपदलाई खोज्ने निर्देश पाइयो। अगाडिको अध्यायहरूमा युद्धको उल्लेख छैन। हो, अध्याय सोह्रमा असुरहरूको चित्रण अवश्य छ, जो नरकगामी हुन्। अध्याय तीनमा नै युद्धको विशद् चित्रण छ। श्लोक ३० देखि श्लोक ४३ सम्म युद्धको स्वरूप, उसको अनिवार्यता, युद्ध नगर्नेहरूको विनाश, युद्धमा मारिने शत्रुहरूको नाम, उनलाई मार्नको लागि आफ्नो शक्तिको आह्वान र निश्चय नै उनलाई काटेर फ्याँक्ने कुरामा जोड दिइयो। यस अध्यायमा शत्रु र शत्रुको आन्तरिक स्वरूप स्पष्ट छन्, जसको विनाशको प्रेरणा दिइएको छ। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'शत्रुविनाशप्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

यसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवम् ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनका संवादमा 'शत्रु विनाश-प्रेरणा' नामक तेस्रो अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'शत्रुविनाशप्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'शत्रु विनाश-प्रेरणा' नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुन्छ।

।। हरिः ॐ तत्सत् ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

।। अथ चतुर्थोऽध्यायः ।।

चौथो अध्याय

अध्याय तीनमा योगेश्वर श्रीकृष्णले आश्वस्त गर्नुभएको थियो कि दोषदृष्टिरहित भै जो मानव श्रद्धायुक्त भएर मेरो मतको अनुसार चल्नेछ, त्यो कर्महरूका बन्धनबाट राम्ररी मुक्त हुनेछ। कर्मबन्धनबाट मुक्ति दिलाउने क्षमता योग (ज्ञानयोग वा कर्मयोग दुबै) मा छ। योगमा नै युद्ध-संचार निहित छ। प्रस्तुत अध्यायमा वहाँले भन्नुहुन्छ कि यस योगको प्रणेता को हुन्? यसको क्रमिक विकास कसरी हुन्छ?

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

अर्जुन! मैले यस अविनाशी योगलाई कल्पको आदिमा विवस्वान् (सूर्यको) प्रति भने, विवस्वान्ले मनुलाई र मनुले इक्ष्वाकुलाई भने। कसले भन्यो? मैले। श्रीकृष्ण को हुनुहुन्थ्यो? एउटा योगी। तत्वस्थित महापुरुषले नै यस अविनाशी योगलाई कल्पका आरम्भमा अर्थात् भजनको आरम्भमा विवस्वान् अर्थात् जो विवश छन्, यस्ता प्राणीहरूसँग भन्दछ। सुरामा संचार गरिदिन्छ। यहाँ सूर्य एउटा प्रतीक हो; किनकि सुरामा नै त्यो परम प्रकाश स्वरूप छ र त्यही उसलाई पाउने विधान हो। वास्तविक प्रकाशदाता (सूर्य) त्यही हो।

योग यस महत्वपूर्णकालमा यसै लोक (शरीर)मा प्रायः नष्ट हुन्छ। यस सीमा-रेखालाई कसरी पार गर्न सकिन्छ? के यस विशेष स्थलमा गएर सबै नष्ट हुन्छन्? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- होइन, जो मेरो आश्रित छ, मेरो प्रिय भक्त छ, अनन्य सखा छ, त्यो नष्ट हुँदैन।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

त्यो नै यो पुरातन योग अब मैले तिम्रो लागि वर्णन गरेको छु, किनकि तिमी मेरो भक्त र सखा हौ र यो योग उत्तम, रहस्यपूर्ण छ। अर्जुन क्षत्रिय श्रेणीका साधक थिए, राजर्षिको अवस्थाभएका थिए, जहाँ ऋद्धि-सिद्धिहरूको जालमा परेर साधक नष्ट हुन्छ। यस कालमा पनि योग कल्याणको मुद्रामा नै छ; तर प्रायः साधक यहाँसम्म पुगेर हल्लिन थाल्छन्। यस्तो अविनाशी तर रहस्यपूर्ण योग श्रीकृष्णले अर्जुनलाई भन्नुभयो, किनकि नाशको अवस्थामा नै अर्जुन थियो। किन भन्यो? यसैले कि तिमी मेरो भक्त हो, अनन्य भावले ममा आश्रित छ, प्रिय छ, सखा छ।

जुन परमात्माको हामीलाई चाहना छ, त्यो (सद्गुरु) परमात्मा आत्माबाट अभिन्न भएर जब निर्देशन दिन लाग्नुहुन्छ, तब मात्र वास्तविक भजन आरम्भ हुन्छ। यहाँ प्रेरकको अवस्थामा परमात्मा र सद्गुरु एक-अर्काका पर्याय हुन्। जुन सतहमा हामी उभेकाछौं, त्यही स्तरमा जब स्वयं प्रभु हृदयमा ओर्लेर रोकथाम गर्न लाग्नुहुन्छ, तब मात्र मन वशमा हुनपाउँछ- **"(मन) बस होइ तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजै।" (विनयपत्रिका, ८९)** जबसम्म इष्टदेव रथी भएर, आत्मासँग अभिन्न भएर प्रेरकको रूपमा उभिनु हुन्न तबसम्म सही मात्रामा प्रवेश नै हुँदैन। त्यो साधक प्रत्याशी अवश्य हुन्छ, तर भजन उ सँग कहाँ?

'पूज्य गुरुदेव भगवान्' भन्ने गर्नुहुन्थ्यो- 'हो! म कयौं पटक नाश हुँदाहुँदै बाँचें। भगवान्ले नै बचायो। भगवान्ले यसरी सम्झाए, यो भने।' मैले सोधें, "महाराजज्यू! के भगवान् पनि बोल्नुहुन्छ, कुराकानी गर्नुहुन्छ?" तब भने- "हो, भगवान् यसरी बोल्नुहुन्छ जस्तो कि तपाई-हामी बोल्छौं, घण्टौंसम्म

शरीर रहँदै त्यस परमतत्वमा प्रवेश पाउन सकिन्छ। अलिकति पनि कमी छ भने जन्म लिनुपर्दछ। अहिलेसम्म अर्जुन श्रीकृष्णलाई आफ्नै समान देहधारी सम्झन्छ। उसले अन्तरंग प्रश्न राख्छ– के तपाईको जन्म त्यस्तै हो, जस्तो सबैको छ? के तपाई पनि शरीरहरू जस्तै जन्मनु हुन्छ? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।६।।

म विनाशरहित, पुनः जन्मरहित र सम्पूर्ण प्राणीहरूको स्वरमा संचारित भएर पनि आफ्नो प्रकृतिलाई अधीन गरेर आत्म–मायाद्वारा प्रकट हुन्छु। एउटा माया त अविद्या हो, जो प्रकृतिमा नै विश्वास दिलाउँछ, नीच एवं अधम योनीहरूको कारण बन्दछ। अर्को माया हो आत्ममाया, जो आत्मामा प्रवेश दिलाउँछन्, स्वरूपको जन्मको कारण बन्दछ, यसैलाई योगमाया पनि भनिन्छ। जसबाट हामी अलग छौं, त्यस शाश्वत स्वरूपसँग जोड्दछ, मिलन गराउँछ। त्यस आत्मिक प्रक्रियाद्वारा म आफ्नो त्रिगुणमयी प्रकृतिलाई अधीन गरेर नै प्रकट हुन्छु।

प्रायः मानिसहरू भन्दछन् कि भगवान्को अवतार हुनेछ तब दर्शन गर्नेछु। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि यस्तो केही हुँदैन कि कोही अर्कोले देख्न सकून्। स्वरूपको जन्म पिण्डरूपमा हुँदैन। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– योग–साधनाद्वारा, आत्ममायाद्वारा आफ्नो त्रिगुणमयी प्रकृतिलाई स्व–वश गरेर म क्रमशः प्रकट हुन्छु। तर कुन परिस्थितिहरूमा?–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे अर्जुन! जब–जब परमधर्म परमात्माको लागि हृदय ग्लानिबाट भरिन्छ, जब अधर्मको बृद्धिबाट भाविक पार देख्दैन, तब म आत्मालाई रच्न लाग्दछु। यस्तै ग्लानि मनुलाई भएको थियो–

हृदयँ बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरिभगति बिनु।।
(रामचरितमानस, १/१४२)

७/१०३ ख/२) जब हृदयमा शुद्ध सत्वगुण नै कार्यरत हुन्छ, राजस तथा तामस दुबै गुण शान्त भैसकेको हुन्छ, विषमता समाप्त भएको हुन्छ, जसलाई कसैसँग द्वेष छैन, विज्ञान छ अर्थात् इष्टद्वारा निर्देशन लिने र त्यसमाथि टिक्ने क्षमता हुन्छ, मनमा प्रसन्नताको पूर्ण संचार हुन्छ– जब यस्तो योग्यता आउँछ, तब सत्युगमा प्रवेश पाइयो। यसैप्रकार दुई अरु युगहरूको वर्णन गर्नुभयो र अन्त्यमा–

तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।।
(रामचरितमानस, ७/१०३ ख/५)

तामसी गुण भरपूर छ, अलिकति राजसी गुण पनि त्यसमा छ, चारैतिर बैर र विरोध हुन्छ भने यस्तो व्यक्ति कलियुगीन हो। जब तामसी गुणले कार्य गर्दछ भने मानिसमा आलस्य, निद्रा, प्रमादका बाहुल्य हुन्छ। ऊ कर्तव्यलाई जान्दा–जान्दै पनि त्यसमा प्रवृत्त हुनसक्दैन, निषिद्ध कर्म जान्दा–जान्दै पनि त्यसबाट निवृत्त हुनसक्दैन। यसप्रकार युगधर्मको न्यूनाधिक्य मानिसको आन्तरिक योग्यतामा निर्भर छ। कसैले यी योग्यताहरूलाई चार गुण भनेको छ भने कसैले यिनैलाई चार वर्णहरूको नाम दिन्छ, कसैले यसैलाई नै अति उत्तम, उत्तम, मध्यम र निकृष्ट चार श्रेणीको साधक भनेर सम्बोधित गर्दछ। प्रत्येक युगमा इष्टले साथ दिन्छ। हो, उच्चश्रेणीमा अनुकूलताको परिपूर्णता प्रतीत हुन्छ, निम्न युगमा सहयोग क्षीण प्रतीत हुन्छ।

संक्षेपमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि साध्यवस्तु दिलाउने विवेक, वैराग्य इत्यादिलाई निर्विघ्न प्रवाहित गर्नको लागि तथा दूषणको कारक काम, क्रोध, राग, द्वेष इत्यादिको पूर्ण विनाश गर्नको लागि, परमधर्म परमात्मामा स्थिर राख्नको लागि म युग–युगमा अर्थात प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक श्रेणीमा प्रकट हुन्छु तर ग्लानि होस। जबसम्म इष्टले समर्थन दिंदैन, तबसम्म तपाई सम्झनसक्नु हुन्न कि विकार नष्ट भयो अथवा अहिले कति बाँकी छ? प्रवेशबाट पराकाष्ठापर्यन्त इष्ट प्रत्येक श्रेणीमा प्रत्येक योग्यतासँग रहन्छन्। उनको प्राकट्य अनुरागीको हृदयमा हुन्छ। भगवान प्रकट हुन्छन्, तब त सबैले दर्शन गर्छन् होला? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– होइन,

दर्शन गर्दछ? तर परमतत्व परमात्माको दर्शनको साथै त्यो देख्न पाउँछ, बुझ्न पाउँछ र फेरि शरीरलाई त्यागेर पुनर्जन्म प्राप्त गर्दैन।

श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि मेरो जन्म दिव्य छ, यसलाई देख्ने मलाई प्राप्त हुन्छ, त मानिसहरूले उनको मूर्ति बनाएर पूजा गर्न लागे, आकाशमा कहीं उनको निवासको कल्पना गरे। यस्तो केही पनि होइन, त्यो महापुरुषको आशय मात्र यति थियो कि यदि तपाई निर्धारित कर्म गर्नुभयो भने पाउनु हुन्छ कि तपाई पनि दिव्य हुनुहुन्छ। तपाई जो हुन सक्नु हुन्छ, त्यो म भइसकेको छु। म तपाईको संभावना हुँ, तपाईकै भविष्य हुँ। आफूभित्र तपाईं जुन दिन यस्तो पूर्णता पाउनु हुन्छ, तब तपाई पनि त्यही हुनुहुनेछ, जो श्रीकृष्ण छ। जो श्रीकृष्णको स्वरूप छ, त्यही तपाईको पनि हुनसक्छ। अवतार कतै बाहिर हुँदैन। हो, यदि अनुरागपूरित हृदय भए तब तपाईभित्र पनि अवतारको अनुभूति संभव छ। वहाँ तपाईंलाई प्रोत्साहित गर्नुहुन्छ कि धेरै मानिसहरू यसै बाटोमा हिडेर मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गरिसकेका छन्–

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

राग र विराग दुबैभन्दा पर वीतराग तथा यसैप्रकार भय–अभय, क्रोध–अक्रोध दुबैभन्दा पर, अनन्यभावबाट अर्थात् अहँकाररहित मेरो शरणागत धेरै जसो मानिसहरू ज्ञान–तपबाट पवित्र भएर मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गरिसकेका छन्। अब यस्तो हुन लाग्यो– यस्तो कुरा छैन। यो विधान सधैं रहिआएको छ। धेरै जसो पुरुष यसैप्रकारले मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गरेका छन्। कुन प्रकार? जस–जसको हृदय अधर्मको बृद्धि देखेर परमात्माका लागि ग्लानिले भरियो, त्यस स्थितिमा म आफ्नो स्वरूपलाई रच्दछु। उनीहरू मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछन्। जसलाई योगेश्वर श्रीकृष्णले तत्वदर्शन भन्नुभएको थियो, त्यसैलाई नै अब 'ज्ञान' भन्नुहुन्छ। परमतत्व हो परमात्मा, त्यसलाई प्रत्यक्ष दर्शनको साथ जान्नु ज्ञान हो। यस्तो जानकारी भएका ज्ञानीहरू मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछन्। यहाँ यो प्रश्न पूर्णभयो। अब वहाँले योग्यताको आधारमा भजनेहरूको श्रेणी–विभाजन गर्नुहुन्छ।

हवन गरिन्छ, जसको परिणाम हो- परमात्मा। कर्मको शुद्ध अर्थ हो आराधना, जसको स्वरूप यस अध्यायमा अगाडि पाइनेछ। यस आराधनाको परिणाम के हो? '**संसिद्धिम्**'- परमसिद्धि परमात्मा, '**यान्ति ब्रह्म सनातनम्**'- शाश्वत ब्रह्ममा प्रवेश, परम नैष्कर्म्यको स्थिति। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- मेरो अनुरूप आचरण गर्ने मानिसहरू यस मनुष्यलोकमा कर्मको परिणाम परम नैष्कर्म्य सिद्धिको लागि देवताहरूलाई पुज्दछन् अर्थात दैवी सम्पद्‌लाई बलशाली बनाउँछन्।

तेस्रो अध्यायमा वहाँले भन्नुभएको थियो कि यस यज्ञद्वारा तिमी देवताहरूको वृद्धि गर, दैवी सम्पद्‌लाई बलशाली बनाऊ। जसो-जसो हृदयदेशमा दैवी सम्पद्‌को उन्नति हुनेछ, त्यसो-त्यसो तिम्रो उन्नति हुनेछ। यसप्रकार परस्पर उन्नति गर्दै परमश्रेयलाई प्राप्त गर। अन्त्यसम्म उन्नति गर्दै जाने यो अन्तःक्रिया हो। यसमा जोड (बल) दिंदै श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि मेरो अनुकूल आचरण गर्ने मानिस शरीरमा कर्मको सिद्धि चाहँदै पनि दैवी सम्पद्‌लाई बलशाली बनाउँछन्, जसबाट त्यो नैष्कर्म्य सिद्धि चाँडै प्राप्त हुन्छ। त्यो असफल हुँदैन, सफल नै हुन्छ। चाँडैको तात्पर्य? के कर्ममा प्रवृत्त हुने बित्तिकै तत्क्षण यो परमसिद्धि प्राप्त हुन्छ? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- होइन, यस भऱ्याङ्गमा क्रमशः चढ्ने विधान हो। कोही उफ्रेर भावातीत ध्यान-जस्तो चमत्कार हुँदैन। यसमा हेरौं-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

अर्जुन! '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**'- चार वर्णका रचना मैले गरे, त के मानिसहरूलाई पनि चार भागमा बाँडियो? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- होइन, '**गुणकर्म विभागशः**'- गुणको माध्यमद्वारा कर्मलाई चार भागमा बाँडियो। गुण एउटा मापदण्ड हो। तामसी गुण भएमा आलस्य, निद्रा, प्रमाद, कर्ममा प्रवृत्त नहुने स्वभाव, जानेर पनि अकर्त्तव्यबाट निवृत हुन नपाउने विवशता रहनेछ। यस्तो अवस्थामा साधना आरम्भ कसरी गर्ने? दुई घण्टा तपाई आराधनामा बस्नु हुन्छ, यस कर्मको लागि प्रयत्नशील हुन चाहनु हुन्छ; तर दश मिनट पनि आफ्नो पक्षमा पाउनु हुन्न। शरीर अवश्य बसेको छ; तर जुन मनलाई बस्नु

किनकि कर्मको फलमा मेरो लगाव छैन। कर्मको फल के हो? श्रीकृष्णले पछाडि भन्नुभएको थियो कि यज्ञ जसबाट पूराहुन्छ, त्यस क्रियाको नाम कर्म हो र पूर्तिकालमा यज्ञले जसको रचना गर्दछ, त्यस ज्ञानामृतको पान गर्नेले शाश्वत, सनातन ब्रह्ममा प्रवेश पाउँछ। कर्मको परिणाम हो परमात्मा, त्यस परमात्माको चाहना पनि अब मलाई छैन, किनकि त्यो मबाट बेग्लै छैन। म अव्यक्त स्वरूप हुँ, त्यसैको स्थितिवाल हुँ। अब अगाडि कुनै सत्ता छैन, जसको लागि यस कर्ममा स्नेह राखूँ। यसैले कर्मले मलाई लिपायमान गर्दैन र यसै स्तरबाट जसले मलाई जान्दछ अर्थात् जो कर्मको परिणाम परमात्मालाई प्राप्त गर्दछ, त्यसलाई पनि कर्मले बाँध्दैन। जस्तै श्रीकृष्ण, त्यस्तै त्यस स्तरले जान्ने महापुरुष।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

अर्जुन! पहिले हुने मोक्षको इच्छागर्ने पुरुषहरूद्वारा पनि यही जानेर कर्म गरियो। के जानेर? यही कि जब कर्महरूको परिणाम परमात्मा अलग नरहुन, कर्महरूको परिणाम परमात्माको लगाव न रहेमा त्यस पुरुषलाई कर्मले बाँध्दैन। श्रीकृष्ण यस्तै स्थिति भएको हुनुहुन्छ यसैले उनी कर्ममा लिपायमान हुँदैनन् र त्यही स्तरबाट हामीले पनि जानेमा हामीलाई पनि कर्मले बाँध्दैन। जस्तो श्रीकृष्ण, ठीक त्यसै स्तरबाट जसले पनि जान्नेछ, त्यस्तै त्यो पुरुष पनि कर्मबन्धनबाट मुक्त हुनेछ। अब श्रीकृष्ण 'भगवान', 'महात्मा', 'अव्यक्त', योगेश्वर वा महायोगेश्वर जे सुकै भए पनि, त्यो स्वरूप सबैका लागि हुन्। यही सम्झेर पहिलेका मुमुक्षु पुरुषहरूले, मोक्षको इच्छा भएका पुरुषहरूले कर्ममा पाइला राखे। यसैले अर्जुन! तिमी पनि पूर्वजहरूद्वारा सधैं गर्ने गरिएको यसै कर्मलाई गर। यो नै कल्याणको एकमात्र मार्ग हो।

अहिलेसम्म योगेशवर श्रीकृष्णले कर्म गर्नमा नै बल (जोड) दिनुभयो, तर यो स्पष्ट गर्नु भएन कि कर्म के हो? अध्याय दुईमा वहाँले कर्मको नाम मात्र लिनुभयो कि अब यसैलाई तिमी निष्काम कर्मको विषयमा सुन। त्यसको विशेषताहरूको वर्णन गर्नुभयो कि, यो जन्म-मरणको महान् भयबाट रक्षा

न त कर्म गर्नाले कुनै लाभ छ, न छोड्नाले कुनै हानि नै हुन्छ। तापनि उनीहरू पछिको पींढीहरूको हितको लागि कर्म गर्छन्। यस्तो कर्म विकल्पशून्य छ, विशुद्ध छ र यही कर्म विकर्म भनिन्छ।

उदाहरणार्थ गीतामा जहाँ पनि कुनै कार्यमा 'वि' उपसर्ग लागेको छ, त्यसको विशेषताको द्योतक हो, निकृष्टताको होइन। यथा– **'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।' (गीता ५/७)** जो योगयुक्त छ, त्यो विशेषरूपबाट शुद्ध आत्मावाला, विशेषरूपबाट जितेको अन्तःकरणवाला इत्यादि विशेषताको नै द्योतक हो। यसप्रकार गीतामा ठाउँ–ठाउँमा 'वि' को प्रयोग भएको छ, जो विशेष पूर्णताको द्योतक हो। यसैप्रकार 'विकर्म' पनि विशिष्ट कर्मको द्योतक हो, जो प्राप्तिको पश्चात् महापुरुषहरूद्वारा सम्पादित हुन्छ। जसले शुभ–अशुभ संस्कार दिंदैन। अहिले तपाईले विकर्मलाई हेर्नुभयो, रह्यो कर्म र अकर्म, जसलाई अगाडिका श्लोकमा बुझ्ने प्रयास गर्नुस्। यदि यहाँ कर्म–अकर्मको विभाजन बुझ्नु भएन भने कहिलै पनि बुझ्नु हुन्न–

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

जो पुरुष कर्ममा अकर्म देख्दछ, कर्म भनेको आराधना अर्थात् आराधना गर्छ र यो पनि सम्झनु कि गर्नेमानिस म होइन बरू गुणहरूको अवस्था नै चिन्तनमा मलाई नियुक्त गर्दछ, 'म इष्टद्वारा संचालित हुँ–' यस्तो हेरोस् र जब यसप्रकार अकर्म हेर्नेको क्षमता आउँछ र धारावाहिक रूपमा कर्म हुँदै रहन्छ, तब सम्झनु कि कर्म सही दिशामा भइरहेछ। त्यही पुरुष मनुष्यमा बुद्धिमान् छ, मानिसमा योगी छ, योगबाट युक्त बुद्धिवाला छ र सम्पूर्ण कर्म गर्नेवाला छ। त्यसद्वारा कर्म गर्नमा अलिकति पनि त्रुटि रहदैन।

सारांशतः आराधना नै कर्म हो। त्यस कर्मलाई गरौं र गर्दा–गर्दै अकर्म देख्यौं कि म त यन्त्रमात्र हुँ, गराउने इष्ट हो र म गुणद्वारा उत्पन्न अवस्थाको अनुसार नै चेष्टा गर्न पाउँछु। जब अकर्मको यो क्षमता आउँछ र धारावाहिक कर्म हुँदै रहोस् तब मात्र परम कल्याणको स्थिति दिलाउने कर्म हुन्छ। 'पूज्य

सनातनम्'- शाश्वत, सनातन ब्रह्ममा प्रवेश पाउँन्छ। यी सबै यज्ञ हुन्, जसलाई कार्यरूप दिनेको नाम कर्म हो। अतः कर्मको शुद्ध अर्थ हो 'आराधना', कर्मको अर्थ हो 'भजन', कर्मको अर्थ हो यो साधनालाई राम्रो ढंगले सम्पादित गर्नु, जसको विशद् वर्णन यसै अध्यायमा अगाडि आउँदैछ। यहा कर्म र अकर्मलाई मात्र विभाजन गरियो, जसबाट कर्मगर्ने बेलामा त्यसलाई सही दिशा दिन सकियोस् र त्यस अनुसार हिड्न सकियोस्।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अर्जुन! '**यस्य सर्वे समारम्भाः**'- जुन पुरुषद्वारा सम्पूर्णताबाट आरम्भ गरेको क्रिया (जसलाई पछिलो श्लोकमा भने कि- अकर्म हेर्ने क्षमता आएपछि कर्ममा प्रवृत्त हुनेवाला पुरुष सम्पूर्ण कर्महरूलाई गर्नेवाला हो। जसको गराईमा केही पनि त्रुटि छैन) '**कामसङ्कल्पवर्जिताः**'- क्रमशः उत्थान हुँदा-हुँदै यति सूक्ष्म भयो कि वासना र मनको सङकल्प-विकल्पबाट माथि उठयो (कामना र सङकल्पको निरोध हुनु मनको विजितावस्था हो। अतः कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो, जसले यस मनलाई कामना र सङकल्प-विकल्पबाट माथि उठाउँछ), त्यस समय '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**'- अन्तिम सङकल्पको पनि शमनको साथ, जसलाई हामी जान्दैनौं, जसलाई जान्नकोलागि हामी इच्छुक थियौं, त्यस परमात्माको प्रत्यक्ष जानकारी हुन्छ। क्रियात्मक पथमा हिंडेर परमात्माको प्रत्यक्ष जानकारीको नाम नै 'ज्ञान' हो। त्यस ज्ञानको साथै '**दग्धकर्माणम्**'- कर्म सधैंको लागि दग्ध हुन्छन्। जसलाई पाउनु थियो पाइसक्यो, अगाडि कुनै सत्ता छैन जसलाई शोध गरुँ। यसैले कर्म गरेर खोज्ने पनि कसलाई? त्यस जानकारीको साथ कर्मको आवश्यकता समाप्त हुन्छ। यस्तो स्थिति हुनेलाई नै बोधस्वरूप महापुरुषले 'पंडित' भनेर सम्बोधित गर्नुभएको छ। उसको जानकारी पूर्ण छ। यस्तो स्थिति भएका महापुरुष के गर्छ? कसरी बस्छ? वहाँको स्वभावमा प्रकाश पार्नुहुन्छ-

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।।२०।।

हुन्छ। फेरि पनि लोक-संग्रहको लागि ऊ कर्म गरिरहन्छ र गर्दागर्दै पनि ऊ यी कर्महरूमा लिप्त हुँदैन। जब गर्छन्, तब लिप्त किन हुँदैन? यसमा भन्नुहुन्छ-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

त्यस्ता मुक्त पुरुषको समर्पण ब्रह्म हो, हवि ब्रह्म हो, अग्नि पनि ब्रह्म नै हो अर्थात् ब्रह्मरूप अग्निमा ब्रह्मरूपी कर्ताद्वारा जो हवन गरिन्छ, त्यो पनि ब्रह्म हो। '**ब्रह्मकर्म समाधिना**'- जसको कर्म ब्रह्मको स्पर्श गरेर समाधिस्थ भइसकेका छन्, त्यसमा विलय भइसकेका छन्, त्यस्ता महापुरुषका लागि जो प्राप्तहुने योग्य छ, त्यो पनि ब्रह्म नै हो। ऊ आफू केही गर्दैन, लोकसङ्ग्रहको निम्ति कर्ममा लागिरहन्छ।

यो त प्राप्तिवाला महापुरुषका लक्षण हुन्, तर कर्ममा प्रवेश गर्ने प्रारम्भिक साधक कुन यज्ञ गर्दछन्?

पछिल्लो अध्यायमा श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो- अर्जुन! कर्म गर। कुन कर्म? वहाँले भन्नुभयो 'नियतकर्म'- निर्धारित गरिएको कर्म गर। निर्धारित कर्म कुन हो? तब '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**' (३/९) अर्जुन! यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। यो यज्ञबाहेक अरु जे जति गरिन्छ, त्यो यसै लोकको बन्धन हो, कर्म होइन। कर्मले त संसार-बन्धनबाट मोक्ष प्राप्त गराउँछ, अतः '**तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।**'- त्यस यज्ञको पूर्तिको लागि सँगदोषबाट अलग रहेर राम्ररी यज्ञको आचरण गर। यहाँ एउटा नवीन प्रश्न योगेश्वरले दिनुभयो- त्यो यज्ञ के हो, जसलाई गरौं र कर्म हामीबाट पार लागोस्? वहाँले कर्मका विशेषताहरूमा बल दिनुभयो र भन्नुभयो- यज्ञ आयो कहाँबाट? यज्ञले के दिन्छ? त्यसका विशेषताहरूका चित्रण गर्नुभयो, तर अहिलेसम्म यो भन्नुभएन कि यज्ञ के हो?

अब यहाँ त्यही यज्ञलाई स्पष्ट पार्नुहुन्छ-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

विषयादिबाट समेटेर संयम गर्दछन्। यहाँ आगो बल्दैन। जस्तै आगोमा हालेपछि सबै वस्तु भस्मसात् हुन्छन्, ठीक त्यसै गरी संयम पनि एउटा अग्नि हो, जो इन्द्रियहरूका सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवाह (वेग)लाई दग्ध पारिदिन्छ। अर्को योगीले शब्दादिक (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) विषयहरूलाई इन्द्रियरूपी अग्निमा हवन गर्दछन् अर्थात् उनको आशय बदलेर साधनापरक बनाउँछ।

साधकले संसारमा बसेर नै भजन गर्नुछ। सांसारिक मानिसहरूको राम्रो–नराम्रो शब्द त्यससँग ठक्कर खाई नै रहन्छन्। विषयोत्तेजक त्यस्ता शब्दहरू सुन्नासाथ साधक तिनको आशयलाई योग, वैराग्य सहायक, वैराग्योत्तेजक भावहरूमा बदलेर इन्द्रियरूपी अग्निमा हवन गरिदिन्छ। जस्तो कि एकपल्ट अर्जुन आफ्नो चिन्तानमा लागेका थिए, आकस्मात् उसको कर्ण–विवरमा संगीत लहरी झंकृत भयो। उसले टाउको उठाएर हेरे, उर्वशी उभिएकी थिइन्, जो एउटा वेश्या थिइन्। सबै त्यसको रूपमा मुग्ध भएर हल्लिरहेका थिए, तर अर्जुनले उसलाई स्नेहयुक्त दृष्टिले मातृवत् हेरे। त्यस शब्दरूपबाट प्राप्त हुने विकार विलीन भए।

यहाँ इन्द्रिय नै अग्नि हो। अग्निमा हालिएको वस्तु जस्तै भस्मसात् हुन्छ, त्यसै गरी आशय बदलेर इष्टको अनुकूल ढालि सकेपछि विषयोत्तेजक शब्द रूप, रस, गन्ध, स्पर्श र शब्द पनि भस्म भएर जान्छन्, साधकमा दुष्प्रभाव पार्न सक्तैनन्। साधक ती शब्दादिहरूमा कुनै रुचि लिंदैन र ग्रहण पनि गर्दैन।

यस श्लोकमा 'अपरे', 'अन्ये' शब्द एउटै साधकको उच्च–नीच अवस्थाहरू हुन्। एउटै यज्ञकर्त्ताको उच्च–नीच स्तर हुन्, न कि 'अपरे'–'अपरे' भन्नाले बेग्ला–बेग्लै यज्ञ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अहिलेसम्म योगेश्वरले जुन यज्ञको चर्चा गर्नुभयो, त्यसमा क्रमशः दैवी सम्पद्‌लाई अर्जित गरिन्छ, इन्द्रियहरूको सम्पूर्ण चेष्टाहरूलाई संयम गरिन्छ, अचानक विषयोत्तेजक शब्दादिकहरू टकराएपछि त्यसको आशय बदलेर

अनेक पुरुष योग-यज्ञको आचरण गर्दछन्। प्रकृतिमा भौंतारिदै गरेको आत्माको प्रकृतिदेखि पर परमात्मासंग मिलनको नाम 'योग' हो। योगको परिभाषा अध्याय ६/२३मा द्रष्टव्य छ। सामान्यतः दुई वस्तुहरूको मिलन योग कहलाउँछ। कागजबाट कलम मिल्यो, थाली र मेच मिल्यो, अनि के योग भयो? होइन, यी त पंचभूतहरूबाट निर्मित पदार्थ हुन्; एउटै हुन्, दुइटा होइनन्? दुई प्रकृति र पुरुष हुन्। प्रकृतिमा स्थित आत्मा आफ्नै शाश्वत रूप परमात्मामा प्रवेश पाउँछ तब प्रकृति पुरुषमा विलीन हुन्छ, यो नै योग हो। अतः अनेक पुरुष यस मिलनमा सहायक शम, दम इत्यादि नियमहरूलाई राम्रो ढंगले आचरण गर्दछन्। योग-यज्ञ गर्ने तथा अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतबाट युक्त यत्नशील पुरुष '**स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च**'- स्वयंको अध्ययन, स्व-रूपको अध्ययन गर्नेहरू ज्ञानयज्ञका कर्त्ता हुन्। यहाँ योगका अंगहरू (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान र समाधि) लाई अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतबाट निर्दिष्ट गरिएको छ। अनेक मानिस स्वाध्याय गर्दछन्। पुस्तक पढ्नु त स्वाध्यायको आरम्भिक स्तर मात्र हो, विशुद्ध स्वाध्याय हो- स्वयंको अध्ययन, जसबाट स्वरूपको उपलब्धि हुन्छ, जसको परिणाम हो ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार।

यज्ञको अगाडिको चरण बारेमा भन्नुहुन्छ-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

धेरै योगीहरूले अपान वायुमा प्राणवायुको हवन गर्दछन् र यसैप्रकार प्राणवायुमा अपान वायुको हवन गर्दछन्। यसबाट सूक्ष्म अवस्था भएमा अरु योगीजन प्राण र अपान दुबैको गति रोकेर प्राणायाम परायण हुन्छन्।

जसलाई श्रीकृष्ण प्राण-अपान भन्नुहुन्छ, त्यसैलाई महात्मा बुद्ध 'अनापन' भन्नुहुन्छ। यसैलाई वहाँले श्वास-प्रश्वास पनि भन्नुभयो। प्राण त्यो श्वास हो, जसलाई तपाई भित्र लिनुहुन्छ र अपान त्यो श्वास हो, जसलाई तपाई बाहिर छोड्नु हुन्छ। योगीहरूको अनुभूति छ कि तपाई श्वाससँग बाहिर वायुमण्डलको सङ्कल्प पनि ग्रहण गर्नुहुन्छ र प्रश्वासमा यसैप्रकार आन्तरिक राम्रो-नराम्रो चिन्तनका लहर फ्याँक्नु हुन्छ। बाहिरी कुनै संकल्पलाई ग्रहण नगर्नु प्राणको

जप प्रवाहित हुन्छ र अनवरत चलिनै रहन्छ। यस स्वाभाविक जपको नाम हो अजपा र यही हो 'परावाणी'को जप। यसले प्रकृतिबाट परको तत्व परमात्मामा प्रवेश दिलाउँछ। यसको अगाडि वाणीमा कुनै परिवर्तन छैन। परमको दिग्दर्शन गराएर त्यसैमा विलीन हुन्छ, यसैले यसलाई 'परा' भनिन्छ।

प्रस्तुत श्लोकमा योगेश्वर श्रीकृष्णले मात्र श्वासमा ध्यानदिन भन्नुभयो, जबकि अगाडि स्वयं 'ओम्'को जपमा बल दिनुहुन्छ। गौतम बुद्ध पनि 'अनापान सती'मा श्वास-प्रश्वासको नै चर्चा गर्नुहुन्छ। अन्ततः ती महापुरुष भन्न के चाहन्छन्? वस्तुतः प्रारम्भमा बैखरी, त्यसबाट मध्यमा र उन्नत भएपछि जपको पश्यन्ती अवस्थामा श्वास पकडमा आउँछ। त्यस बेला जप श्वासमा समाहित भएको पाइन्छ, फेरि के जप्ने? फेरि श्वासलाई हेर्नु मात्र, यसैले प्राण-अपान मात्र भन्यो, 'नाम जप'- यस्तो भनेन, कारण भन्नुको आवश्यकता छैन। यदि भन्नुहुन्छ भने अलमलिएर तलको श्रेणीहरूमा घुमि रहनेछ। महात्मा बुद्ध, 'गुरुदेव भगवान्' तथा प्रत्येक महापुरुष, जो यस मार्गबाट हिंडिसकेका छन्, सबै एउटै कुरा भन्नुहुन्छ। बैखरी र मध्यमा नाम-जपको प्रवेश-द्वार मात्र हो पश्यन्तीबाट नै नाममा प्रवेश मिल्छ। परामा धारावाही हुनजान्छ, जसबाट जपले साथ छोड्दैन।

मन श्वाससँग जोडिएको छ। जब श्वासमा दृष्टि छ, श्वासमा नाम समाहित भइसकेको छ, भित्रबाट न कुनै सङ्कल्पको उत्थान छ र न बाहिरी वायुमण्डलको संकल्प भित्र प्रवेश गर्न पाउँछ, यो नै मनमाथि विजयको अवस्था हो। यसैको साथ यज्ञको परिणाम निस्केर आउँछ।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

अर्को नियमित आहार गर्ने प्राणको प्राणलाई नै हवन गर्दछन्। 'पूज्य महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो कि- "योगीको आहार दृढ, आसन दृढ र निद्रा दृढ हुनुपर्छ।" आहार-विहारमा नियन्त्रण अतिआवश्यक छ। यस्ता अनेक योगी प्राणलाई प्राणमा नै हवन गरिदिन्छन् अर्थात् श्वासलिनुमा नै ध्यान केन्द्रित राख्दछन्, प्रश्वासमा ध्यान दिंदैन। श्वास आएमा सुने 'ओम्', फेरि आएको

कर्म स्पष्ट गरिदिनुभयो। त्यो हरकत (क्रिया-कलाप) कर्म हो, जसबाट उपर्युक्त यज्ञ पूर्ण हुन्छ।

अब यदि दैवी सम्पद्को आर्जन, सद्गुरुको ध्यान, इन्द्रियहरूको संयम, श्वासको प्रश्वासमा हवन, प्रश्वासको श्वासमा हवन, प्राण-अपानको गतिको निरोध खेती गर्नाले हुन्छ, व्यापार-नौकरी वा राजनीति गर्नाले हुन्छ, तब तपाई गर्नुस्। यज्ञ त यस्तो प्रक्रिया हो, जो पूर्ण हुने बित्तिकै तत्क्षण परब्रह्ममा प्रवेश दिलाउँछ। बाहिरी कुनै पनि कार्यबाट तपाई तत्क्षण ब्रह्ममा प्रवेश पाउनुहुन्छ भने गर्नुस्।

वस्तुतः यी सबै यज्ञ चिन्तनका अन्तःक्रियाहरू हुन्, आराधनाको चित्रण हो, जसबाट आराध्यदेव विदित हुन्छ। यज्ञ त्यस आराध्यसम्मको दूरी तय गर्ने निर्धारित प्रक्रिया-विशेष हो। यो यज्ञ श्वास-प्रश्वास, प्राणायाम इत्यादि जुन क्रियाबाट सम्पन्न हुन्छ, त्यस कार्य-प्रणालीको नाम 'कर्म' हो। कर्मको शुद्ध अर्थ हो- आराधना, चिन्तन।

प्रायः मानिसहरू भन्दछन् कि संसारमा जे पनि गर्नुस्, भइसक्यो कर्म। कामनाबाटरहित भएर जे पनि गर्दैजाऔं, भैसक्यो निष्काम कर्मयोग। कोही भन्दछन् कि बढी लाभको लागि विदेशी वस्त्र बेच्नुहुन्छ भने तब तपाई सकामी हुनुहुन्छ, देश-सेवाका लागि स्वदेशी बेच्नुस् त भयो निष्काम कर्मयोग। निष्ठापूर्वक नोकरी गरौं, हानि-लाभको चिन्ताबाट मुक्त भएर व्यापार गरौं, अनि भयो नि त निष्काम कर्मयोग। जय-पराजयको भावनाबाट मुक्त भएर युद्ध गरौं, चुनाव लडौं, अनि भयो निष्कम? मर्नेछौ भन्ने मुक्ति हुनेछ? वस्तुतः यस्तो केही पनि छैन। योगेश्वर श्रीकृष्णले स्पष्ट शब्दमा भन्नुभयो कि यस निष्काम कर्ममा निर्धारित क्रिया एउटै हो- '**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।**' अर्जुन! तिमी निर्धारित कर्मलाई गर। यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। यज्ञ के हो? श्वास-प्रश्वासको हवन, इन्द्रियहरूको संयम, यज्ञस्वरूप महापुरुषको ध्यान, प्राणायाम-प्राणहरूको निरोध। यही मनको विजेतावस्था हो। मनको प्रसार नै जगत् हो। श्रीकृष्णको शब्दमा '**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।**' (५/१९)- ती पुरुषहरूद्वारा चराचर संसार यहीं जितियो, जसको मन समत्वमा

छन्। तपाईं करोडौंको हवन गर्नुस्, सैकडौं यज्ञवेदी बनाउनुस्, सत्पथमा द्रव्य लगाउनुस्, साधु-सन्त-महापुरुषहरूको सेवामा द्रव्य लगाउनुस; तर यस ज्ञान-यज्ञभन्दा अत्यन्त न्यून छ। वस्तुतः यज्ञ श्वास-प्रश्वासको हो, इन्द्रियहरूको संयमको हो, मनको निरोधको हो, जस्तो श्रीकृष्णले अहिले भन्नुभयो। यस यज्ञलाई प्राप्त कहाँबाट गर्ने? त्यसको विधि कहाँबाट सिक्ने? मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघरमा मिल्नेछ वा पुस्तकमा? तीर्थयात्राहरूमा वा नुहाउनाले पाइनेछ? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- होइन, त्यसको त एउटै स्रोत छ तत्वस्थित महापुरुष; यथा-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

यसैले अर्जुन! तिमी तत्वदर्शी महापुरषको नजिक गएर, राम्रो ढंगले प्रणत भएर (दण्डवत्-प्रणाम गरेर, अहंकार त्यागेर, शरण भएर) राम्रो ढंगले सेवा गरेर, निष्कपट भावले प्रश्न गरेर तिमी त्यस ज्ञानलाई जान। ती तत्वलाई जान्ने ज्ञानीजन तिम्रोलागि त्यस ज्ञानको उपदेश गर्नेछन् साधना-पथमा लगाउने छन्। समर्पित भावले सेवा गरेपछि नै यस ज्ञानलाई सिक्ने क्षमता आउँछ। तत्वदर्शी महापुरुष परमतत्व परमात्माको प्रत्यक्ष दिग्दर्शन गर्नेहरू हुन्।उनी यज्ञको विधि-विशेषको ज्ञाता हुन्। उनीले नै तपाईलाई पनि सिखाउने छन्। यदि अरू यज्ञ हुन्थ्यो भने ज्ञानी तत्वदर्शीको के आवश्यकता थियो?

स्वयं भगवान्को सामुने नै अर्जुन उभेका थिए, भगवान् उसलाई तत्वदर्शीको समक्ष किन पठाउनु हुन्छ? वस्तुतः श्रीकृष्ण एउटा योगी हुनुहुन्थ्यो। उनको आशय छ कि आज त अनुरागी अर्जुन मेरो समक्ष उपस्थित छ, भविष्यमा अनुरागीहरूलाई भ्रम नहोस् कि श्रीकृष्ण गईसके, अब कसको शरणमा जाऊँ? यसैले वहाँले स्पष्ट गर्नुभयो कि तत्वदर्शीको समक्ष जाऊ। ती ज्ञानीजन तिमीलाई उपदेश गर्नेछन्। र-

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

यस संसारमा ज्ञानको समान पवित्र गर्ने निःसन्देह केही पनि छैन। त्यस ज्ञान (साक्षत्कार)लाई तिमी स्वयं (अर्को होइन) योगको परिपक्व अवस्थामा (आरम्भमा होइन) आफ्नो आत्मा अन्तर्गत हृदय-देशमा नै अनुभव गर्नेछौ, बाहिर होइन। यस ज्ञानको लागि कुन योग्यता अपेक्षित छ? योगेश्वरकै शब्दमा-

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

श्रद्धावान, तत्पर तथा संयतेन्द्रिय पुरुषले नै ज्ञान प्राप्न गर्न पाउँछन्। भावपूर्वक जिज्ञासा छैन भने तत्वदर्शीको शरणमा गए पनि ज्ञानप्राप्त हुँदैन। मात्र श्रद्धा नै पर्याप्त हुँदैन, श्रद्धावान् शिथिल प्रयत्न पनि हुनसक्छ। अतः महापुरुषद्वारा निर्दिष्ट पथमा तत्परताका साथ अग्रसर हुने लगन आवश्यक छ। यसको साथै सम्पूर्ण इन्द्रियहरूको संयम पनि अनिवार्य छ। जो वासनाहरूबाट अलग छैन, उसको लागि साक्षत्कार (ज्ञानको प्राप्ति) कठिन छ। मात्र श्रद्धावान्, आचरणरत संयतेन्द्रिय पुरुषले नै ज्ञान प्राप्त गर्दछन्। ज्ञानलाई प्राप्त गरेर ऊ तत्क्षण परमशान्तिलाई प्राप्त हुन्छ, त्यसपछि केही पनि पाउन बाँकी रहँदैन। यो नै अन्तिम शान्ति हो। फेरि ऊ कहिलै पनि अशान्त हुदैन। र जहाँ श्रद्धा छैन-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अज्ञानी जो यज्ञको विधि-विशेषबाट अनभिज्ञ छ र श्रद्धारहित तथा संशययुक्त पुरुष यस परमार्थ पथबाट भ्रष्ट हुन्छ, त्यसमा पनि संशययुक्त पुरुषका लागि न सुख छ, न पुनः मनुष्य-शरीर छ र न परमात्मा नै। अतः तत्वदर्शी समक्ष गएर यस बाटोको संशयको निवारण गर्नु पर्दछ होइन भने वस्तुको परिचय उसले कहिलै पनि पाउनु हुन्न। फेरि कसले पाउँछन्?-

महत्व बुझेपछि मनमा त्यस वाक्यप्रति इच्छा जागृत हुन्छ र योगले कार्यरूप लिन्छ। क्रमशः उत्थान गर्दा-गर्दै यो योग ऋद्धि-सिद्धिहरूको राजर्षित्व श्रेणीसम्म पुगेर नष्ट हुने स्थितिमा पुग्छ, तर जो प्रिय भक्त छ, अनन्य सखा छ, त्यसलाई महापुरुषले नै सम्भाल्छन्।

अर्जुनले प्रश्न गरे कि, तपाईंको जन्म त अब भएको छ। योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि अव्यक्त, अविनाशी, अजन्मा र सम्पूर्ण भूतहरूमा प्रवाहित भए पनि आत्म-माया, योग-प्रक्रियाद्वारा आफ्नो त्रिगुणमयी प्रकृतिलाई वशमा गरेर म प्रकट हुन्छु। प्रकट भएर के गर्नुहुन्छ? साध्य वस्तुहरूको परित्राण दिने तथा जसबाट दूषित उत्पन्न हुन्छन् त्यसको विनाश गर्नको लागि, परमधर्म परमात्मालाई स्थिर गर्नको लागि म आरम्भदेखि पूर्तिपर्यन्त पैदा हुन्छु। मेरो त्यो जन्म र कर्म दिव्य छ, त्यसलाई मात्र तत्वदर्शीले थाहा पाउँछन्। भगवान्को आविर्भाव त कलियुगको अवस्थादेखि नै हुन्छ, यदि साँचिकैको लगन होस् भने तर आरम्भिक साधकले बुझ्नै पाउँदैन कि यो भगवान् बोल्दैछन् वा त्यसै संकेत आइरहेछन्। आकाशबाट को बोल्छ? 'महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो कि जब भगवान् कृपा गर्नुहुन्छ, आत्माबाट रथी हुन्छन्, तब पातबाट, रूखबाट, शून्यबाट, खंभाबाट- प्रत्येक स्थानबाट बोल्नुहुन्छ र संभाल्नु हुन्छ। उत्थान हुँदा-हुँदै जब परमतत्व परमात्मा विदित हुन्छ, तब मात्र स्पर्शको साथै उसले स्पष्ट बुझ्न पाउँछ। यसैले अर्जुन! मेरो त्यस स्वरूपलाई तत्वदर्शीहरूले देखे र मलाई जानेर उनी तत्क्षण मभित्र नै प्रविष्ट हुन्छन्, जहाँबाट पुनः आवागमनमा आउँदैनन्।

यसप्रकार वहाँले भगवान्को आविर्भावको विधि बताउनुभयो कि त्यो कुनै अनुरागीको हृदयमा हुन्छ, बाहिर होइन। श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि मलाई कर्मले बाँध्दैन र यस स्तरबाट मलाई जसले जान्दछ, त्यसलाई पनि कर्मले बाँध्दैन। यही सम्झेर मुमुक्षु पुरुषहरूले कर्म गर्न आरम्भ गरेका थिए कि त्यस स्तरले जानेपछि, त जस्तो श्रीकृष्ण त्यस्तो नै त्यस स्तरबाट जान्ने त्यो पुरुष र जानेर त्यस्तै त्यो मुमुक्षु अर्जुन। यो उपलब्धि निश्चित छ, यदि यज्ञ गरियो भने। यज्ञको स्वरूप बताउनुभयो। यज्ञको परिणाम परमतत्व, परमशान्ति बताए। यस ज्ञानलाई पाउनु कहाँ? यसमा कुनै तत्वदर्शी समक्ष जाने र त्यही विधिहरूबाट प्रस्तुत हुने भनियो, जसले त्यो महापुरुष अनुकूल होऊन्।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

।। अथ पञ्चमोऽध्यायः।।

पाँचौं अध्याय

अध्याय तीनमा अर्जुनले प्रश्न राखेको थिए कि भगवन्! जब ज्ञानयोग तपाईंको श्रेष्ठ मान्य छ भने तपाईं मलाई भयंकर कर्महरूमा किन लगाउनु हुन्छ? अर्जुनलाई निष्काम कर्मयोगको अपेक्षा ज्ञानयोग केही सरल प्रतीत भएको जस्तो लग्छ; किनकि ज्ञानयोगमा हार्नुले देवत्व र विजयमा 'महामहिम स्थिति' दुबै दशाहरूमा लाभ नै लाभ प्रतीत भयो। तर अबसम्म अर्जुनले राम्ररी बुझिसक्यो कि दुबै मार्गहरूमा कर्म त गर्नै पर्दछ (योगेश्वर त्यसलाई संशयरहित भएर तत्वदर्शी महापुरुषको शरण लिनको लागि पनि प्रेरित गर्दछन्; किनकि बुझ्नको लागि त्यही एउटा स्थान छ।) अतः दुबै मार्गहरूमा एउटा रोज्नु भन्दा पूर्व निवेदन गरे-

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

हे श्रीकृष्ण! तपाईं कहिले संन्यास माध्यमबाट गरिने कर्मको र कहिले निष्काम दृष्टिद्वारा गरिने कर्मको प्रशंसा गर्नुहुन्छ? यी दुबैमध्ये जुन राम्ररी तपाईंद्वारा निश्चित गरिएको छ, जो परमकल्याणकारी छ, त्यस्तो कर्म मलाई भन्नुहोस्। कतै जानेको लागि तपाईंलाई दुइवटा बाटाको बारेमा भनियो भने तपाईं सजिलो मार्गको बारेमा अवश्य सोध्नुहुन्छ। यदि सोध्नुहुन्न भने तपाईं जानेवाला छैन। यसमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो-

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अर्जुन! संन्यास-माध्यमबाट अर्थात् ज्ञानमार्गद्वारा गर्नेकर्म र 'कर्मयोग'- निष्काम भावनाबाट गर्नेकर्म- यी दुबै नै परमश्रेय दिलाउने छन्; तर यी दुबै मार्गमध्ये संन्यास अथवा ज्ञानदृष्टिबाट गर्नेकर्मको अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ छ। प्रश्न स्वाभाविक छ कि श्रेष्ठ किन छ?-

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

महाबाहु अर्जुन! जो न कसैसंग द्वेष गर्छ, न कसैको आकांक्षा गर्दछ, त्यो सधैं संन्यासी नै मानन‍ेयोग्य छ। चाहे त्यो ज्ञानमार्गबाट वा निष्काम कर्ममार्गबाट नै किन नहोस्। राग-द्वेष आदि द्वन्द्वबाट रहित त्यो पुरुष सुखपूर्वक भव-बन्धनबाट मुक्त हुन्छ।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

निष्काम कर्मयोग तथा ज्ञानयोग यी दुबैलाई त्यसले मात्र बेग्ला-बेग्लै बताउँछ जसको समझ यस पथमा अहिले धेरै हलुको छ, न कि पूर्णज्ञाता पंडितजन; किनकि दुबैमध्ये एउटामा पनि राम्ररी स्थित भएको पुरुष दुबैको फलरूप परमात्मालाई प्राप्त हुन्छ। दुबैको फल एउटै हो, यसैले दुबै एकै समान छन्।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

जहाँ सांख्य-दृष्टिबाट कर्म गर्नेले पुग्दछ, त्यहीं निष्काम माध्यमबाट कर्म गर्ने पनि पुग्दछ। यसैले जो दुबैलाई फलको दृष्टिले एक हेर्छ, ऊ यथार्थ जान्ने (ज्ञाता) हो। जब दुबै एउटै स्थानमा पुग्दछ, भने निष्काम कर्मयोग विशेष किन? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

अर्जुन! निष्काम कर्मयोगको आचरण नगरीकन '**संन्यासः**'- अर्थात् सर्वस्वको न्यास प्राप्तहुनु दुःखप्रद छ। जब योगको आचरण प्रारम्भ नै गरेन

भने असम्भव-जस्तै हो। यसैले भगवत्स्वरूपको मनन गर्ने मुनि, जसको मनसहित इन्द्रियहरू मौन छन्, निष्काम कर्मयोगको आचरण गरेर परब्रह्म परमात्मामा शीघ्र नै प्राप्त हुन्छ।

स्पष्ट छ कि ज्ञानयोगमा निष्काम कर्मयोगको नै आचरण गर्नुपर्दछ, किनकि क्रिया दुबैमा एउटै हो। त्यही यज्ञको क्रिया हो, जसको शुद्ध अर्थ हो- 'आराधना'। दुबै मार्गहरूमा फरक मात्र कर्त्ताको दृष्टिकोणको छ। एउटा आफ्नो शक्तिलाई सम्झेर हानि-लाभ हेर्दै यसै कर्ममा प्रवृत्त हुन्छ र अर्को निष्काम कर्मयोगी इष्टमा निर्भर भएर यसै क्रियामा प्रवृत्त हुन्छ। उदाहरणार्थ एउटा प्राइवेट पढ्दछ, अर्को नोमिनेट (भर्ना भएको)। दुबैको पाठ्यक्रम एउटै छ, परीक्षा एउटै छ, परीक्षक-निरीक्षक दुबैमा एउटै छन्। ठीक यसैप्रकार दुबैका सद्गुरु तत्वदर्शी हुन् र डिग्री एउटै हो। मात्र दुबैको पढ्ने दृष्टिकोण भिन्न छ। हो, संस्थागत छात्रलाई सुविधाहरू बढी रहन्छन्।

पछाडि श्रीकृष्णले भन्नुभयो- काम र क्रोध दुर्जय शत्रु हुन्। अर्जुन! यिनलाई तिमी मार। अर्जुनलाई लाग्यो कि यो त धेरै कठिन छ; तर श्रीकृष्णले भन्नुभयो- होइन, शरीरबाट पर इन्द्रियहरू छन्, इन्द्रियहरूबाट पर मन छ, मनबाट पर बुद्धि छ र बुद्धिबाट पनि पर तिम्रो स्वरूप छ। तिमी त्यहींबाट प्रेरित छौं। यसप्रकार आफ्नो औकातलाई सम्झेर, आफ्नो शक्तिलाई सामुने राखेर, स्वलम्बी भएर कर्ममा प्रवृत्तहुनु 'ज्ञानयोग' हो। श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो, चित्तलाई ध्यानस्थ गर्दै, कर्महरूलाई ममा समर्पण गरेर, आशा, ममता र सन्तापरहित भएर युद्ध गर। समर्पणको साथ इष्टमा निर्भर भएर त्यही कर्ममा प्रवृत्तहुनु निष्काम कर्मयोग हो। दुबैको क्रिया एउटै हो र परिणाम पनि एउटै हो।

यसैमाथि जोड (बल) दिएर श्रीकृष्ण यहाँ भन्नुहुन्छ कि योगको चारण नगरीकरन सन्यास अर्थात् शुभाशुभ कर्महरूको अन्त्यको स्थिति प्राप्तहुनु असम्भव छ। श्रीकृष्णको अनुसार यस्तो कुनै योग छैन कि हातमाथि हात राखेर बसि-बसि नै भनौं कि- म परमात्मा हुँ, शुद्ध हुँ, बुद्ध हुँ, मेरो लागि न त कर्म छ, न बन्धन। म राम्रो-नराम्रो केही गरेको देखिए पनि इन्द्रियहरू आफ्नो अर्थमा कार्यरत छैन्। साक्षत् योगेश्वर पनि आफ्नो अनन्य सखा अर्जुनलाई बिना कर्मको यो स्थिति दिन सक्नुभएन। यदि यस्तो वहाँ गर्नसक्नु हुन्छ भने

गीताको आवश्यकता नै के थियो? कर्म त गर्नु नै पर्दछ। कर्म गरेर नै संन्यासको स्थिति पाउन सकिन्छ र योगयुक्त पुरुष चाँडै नै परमात्मामा प्राप्त हुन्छ। योगयुक्त पुरुषको लक्षण के हो? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ–

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

'**विजितात्मा**'– विशेषरूपबाट जितिएको छ शरीर जसको, '**जितेन्द्रियः**'– जितिएका छन् इन्द्रियहरू जसको र '**विशुद्धात्मा**'– सम्पूर्ण भूत–प्राणीहरूबाट शुद्ध छ अन्तःकरण जसको, यस्तो पुरुष; '**सर्वभूतात्मभूतात्मा**'– सम्पूर्ण भूत–प्राणिहरूको आत्माको मूल उद्‌गम परमात्माबाट एकीभाव भएर योगले युक्त छ। ऊ कर्म गर्दागर्दै पनि त्यसबाट लिप्त हुँदैन। अनि किन गर्छ? पछिका पीडिहरूमा परमकल्याणकारी बीउको संग्रह गर्नको लागि। लिप्त किन हुँदैन? किनकि सम्पूर्ण प्राणिहरूको जो मूल उद्‌गम छ, जसको नाम परमतत्व हो, त्यस तत्वमा त्यो स्थित हुनगयो। अगाडि कुनै वस्तु छैन, जसको शोध गरोस्? पछि वस्तुहरू सानो भने अनि आसक्ति कसमा गर्ने? यसले ऊ कर्मबाट आवृत्त हुँदैन। यो योगयुक्तको पराकाष्ठाको चित्रण हो। फेरि योगयुक्त पुरुषको प्रकृति स्पष्ट गर्नुहुन्छ कि त्यो गर्दागर्दै पनि त्यसमा लिप्त किन हुँदैन?–

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

परमतत्व परमात्मालाई साक्षात्कारसहित जान्ने योगयुक्त पुरुषको यो मनःस्थिति अर्थात् अनुभूति छ कि म कदापि अलिकति पनि केही गर्दिन। यो उसको कल्पना होइन, बरू यो स्थिति उसले कर्म गरेर पाएको हो। यथा– '**युक्तो मन्येत**'– अब प्राप्तिको पश्चात् त्यो सबैकुरा देख्दै, सुन्दै, स्पर्श गर्दै, सुँघ्दै, भोजन गर्दै, गमन गर्दै, सुत्दै, श्वास फेर्दै, त्याग्दै, ग्रहण गर्दै, आँखा खोल्दै र चिम्लन्दै पनि इन्द्रियहरू आफ्नै अर्थमा क्रियाशील छन्– यस्तो धारणावाला हुन्छ। परमात्माभन्दा अरु कोही छैन र त्यसमा त्यो स्थित नै छ भने त्यसभन्दा

बढी कुन सुखको कामनाबाट उसले कसैको दर्शन, स्पर्श इत्यादि गर्नेछ? यदि कुनै श्रेष्ठवस्तु अगाडि हुन्थ्यो भने आसक्ति अवश्य हुन्छ। तर प्राप्तिपछि अझै अगाडि कहाँ जानेछ र पछि के त्याग्नेछ? यसैले योगयुक्त पुरुष लिप्त हुँदैन। यसैलाई एउट उदाहरणको माध्यमबाट प्रस्तुत गर्नुहुन्छ–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

कमल हिलोमा हुन्छ, त्यसको पात पानीमाथि उत्रन्छ। लहरहरू दिन र राती त्यसको माथिबाट जान्छन्; तर तपाईं पातलाई हेर्नुस्, सूखा मिल्नेछन्। पानीको एकथोपा पनि त्यसमा टिक्दैन। हिलो र पानीमा रहेर पनि त्यो त्यसबाट लिप्त हुँदैन। ठीक यसैप्रकार जो पुरुष सबै कर्महरूलाई परमात्मामा विलय गरेर (साक्षात्कारको साथ नै कर्मको विलय हुन्छ, यसभन्दा पूर्व होइन), आसक्तिलाई त्यागेर (अब अगाडि कुनै वस्तु छैन अतः आसक्ति रहँदैन, यसैले आसक्तिलाई त्यागेर) कर्म गर्दछन्, त्यो पनि यसैप्रकार लिप्त हुँदैन। फेरि त्यो के गर्दछ? तपाईंहरूको लागि, समाजको कल्याण–साधनको लागि, पछिका मार्गदर्शनका लागि। यसैमाथि जोड (बल) दिनुहुन्छ–

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

योगीजन मात्र इन्द्रिय, मन, बुद्धि र शरीरद्वारा पनि आसक्ति त्यागेर आत्मशुद्धिको लागि कर्म गर्दछन्। जब कर्म ब्रह्ममा विलय भइसक्यो त के अब पनि आत्मा अशुद्ध नै छ? होइन, उनी '**सर्वभूतात्मभूतात्मा**' भइसकेका छन्। सम्पूर्ण प्राणिहरूमा उसले आफ्नै आत्माको प्रसार पाउँछन्। ती सबै आत्माहरूको शुद्धिको लागि, तपाईं सबैको मार्ग–दर्शन गर्नको लागि उनी कर्ममा लागि रहन्छन्। शरीर, मन, बुद्धि तथा मात्र इन्द्रियहरूबाट उसले कर्म गर्दछ, स्वरूपबाट ऊ केही पनि गर्दैन, स्थिर छ। बाहिरबाट ऊ सक्रिय देखिन्छ तर भित्र त्यसमा असीम शान्ति छ। डोरी डढयो तर बटारिएको (आकार) बाँकी छ, जसले बाँध्न सक्दैन।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

'योगयुक्त' अर्थात् योगको परिणामलाई प्राप्त पुरुष, जो सबै प्राणिहरूको आत्माको मूल परमात्मामा स्थित छ, यस्तो योगी कर्मको फललाई त्यागेर (कर्मको फल परमात्मा त्योभन्दा भिन्न छैन, यसैले अब कर्मफललाई त्यागेर) **'नैष्ठिकीम् शान्तिम् आप्नोति'**- शान्तिको अन्तिम अवस्थालाई प्राप्तहुन्छ, जसको अगाडि कुनै शान्ति बाँकी छैन, त्यसपछि ऊ कहिले पनि अशान्त हुँदैन। तर अयुक्त पुरुष, जो योगको परिणामबाट युक्त छैन, अहिले बाटोमा छ- यस्तो पुरुष फलमा आसक्त भएर (फल हो परमात्मा, त्यसमा उसले आसक्तहुनु आवश्यक छ। यसैले फलमा आसक्त भएर पनि) **'कामकारेण निबध्यते'**- कामना गरेर बाँधिन्छ अर्थात् पूर्तिपर्यन्त कामनाहरू जागृत हुन्छन्, अतः साधकले पूर्तिपर्यन्त सावधान रहनुपर्छ। 'महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो- "हो! अलिकति पनि हामी अलग, भगवान् अलग छ भने माया सफल हुन्छ।" भोली नै प्राप्ति हुनु छ तर आज त त्यो अज्ञानी नै छ, अतः पूर्तिपर्यन्त साधकले असावधान हुनु हुँदैन। यसैमा अगाडि हेरौं-

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

जो सम्पूर्णरूपले स्ववश छ, जो शरीर, मन, बुद्धि र प्रकृतिबाट पर स्वयं स्थित छ, यस्तो वशी पुरुष निःसन्देह न केही गर्दछ न गराउँछ। पछिका पीढिहरूबाट गराउने पनि उसको आन्तरिक शान्तिको स्पर्श गर्न पाउँदैन। यस्तो स्वरूपस्थ पुरुष शब्दादि विषयहरूलाई उपलब्ध गराउने नौवटा ढोका (दुई कान, दुई नेत्र, दुई नासिका प्वाल, एउटा मुख, उपस्थ एवम् पायु) भएको शरीररूपी घरमा सबै कर्महरूलाई मनले त्यागेर स्वरूपानन्दमा नै स्थित रहन्छ। यथार्थतः त्यो न केही गर्दछ, न गराउँदछ।

यसैलाई फेरि श्रीकृष्ण अर्को शब्दमा भन्नुहुन्छ कि त्यो प्रभु न केही गर्दछ, न गराउँदछ। सद्गुरु, भगवान्, प्रभु, स्वरूपस्थ महापुरुष, युक्त इत्यादि एक अर्काका पर्याय हुन्, अलगबाट कुनै भगवान् केही गर्न आउँदैन। त्यो जब गर्दछ तब यिनै स्वरूपस्थ इष्टको माध्यमबाट गराउँदछ। महापुरुषको लागि शरीर घरमात्र हो। अतः परमात्माले गर्नु र महापुरुषले गर्नु एउटै कुरा हो किनकि त्यो उनकैद्वारा हो। वस्तुतः त्यो पुरुष (प्रभु) गर्दागर्दै पनि केही गर्दैन।

यसैमा अगाडिको श्लोक हेरौं–

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

त्यो प्रभु न त भूतप्राणिहरूको कर्त्तापनको, न कर्मको र न कर्मफलहरूको संयोग नै मिलाउँछ, बरू स्वभावमा स्थित प्रकृतिको दबाव अनुसार नै सबै आचरण गर्दछन्। जसको जस्तो प्रकृति– सात्विक, राजसी अथवा तामसी छ, त्यसै स्तरमा त्यसले आचरण गर्दछ। प्रकृति त लामो–चाक्लो छ, तर तपाईंमाथि त्यतिकै प्रभाव पार्दछ, जति तपाईंको स्वभाव विकृत अथवा विकसित छ।

प्रायः मानिसहरू भन्दछन् कि गर्ने र गराउने भगवान् हुन्, हामी त यन्त्रमात्र हौं। हामीबाट वहाँले राम्रो गराउन वा नराम्रो। तर योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि न प्रभुले स्वयं गर्दछ, न गराउँदछ, न गराउनै खोज्दछ। मानिसहरू आफ्नो स्वभावमा स्थित प्रकृतिको अनुरूप नै गर्ने गर्दछन्। स्वतः कार्य गर्दछन्। ऊ आफ्नो बानीले विवश भएर गर्दछ, भगवान् गर्दैन। अनि मानिसहरू किन भन्दछन् कि भगवान्ले गर्दछन् ? यसमा योगेश्वर भन्नुहुन्छ–

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

जसलाई अहिले प्रभु भनियो, उसैलाई यहाँ विभु भनिएको छ, किनकि त्यो सम्पूर्ण वैभवयुक्त छ। प्रभुता एवं वैभवयुक्त त्यो परमात्मा न कसैको पाप–कर्मलाई र न कसैको पुण्य–कर्मलाई नै ग्रहण गर्दछ; तैपनि मानिसहरू किन भन्दछन्? यसकारण कि अज्ञानद्वारा ज्ञान ढाकिएको छ। उसलाई अहिलेसम्म साक्षत्कारसहित ज्ञान त भएन। उनी अहिले जन्तु छन्। मोहवश उनी अहिले जे पनि भन्न सक्दछन्। ज्ञानबाट के हुन्छ? यसलाई स्पष्ट गर्नुहुन्छ–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

जसको अन्तःकरणको त्यो अज्ञान (जसले ज्ञानलाई ढाकेको थियो), आत्म–साक्षात्कारद्वारा नष्ट भइसकेको छ र यसप्रकार जसले ज्ञान प्राप्त गरिसकेको छ, उसको त्यो ज्ञानले सूर्यको सदृश त्यस परमतत्व परमात्मालाई

प्रकाशित गर्दछ। अनि के परमात्मा कुनै अन्धकारको नाम हो? होइन, त्यो त **'स्वयं प्रकाश रूप दिन राती।'**- स्वयं प्रकाशरूप हो। हुनत छ, तर हाम्रो उपभोगको लागि त होइन, देखिंदैन? जब ज्ञानद्वारा अज्ञानको आवरण हटेर जान्छ, जब उसको त्यो ज्ञान सूर्यको जस्तै परमात्मालाई आफूमा प्रवाहित गरिलिन्छ। फेरि त्यस पुरुषको लागि कतै अन्धकार रहँदैन। त्यस ज्ञानको स्वरूप के हो?-

तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

जब त्यस परमतत्व परमात्माको अनुरूप बुद्धि हुन्छ, तत्वको अनुरूप प्रवाहित मन हुन्छ, परमतत्व परमात्मामा एकीभावद्वारा त्यसको आचरण हुन्छ र त्यसैको परायण हुन्छ, यसैको नाम ज्ञान हो। ज्ञान कुनै बकवास वा विवाद होइन। यस ज्ञानद्वारा पापरहित भएको पुरुष पुनरागमनरहित परमगतिलाई प्राप्त हुन्छ। परमगतिलाई प्राप्त, पूर्णज्ञानी पुरुष नै पण्डित कहलाउँछन्। अगाडि हेरौं-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

ज्ञानद्वारा जसको पाप नष्ट भइसकेको छ, जो 'अपुनरावर्ती परमगति'-लाई प्राप्त गरिसकेको छ, यस्ता ज्ञानीजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डालमा, गाई र कुकुरमा तथा हात्तीमा समान दृष्टिभएका हुन्छन्। उनको दृष्टिमा विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण न त कुनै विशेषता राख्दछ र नै चाण्डालले कुनै हीनता राख्दछ। न गाई धर्म हो, न कुकुर अधर्म र न हात्तीको विशालता नै राख्दछ। यस्ता पण्डित, ज्ञाताजन समदर्शी र समवर्ती हुन्छन्। उनको दृष्टि छालामा रहँदैन बरू आत्मामा पर्दछ। फरक यति हो कि विद्याविनयसम्पन्न स्वरूपको नजिक छ र बाँकी केही टाढा छन्। कोही एक मंजिल अगाडि छन् त कोही पछिल्लो भरयाङमा। शरीर त वस्त्र हो। उसको दृष्टि वस्त्रलाई महत्व दिंदैन बरू उसको हृदयमा स्थित आत्मामा पर्दछ। त्यसैले ऊ कुनै भेद-भाव राख्दैनन्।

श्रीकृष्णले पर्याप्त गो-सेवा गर्नुभएको थियो। वहाँले गाईप्रति गौरवपूर्ण शब्द भन्नुपर्दथ्यो तर वहाँले यस्तो केही पनि भन्नुभएन। श्रीकृष्णले गाईलाई

धर्ममा कुनै स्थान दिनु भएन। वहाँले मात्र यति मान्नुभयो कि अरू जीवात्माहरू जस्तै त्यसमा पनि आत्मा छ। गाईको आर्थिक महत्व जे होस् उसको धार्मिक विशेषता पछिका मानिसहरूको देन हो। श्रीकृष्णले अगाडि भन्नुभयो कि अविवेकीहरूको बुद्धि अनन्त शाखाहरूभएका हुन्छन् यसैले उसले अनन्त क्रियाहरूको विस्तार गरिदिन्छन्। देखाउने शोभायुक्त वाणीमा उसले त्यसलाई व्यक्त पनि गर्दछ। उसको वाणीको छाप जसको चित्तमा पर्दछ, उसको पनि बुद्धि नष्ट हुन्छ। ती केही पाउँदैनन्, नष्ट हुन्छन्। जबकि निष्काम कर्मयोगमा अर्जुन! निर्धारित क्रिया एउटै छ– यज्ञको प्रक्रिया 'आराधना'। गाई, कुकुर, हात्ती, पीपल, नदीको धार्मिक महत्व यी अनन्त शाखा भएकाहरूको देन हो। यदि यिनको कुनै धार्मिक महत्व हुन्थ्यो भने श्रीकृष्णले अवश्य भन्नुहुन्थ्यो। हो, मन्दिर–मस्जिद इत्यादि पूजाका स्थल आरम्भिककालमा अवश्य छ, त्यहाँ प्रेरणादायक सामूहिक उपदेश छन् भने त्यसको उपयोगिता अवश्य छ, ती धर्मोपदेश केन्द्र हुन्।

प्रस्तुत श्लोकमा दुई पंडितहरूको चर्चा छ। एउटा पण्डित त त्यो हो, जो पूर्णज्ञाता छ र अर्को त्यो हो जो विद्या–विनयसम्पन्न छ। यो दुई कसरी? वस्तुतः प्रत्येक श्रेणीको दुई सीमाहरू हुन्छन्– एउटा अधिकतम सीमा पराकाष्ठा र अर्को प्रवेशिका अथवा निम्नतम सीमा। उदाहरणको लागि भक्तिको निम्नतम सीमा त्यो हो जहाँबाट भक्ति आरम्भ गरिन्छ, विवेक–वैराग्य र लगनका साथ जब आराधना गरिन्छ र अधिकतम सीमा त्यो हो जहाँ भक्ति आफ्नो परिणाम दिने स्थितिमा हुन्छ। ठीक त्यसैप्रकार ब्राह्मण–श्रेणी हो। जब ब्राह्ममा प्रवेश दिलाउने क्षमता आउँछ, त्यस समय विद्या हुन्छ, विनय हुन्छ, मनको शमन, इनिद्रयहरूको दमन, अनुभवी सूत्रपात्को संचार, धारावाही चिन्तन, ध्यान र समाधि इत्यादि ब्रह्ममा प्रवेश दिलाउने सम्पूर्ण योग्यताहरू उसको अन्तरालमा स्वभाविक कार्यरत रहन्छन्, यो ब्राह्मणत्वको निम्नतम सीमा हो। उच्चतम सीमा तब आउँछ, जब क्रमशः उन्नत हुँदै ॐ ब्रह्माको दिग्दर्शन गरेर त्यसमा विलय हुनपाउँछ। जसलाई जान्नु थियो, जानियो। त्यो पूर्णज्ञाता हो। अपुनरा–वृत्तिवाला यस्तो महापुरुष त्यस विद्या–विनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, कुकुर, हात्ती र गाई सबैमा समान दृष्टिवाला हुन्छ, किनकि उसको दृष्टि हृदयस्थित

आत्मस्वरूपमा पर्दछ। यस्तो महापुरुषलाई परमगतिमा के मिलेको छ र कसरी? यसमा प्रकाशपार्दै योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्‌ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

ती पुरुषहरूद्वारा जीवित अवस्थामा नै सम्पूर्ण संसारलाई जितियो, जसको मन समत्वमा स्थित छ। मनको समत्वको संसार जित्नुसँग के सम्बन्ध? संसार विलीन भयो, तब ती पुरुष रह्यो कहाँ? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ, '**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**'– त्यो ब्रह्म निर्दोष र सम छ। यता उसको मन पनि निर्दोष र सम स्थितिमा हुन्छ, यसकारण त्यहो ब्रह्ममा स्थित हुन्छ। यसैको नाम अपुनरावर्ती परमगति हो। यो कहिले मिल्छ? जब संसाररूपी शत्रु जित्नमा आउँछ। संसार कहिले जित्नमा आउँछ? जब मनको निरोध होस्, समत्वमा प्रवेश पाओस् (किनकि मनको प्रसार नै संसार हो) जब त्यो ब्रह्मनमा स्थित हुन्छ, तब ब्रह्मविद्‌को लक्षण के हो? उसको प्रकृति स्पष्ट गर्नुहुन्छ–

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्‌ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

उसको कोही प्रिय–अप्रिय हुँदैन। यसैले जसलाई मानिस प्रिय सम्झन्छ, त्यसलाई पाएर त्यो हर्षित र जसलाई मानिस अप्रिय सम्झन्छ (जस्तो धर्मावलम्बी चिनो लगाउँछन्), त्यसलाई पाएर त्यो उद्वेगवान् हुँदैन। यस्तो स्थिरबुद्धि, '**असंमूढ**'– संशयरहित, '**ब्रह्मविद्**'– ब्रह्मद्वारा संयुक्त, ब्रह्मवेत्ता '**ब्रह्मणि स्थितः**'– परात्पर ब्रह्ममा सधैं स्थित छ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

बाहिर संसारको विषय–भोगमा अनासक्त पुरुष अन्तरात्मामा स्थित जो सुख छ, त्यस सुखलाई प्राप्त गर्दछ। त्यो पुरुष '**ब्रह्मयोगयुक्तात्मा**'– परब्रह्म परमात्मासंग मिलनले युक्त आत्मा भएको हो, यसैले त्यो अक्षय आनन्दको अनुभव गर्दछ, जुन आनन्दको कहिले पनि क्षय हुँदैन। यस आनन्दको उपभोग कसले गर्नसक्छ? जो बाहिरको विषय–भोगबाट अनासक्त छ। त के भोग बाधक छ? भगवान् श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

मात्र त्वचा नै होइन, सबै इन्द्रियहरू स्पर्श गर्दछन्। देख्नु- आँखाको स्पर्श हो, सुन्नु-कानको स्पर्श हो। यसैप्रकार इन्द्रिय र विषयको सँयोगबाट उत्पन्न हुने सबै भोग यद्यपि भोग्नमा प्रिय प्रतित हुन्छन्; तर निःसन्देह ती सबै '**दुःखयोनयः**'- दुःखद योनिहरूका कारण हुन्। ती भोग नै योनिका कारण हुन्। यति मात्र होइन, ती भोग उत्पन्न हुने, मेटिने र नाशवान् हुन्। यसैले कोन्तेय! विवेकी पुरुष त्यसमा फँस्दैन। इन्द्रियहरूको यी स्पर्शहरूमा के रहन्छन्? काम र क्रोध, राग र द्वेष। यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

यसैले जो मानिस शरीर नष्ट हुनुभन्दा पहिले काम र क्रोधबाट उत्पन्न भएको वेगलाई सहन गर्नमा (समाप्त गर्नमा) सक्षम छ, त्यो नर (रमन न गर्ने) हो। त्यो नै यस लोकमा योगले युक्त छ र त्यही सुखी छ। जसको पछि दुःख छैन, त्यस सुखमा अर्थात् परमात्मामा स्थिति भएको छ। जिउँदैमा यसको प्राप्तिको विधान छ, मरेपछि होइन। सन्त कबीरले यसैलाई स्पष्ट गर्नु भयो- '**अवधू! जीवत में कर आसा।**' अनि के मरेपछि मुक्ति हुँदैन? वहाँ भन्नुहुन्छ- '**मुए मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे विश्वासा।**' यस्तै योगेश्वर श्रीकृष्णको कथन छ कि- शरीर रहँदै, मर्नुभन्दा पहिले जसले काम-क्रोधको वेगगाई समाप्त गर्नमा सक्षम भयो, त्यही पुरुष यस लोकमा योगी हो, त्यही सुखी छ। काम-क्रोध, बाहिरी स्पर्श नै शत्रु हुन्, यिनलाई तपाईं जित्नुस्। यसै पुरुषको लक्षण पुनः भन्दै हुनुहुन्छ-

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

जुन व्यक्ति अन्तरात्मामा नै सुखभएको, '**अन्तरारामः**'- अन्तरात्मामा नै आरामभएको तथा जुन अन्तरात्मामा नै प्रकाशभएको (साक्षात्कारभएको) छ, त्यही योगी '**ब्रह्मभूतः**'- ब्रह्मसंग एक भएर '**ब्रह्मनिर्वाणम्**'- वाणीबाट पर ब्रह्म, शाश्वत ब्रह्मलाई प्राप्त गर्दछ। अर्थात् पहिले विकारहरू (काम-

क्रोध) को अन्त्य, फेरि दर्शन, अनि प्रवेश। अगाडि हेरौं–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

परमात्माको साक्षात्कार गरेर जसको पाप नष्ट भइसकेको छ, जसको दुविधाहरू नष्ट भइसकेका छन्, जो सम्पूर्ण प्राणिहरूको हितमा लागेका छन् (प्राप्ति गर्नेले नै यस्तो गर्न सक्छन्। जो स्वयं खाल्टोमा परेको छ, उसले अरूलाई कसरी बाहिर निकाल्नेछ? यसैले करुणा महापुरुषको स्वभाविक गुण हुन्छ), तथा '**यतात्मानः**'– जितेन्द्रिय ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्मलाई प्राप्त हुन्छन्। तिनै महापुरुषको स्थितिमा पुनः प्रकाश पार्नुहुन्छ–

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

काम–क्रोधबाट रहित, जितेको मनभएका, परमात्माको साक्षात्कार गरेको ज्ञानी पुरुषहरूको लागि सबैतिरबाट शान्त परब्रह्म नै प्राप्त छ। पटक–पटक योगेश्वर श्रीकृष्णले त्यस पुरुषको प्रकृतिमाथि जोड (बल) दिंदैछन्, जसबाट प्रेरणा मिलोस्। प्रश्न लगभग पूर्णभयो। अब वहाँ पुन जोड (बल) दिनुहुन्छ कि यस स्थितिलाई प्राप्तगर्ने आवश्यक अङ्ग श्वास–प्रश्वासका चिन्तन हुन्। यज्ञको प्रक्रियामा प्राणको अपानमा हवन, अपानको प्राणमा हवन, प्राण–अपान दुबैको गतिनिरोध वहाँले बताउनु भएको थियो। त्यसैलाई सम्झाउनु हुन्छ–

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

अर्जुन! बाहिरका विषयहरू, दृश्यहरूलाई चिन्तन नगर्दै उनलाई त्यागेर, नेत्रहरूको दृष्टिलाई भृकुटीको बीचमा स्थित गरेर, '**भ्रुवोः अन्तरे**'– को यस्तो अर्थ होइन कि आँखाहरूको बीचमा वा परेलाहरूको बीचमा कतै हेर्ने भावनाले दृष्टि लगाओस्। भृकुटीको बीचको शुद्ध अर्थ यति मात्र हो कि

सोझो बसेमा भृकुटीको ठीक मध्यबाट सोझै अगाडि परोस्। दायाँ-बायाँ, यता-उता नहेर्नें। नाकमाथि सोझो दृष्टिराख्दै (कतै नाकलाई नै हेर्न न थालियोस) नासिका भित्र विचरण गर्ने प्राण र अपान वायुलाई सम गरेर अर्थात् दृष्टिलाई त्यहाँ राखेर ध्यानलाई श्वासमा लगाउनुस् कि कहिले श्वास भित्रगायो? कति टिक्यो? (लगभग आधा सेकेण्ड रुक्छ, प्रयास गरेर न रोकौं।) कहिले श्वास बाहिर निस्क्यो? कतिबेलासम्म बाहिर रह्यो? भन्नुको आवश्यकता छैन कि श्वासबाट निस्किने नामध्वनि सुनाई परी रहने छ। यसप्रकार श्वास-प्रश्वासमा जब ध्यान टिक्छ अनि विस्तार-विस्तारै श्वास अचल, स्थिर रुक्ने छ, सम हुनेछ। न भित्रबाट संकल्प उठ्नेछ र न बाहिरी संकल्प भित्र ठक्कर खान पाउने छन्। बाहिरको भोगहरूको चिन्तन त बाहिर नै त्यागिएको थियो, भित्र पनि संकल्प जाग्रत हुने छैन। ध्यान एकदम उभिन्छ, तैल धारावत्। तेलको धारा पानीजस्तो थोपा-थोपा गरी झर्दैन, जबसम्म झर्छ धारा नै झर्छ। यसैप्रकार प्राण र अपानको गति सम, स्थिर गरेर इन्द्रिय, मन र बुद्धिलाई जसले जित्यो, इच्छा, भय र क्रोधरहित मननशीलताको चरम सीमामा पुगेको मोक्षपरायण मुनि सधैं 'मुक्ति' नै छ। मुक्त भएर त्यो कहाँ जान्छ, के पाउँछ? यसमा भन्नुहुन्छ-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

त्यो मुक्त पुरुष मलाई यज्ञ र तपलाई भोग्ने सम्पूर्ण लोकको ईश्वरहरूको पनि ईश्वर, सम्पूर्ण प्राणिहरूको स्वार्थरहित हितैषी- यस्तो साक्षत् जानेर शान्तिलाई प्राप्त हुन्छ। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि त्यस पुरुषको श्वास-प्रश्वासको, यज्ञ र तपको भोक्ता म हुँ। यज्ञ र तप अन्त्यमा जसमा विलय हुन्छ, त्यो म हुँ। त्यो मलाई प्राप्त हुन्छ। यज्ञको अन्त्यमा जसको नाम शान्ति हो, त्यो मेरो नै स्वरूप हो। त्यो पुरुष मलाई जान्दछ र जान्नासाथ मलाई प्राप्त हुन्छ। यसैको नाम शान्ति हो। जस्तै म ईश्वरहरूको पनि ईश्वर हुँ त्यस्तै त्यो पनि हो।

निष्कर्ष-

यस अध्यायको आरम्भमा अर्जुनले प्रश्न गरेका थिए कि कहिलै तपाईं निष्काम कर्मयोगको प्रशंसा गर्नुहुन्छ र कहिलै तपाईं संन्यासमार्गबाट कर्म

गर्नेको प्रशंसा गर्नुहुन्छ, अतः दुबैमा कुनै एकको, जो तपाईंद्वारा सुनिश्चित गरिएको छ, परमकल्याणकारी छ, त्यसलाई भन्नुस्। श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! परमकल्याण त दुबैमा छ। दुबैमा त्यही निर्धारित यज्ञको क्रिया गरिन्छ, तापनि निष्काम कर्मयोग विशेष हो। यसलाई नगरीकन संन्यास (शुभाशुभ कर्मको अन्त्य) हुँदैन। संन्यास मार्ग होइन, लक्ष्यको नाम हो। योगयुक्त नै संन्यासी हो। योगयुक्तको लक्षण भन्नुभयो कि त्यो नै प्रभु हो। न ऊ गर्दछ न केही गराउँछ; बरू स्वभावमा प्रकृतिको दबावको अनुरूप मानिस व्यस्त छन्। जो साक्षात् मलाई जान्दछ, त्यही ज्ञाता हो, त्यही पण्डित हो। यज्ञको परिणाममा मानिसहरू मलाई जान्दछन्। श्वास-प्रश्वासको जप र यज्ञ-तप जसमा विलय हुन्छन्, त्यो म नै हुँ। यज्ञको परिणामस्वरूप मलाई जानेर ऊ जुन शान्तिलाई प्राप्त हुन्छन् त्यो पनि म नै हुँ अर्थात् श्रीकृष्ण-जस्तै, महापुरुष-जस्तै स्वरूप त्यस प्राप्ति गर्नेलाई पाइन्छ। त्यो पनि ईश्वरहरूको ईश्वर, आत्माको पनि आत्मस्वरूपमय हुन्छ, त्यस परमात्मासँग एकीभाव पाउँछन् (एकहुनमा जति जन्मलागोस्)। यस अध्यायमा स्पष्ट गर्नुभयो कि यज्ञ-तप भोग्ने महापुरुषको पनि भित्ररहने शक्ति महेश्वर हो, अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थमहेश्वरः' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

यसप्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको सम्वादमा 'यज्ञभोक्ता महापुरुष महेश्वर' नामक पाँचौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत् परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'यज्ञभोक्तामहापुरुषस्थमहेश्वरः' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भवगद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'यज्ञभोक्ता महापुरुष महेश्वर' नामक पाँचौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

।। अथ षष्ठोऽध्यायः ।।

छैठौं अध्याय

संसारमा धर्मको नाममा रीति-रिवाज, पूजा-पद्धति, संप्रदायहरूको बाहुल्य भएमा, कुरीतिहरूको शमन गरेर एउटै ईश्वरको स्थापना एवं त्यसको प्राप्तिको प्रक्रियालाई प्रशस्त गर्नको लागि कुनै महापुरुषको आविर्भाव हुन्छ। क्रियाहरूलाई छोडेर बस्नु र ज्ञानी कहलाउने रूढिहरू कृष्णकालमा अत्यन्त व्यापक थिए। यसैले यस अध्यायको प्रारम्भमा नै योगेश्वर श्रीकृष्णले यस प्रश्नलाई चौथो पटक स्वयं उठाउनुभयो कि ज्ञानयोग तथा निष्काम कर्मयोग दुबैको अनुसार कर्म गर्नु नै पर्दछ।

अध्याय दुइमा वहाँले भन्नुभए- अर्जुन! क्षत्रियको लागि युद्धभन्दा ठूलो कल्याणकारी कुनै अर्को बाटो छैन। यस युद्धमा हारेमा पनि देवत्व छ र जितेमा पनि महामहिम स्थिति नै छ- यस्तो सम्झेर युद्ध गर। अर्जुन! यो बुद्धि तिम्रो लागि ज्ञानयोगको विषयमा भनिएको हो। कस्तो बुद्धि? यो नै कि युद्ध गर। ज्ञानयोग यस्तो होइन कि हातमा हात राखेर बसिरहौं। ज्ञानयोगमा मात्र आफ्नो लाभ-हानिको स्वयं निश्चय गरेर, आफ्नो शक्तिलाई सम्झेर कर्ममा प्रवृत्तहुनु हो, जबकि प्रेरक महापुरुष नै हुन्। ज्ञानयोगमा युद्धगर्नु अनिवार्य छ।

अध्याय तीनमा अर्जुनले प्रश्न गरे- भगवन् ! निष्काम कर्मयोगभन्दा ज्ञान तपाईलाई श्रेष्ठ मान्य छ तब मलाई घोरकर्ममा किन लगाउनु हुन्छ? अर्जुनलाई निष्काम कर्मयोग कठिन प्रतीत भयो। यसमाथि योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि दुबै निष्ठाहरू मबाट नै भनिएका छन्, तर कुनै पनि मार्गमा कर्मलाई छाडेर हिड्ने विधान छैन। न त यस्तो नै छ कि कर्मलाई आरम्भ नगरेर कसैले परम नैष्कर्म्यको सिद्धि पाओस्, न आरम्भ गरेको क्रियालाई त्यागेमा कसैले त्यस परमसिद्धिलाई पाउँछ। दुबै मार्गमा नियतकर्म- यज्ञको प्रक्रिया गर्नु नै पर्दछ।

अब अर्जुनले राम्ररी बुझे कि ज्ञानमार्ग राम्रो लागोस् अथवा निष्काम कर्मयोग, दुबै दृष्टिहरूमा कर्म गर्नै पर्छ; फेरि पाँचौं अध्यायमा उसले प्रश्न गरे– फलको दृष्टिमा कुन श्रेष्ठ छ? कुन सुविधाजनक छ? श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! दुबै नै परमश्रेय दिनेहरू हुन्। दुबैले एउटै स्थानमा पुऱ्याउँछ तापनि सांख्यभन्दा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ छ; तर निष्काम कर्मको आचरण नगरीकन कोही संन्यासी हुँदैन। दुबैमा एउटै कर्म छ। अतः स्पष्ट छ कि त्यो निर्धारित कर्म नगरीकन कोही संन्यासी हुँदैन र न कोही योगी नै हुन सक्छ। मात्र यसमा हिड्ने पथिकहरूका दुई दृष्टिहरू हुन्, जो पछाडि भनिएका छन्।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

श्रीकृष्ण महाराजले भन्नुभयो– अर्जुन! कर्मफलको आश्रयबाटरहित भएर अर्थात् कर्म गर्ने बेलामा कुनै प्रकारको कामना नराख्दै जो '**कार्यम् कर्म**'– गर्ने योग्य प्रक्रिया–विशेषलाई गर्दछ, त्यो नै संन्यासी हो, त्यो नै योगी हो। मात्र अग्निलाई त्याग्ने तथा मात्र क्रियालाई त्याग्ने व्यक्ति न संन्यासी हो, न योगी। क्रियाहरू धेरै छन्। तीमध्ये '**कार्यम् कर्म**'– गर्नेयोग्य क्रिया, '**नियत कर्म**'– निर्धारित गरेको कुनै क्रिया–विशेष हो। त्यो हो यज्ञको प्रक्रिया। जसको शुद्ध अर्थ हो आराधना, जो आराध्य देवमा प्रवेश दिलाउने विधि–विशेष हो, त्यसलाई कार्यरूप दिनु नै कर्म हो। जो त्यसलाई गर्दछ, त्यही संन्यासी हो, त्यही योगी हो। मात्र अग्निलाई त्याग्नेले कि 'हामी आगो छुँदैनौं' वा कर्मलाई त्याग्नेले कि 'मेरो लागि कर्म नै छैन, म त आत्मज्ञानी हुँ।'– यस्तो मात्र भनिराख्नेले कर्मलाई आरम्भ नै नगर्ने, गर्नेयोग्य क्रिया–विशेष नगर्ने त्यो न संन्यासी हो न योगी। यसमा अरू हेरौं–

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

अर्जुन! जसलाई 'संन्यास' यस्तो भनिन्छ, त्यसैलाई तिमी योग जान; किनकि संकल्पहरूको त्याग नगरीकन कुनै पनि पुरुष योगी हुँदैन अर्थात्

कामनाको त्याग दुबै मार्गीहरूको लागि आवश्यक छ। तब त सजिलो छ, भन्नुस् कि हामी संकल्प गर्दैनौं र भयौं योगी-संन्यासी। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ, यस्तो कहिल्यै पनि हुँदैन-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

योगमाथि आरूढ हुन चाहने मननशील पुरुषको लागि योगको प्राप्तिमा कर्मगर्नु नै कारण हो र योगको अनुष्ठान गर्दा-गर्दै जब त्यो परिणाम दिने अवस्थामा आउँछ, त्यस योगारूढतामा '**शमः कारणम् उच्यते**'- सम्पूर्ण संकल्पहरूको अभाव कारण हो। यसभन्दा पहिले संकल्पले पछिलाग्न छोड्दैन र-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

जुन कालमा पुरुष न त इन्द्रियहरूको भोगमा आसक्त हुन्छ र न कर्महरूमा नै आसक्त छ (योगको परिपक्वावस्थामा पुगेपछि अरू कर्म गरेर खोज्ने कसलाई? अतः नियत कर्म आराधनाको आवश्यकता रहदैन, यसैले ऊ कर्ममा पनि आसक्त हुँदैन), त्यस कालमा '**सर्वसंकल्प संन्यासी**'- सबै संकल्पहरूको अभाव छ। त्यही संन्यासी हो, त्यहीं योगारूढता हो। बाटोमा संन्यास नामको कुनै वस्तु छैन। यस योगारूढताबाट के लाभ?

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

अर्जुन! मानिसले आफूद्वारा आफ्नो उद्धार गर्नुपर्दछ। आफ्नो आत्मालाई अधोगतिमा नपुऱ्याओस् किनकि यो जीवात्मा स्वयं नै आफ्नो मित्र हो र यो नै आफ्नो शत्रु पनि हो। कहिले शत्रु हुन्छ र कहिले मित्र? यसमा भन्नुहुन्छ-

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

अर्जुन! जीवात्माद्वारा मन र इन्द्रियहरूसहित शरीर जितिएको छ, उसको

लागि उसैको जीवात्मा मित्र हो र जसबाट मन र इन्द्रियहरूसहित शरीरलाई जित्न सकिएको छैन, उसको लागि ऊ स्वयं शत्रुताको व्यवहार गर्दछ।

यी दुबै श्लोकहरूमा श्रीकृष्ण एउटै कुरा भन्नुहुन्छ कि आफूले आफ्नो आत्मालाई उद्धार गरौं, त्यसलाई अधोगतिमा नपुऱ्याऔं; किनकि यो आत्मा नै मित्र हो। सृष्टिमा न अर्को कुनै शत्रु छ न मित्र। कसरी? जसले मनसहित इन्द्रियहरू जितेको हुन्छ, उसको लागि उसैको आत्मा मित्रबनेर मित्रताको व्यवहार गर्दछ, परमकल्याण गर्ने हुन्छ र जसले मनसहित इन्द्रियहरू जितेको हुँदैन, उसको लागि उसैको आत्मा शत्रुबनेर शत्रुताको व्यवहार गर्दछ, अनन्त योनिहरू र यातनाहरूतिर लिएरजान्छ। प्राय: मानिसहरू भन्दछन्- 'म त आत्मा हुँ'। गीतामा लेखिएको छ, "न त यसलाई शस्त्रले काट्न सक्छ, न अग्निले जलाउन सक्छ, न वायुले सुकाउन सक्छ। यो नित्य हो, अमृतस्वरूप हो, अपरिवर्तनशील छ, शाश्वत छ र त्यो आत्मा ममा नै छ।" उनीहरूले गीताका यी पंक्तिहरूमा ध्यान दिंदैनन् कि आत्मा अधोगतिमा पनि जान्छ। आत्माको उद्धार पनि हुन्छ, जसको लागि 'कार्यम् कर्म'- गर्नेयोग्य प्रक्रिया-विशेष गरेर नै उपलब्धि बताइएको छ। अब अनुकूल आत्माको लक्षण हेरौं-

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

जाड़ो-गर्मी, सुख-दु:ख र मान-अपमानमा जसको अन्त:करणका वृत्तिहरू राम्ररी शान्त छन्, यस्तो स्वाधीन आत्माभएको पुरुषमा परमात्मा सदैव स्थित छ, कहिलै पनि अलग हुँदैन। 'जितात्मा' अर्थात् जसले मनसहित इन्द्रियहरूलाई जिति सकेको छ, वृत्ति परमशान्तिमा प्रवाहित भइसकेको छ (यो नै आत्माको उद्धारको अवस्था हो)। अगाडि भन्नुहुन्छ-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

जसको अन्त:करण ज्ञान-विज्ञानबाट तृप्त छ, जसको स्थिति अचल, स्थिर र विकाररहित छ, जसले इन्द्रियहरूलाई विशेषरूपबाट जितिसकेको छ, जसको दृष्टिमा माटो, ढुङ्गा र सुवर्ण एकसमान छ- यस्तो योगी 'युक्त' कहलाउँछ।

'युक्त'को अर्थ हो– योगबाट संयुक्त। यो योगको पराकाष्ठा हो, जसलाई योगेश्वरले पाँचौं अध्यायमा श्लोक सातदेखि बाह्रौंसम्म चित्रित गर्नु भएको छ। परमतत्व परमात्माको साक्षात्कार र त्यसको प्राप्तहुने जानकारी ज्ञान हो। एक इञ्च पनि इष्टदेखि अलग छ, जान्नेइच्छा जागृत छ, तबसम्म त्यो अज्ञानी हो। त्यो प्रेरक कसरी सर्वव्याप्त छ? कसरी प्रेरणा दिन्छ? कसरी अनेकौं आत्माहरूलाई एकैसाथ पथ–प्रदर्शन गर्दछ? कसरी त्यो भूत, भविष्य र वर्तमानको ज्ञाता छ? त्यो प्रेरक इष्टको यस कार्य–प्रणालीको ज्ञान नै 'विज्ञान' हो। जुन दिनदेखि हृदयमा इष्टको आविर्भाव हुन्छ, त्यही दिनदेखि त्यो निर्देश दिनलाग्छ, तर प्रारम्भमा साधकले बुझ्न सक्दैन। पराकाष्ठाकालमा नै योगी उनको आन्तरिक कार्य–प्रणालीलाई पूर्णतः बुझ्न सक्तछ। यो समझ नै विज्ञान हो। योगारूढ अथवा युक्तपुरुषको अन्तःकरण ज्ञान–विज्ञानबाट तृप्त रहन्छ। यसैप्रकार योगयुक्त पुरुषको स्थितिको निरूपण गर्दै योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः भन्नुहुन्छ–

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

प्राप्तिको पश्चात् महापुरुष समदर्शी र समवर्ती हुन्छ। जस्तो कि पछिल्लो श्लोकमा वहाँले भन्नुभयो कि जो पूर्णज्ञाता वा पण्डित छ, त्यो विद्या–विनयसम्पन्न ब्राह्मणमा, चाण्डालमा, गाई–कुकुर र हात्तीमा समान दृष्टिभएको हुन्छ, त्यसैको पूरक यो श्लोक हो। त्यो हृदयबाट सहायतागर्ने सहृदय, मित्र, उदासीन, द्वेषी, बन्धुगणहरू, धर्मात्मा तथा पापीहरूमा पनि समान दृष्टिभएको योगयुक्त पुरुष अतिश्रेष्ठ हो। त्यो उनको कार्यहरूमा दृष्टि राख्दैन, बरू त्यसभित्र आत्माको संचारमा उसको दृष्टि पर्छ। यी सबैमा त्यसले मात्र यति फरक देख्छ कि कोही तलको भरयाङमा उभेको छ भने कोही निर्मलताको नजिक, तर त्यो क्षमता सबैमा छ। यहाँ योगयुक्तको लक्षण पुनः दोहोऱ्याउनु भयो।

कोही योगी कसरी बन्दछ? ऊ कसरी यज्ञ गर्दछ, यज्ञस्थली कस्तो हुनुपर्दछ? आसन कस्तो हुनुपर्ने? त्यस समय कसरी बसियोस्? कर्त्ताले पालनगर्ने नियम, आहार–विहार, सुत्नु–जाग्नुको सँयम तथा कर्ममा कस्तो चेष्टा हुनुपर्दछ? इत्यादि बुन्दाहरूमा योगेश्वर श्रीकृष्णले अघिल्लो पाँचैं श्लोकमा प्रकाश पार्नुभयो, जसबाट तपाई पनि त्यस यज्ञलाई सम्पन्न गर्न सक्नु होस।

अध्याय तीनमा वहाँले यज्ञको नाम लिनुभयो र भन्नुभयो कि यज्ञको प्रक्रिया नै त्यो नियतकर्म हो। अध्याय चारमा वहाँले यज्ञको स्वरूप विस्तारले वर्णन गर्नुभयो, जसमा प्राणको अपानमा हवन, अपानको प्राणमा हवन, प्राण-अपानको गति रोकेर मनको निरोध इत्यादि गरिन्छ। सबै मिलाएर यज्ञको शुद्ध अर्थ हो आराधना तथा त्यस आराध्यदेवसम्मको दूरी पार गराउने प्रक्रिया, जसमा पाँचौं अध्यायमा पनि भनियो। तर उसको लागि आसन, भूमि, गर्नेविधि इत्यादिको चित्रण बाँकी थियो। यसैमा योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रकाश पार्नुहुन्छ-

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

चित्तलाई जित्नमा लागेको योगी मन, इन्द्रियहरू र शरीरलाई वशमा राखेर, वासना र संग्रहरहित भएर, एकान्त स्थानमा, एकलै नै चित्तलाई (आत्मोपलब्धि गराउने) योग-क्रियामा लगाउनु। उसको लागि स्थान कस्तो हुनुपर्दछ, आसन कस्तो हुनुपर्छ?-

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

शुद्धभूमिमा कुश, मृगछाला, वस्त्र अथवा त्यसबाट उत्तरोत्तर (रेशमी, ऊनी, फलेक इत्यादि) बिछाएर आफ्नो आसनलाई न धेरै अग्लो, न धेरै होचो स्थिर स्थापित गर्नुस्। शुद्धभूमिको तात्पर्य उसलाई झाड्ने, बढारने सफा-सुग्घर गर्नु हो। भूइँमा कुनै वस्तु बिछाउनु पर्छ- चाहे मृगछाला होस् वा सुकुल अथवा कुनै पनि वस्त्र, फलेक कुनै पनि एउटा वस्तु उपलब्ध भएमा बिछाउनु पर्दछ। आसन स्थिर हुनुपर्दछ। न जमिन भन्दा धेरै अग्लो न एकदम होचो। 'पूज्य महाराजज्यू' लगभग पाँच इञ्च अग्लो आसनमा बस्नुहुन्थ्यो। एकपटक भाविकहरूले लगभग एक फीट उँचाई भएको संगमरमरको तख्ता ल्याई दिए। महाराजज्यू एकदिन त्यसमा बस्नु भयो अनि भन्नुभयो-होइन! धेरै अग्लो भयो। अग्लोस्थानमा बस्नु हुँदैन, साधुलाई अभिमान हुन्छ। तल पनि बस्नु हुँदैन, त्यसबाट हीनता बोध हुन्छ, आफूबाट घृणा हुन्छ। पछि त्यसलाई उठाएर जंगलको एउटा बगैचामा राख्न लगाउनुभयो। त्यहाँ न महाराज जानुहुन्थ्यो र

न अहिले कोही त्यहाँ जान्छ। यो थियो त्यो महापुरुषको क्रियात्मक शिक्षण। यसैप्रकार साधकको लागि पनि धेरै अग्लोस्थान हुनुहुँदैन। भजनपूर्ति पछिहुनेछ, अहंकार पहिले नै आएर चढ्ने छ। यसपछि-

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

त्यस आसनमा बसेर (बसेर नै ध्यानगर्ने विधान छ) मनलाई एकाग्र गरेर, चित्त र इन्द्रियहरूका क्रियाहरूलाई वशमा राख्दै अन्तःकरणको शुद्धिको लागि योगाभ्यास गर्नुस। अब बस्ने तरीका बताउनुहुन्छ-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

शरीर, गर्दन र टाउकोलाई सीधा, अचल, स्थिर गरेर (जस्तो कि कुनै तखता उभ्याएको हुन्छ, यसप्रकार सोझो) दृढ भएर बस्नुस् र आफ्नो नासिकाको अग्रभागलाई हेरेर (नासिकाको टुप्पा हेर्ने निर्देश छैन बरू सोझो बसेमा नाकको सामुन्ने जहाँ दृष्टि पर्दछ, त्यहाँ दृष्टि होस्, दायाँ-बायाँ हेर्ने चंचलता नहोस्) अरु दिशाहरूलाई नहेर्दै स्थिर भएर बस्नु र-

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

ब्रह्मचर्य व्रतमा स्थित भएर (प्रायः मानिसहरू भन्दछन् कि जननेन्द्रियको संयम ब्रह्मचर्य हो; तर महापुरुषहरूको अनुभूति छ कि मनद्वारा विषयहरूको स्मरण गरेर, आँखाहरूबाट त्यस्तै दृश्य देखेर, त्वचाद्वारा स्पर्श गरेर, कानबाट विषयोत्तेजक शब्द सुनेर जननेन्द्रिय संयम संभव छैन। ब्रह्मचारीको वास्तविक अर्थ हो, '**ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी**'। ब्रह्मको आचरण हो नियत कर्म, यज्ञको प्रक्रिया, जसलाई गर्नेहरू '**यान्ति ब्रह्म सनातनम्**'- सनातन ब्रह्ममा प्रवेश पाउँछन्। यसलाई गर्नेबेला '**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्**'- बाहिरको स्पर्श, मन र सबै इन्द्रियहरूको स्पर्श बाहिर नै त्यागेर चित्तलाई ब्रह्म-चिन्तनमा, श्वास-प्रश्वासमा, ध्यानमा लगाउनुछ। मन ब्रह्ममा लागेको छ भने बाहिरी स्मरण कसले गर्ने? यदि बाहिरी स्मरण हुन्छ भने अहिले मनलाग्यो कहाँ?

विकार शरीरमा होइन, मनको तरंगमा हुन्छ। मन ब्रह्मचरणमा लागेको छ भने जननेन्द्रिय संयम मात्र होइन, सकलेन्द्रिय संयमसम्म स्वाभाविक हुन्छ। अतः ब्रह्मको आचरणमा स्थिर भएर भयरहित र राम्रो ढंगले शान्त अन्तःकरणवाला, मनलाई संयत राख्दै, मसँग लागेको चित्तले युक्त मेरो परायण भएर स्थित होउ। यसो गर्नुको परिणाम के हुनेछ?–

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

यसप्रकार आफूलाई निरन्तर त्यसै चिन्तनमा लगाउँदै, संयत मनभएको योगी मभित्र स्थितिरूपी पराकाष्ठाभएको शान्तिलाई प्राप्त हुन्छ। यसैले आफूलाई निरन्तर कर्ममा लगाउनुस्। यहाँ यो प्रश्न पूर्णप्राय छ। अगाडि दुई श्लोकहरूमा भन्नुहुन्छ कि परमानन्दभएको शान्तिको लागि शारीरिक संयम, युक्ताहार, विहार पनि आवश्यक छ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

अर्जुन! यो योग न त धेरै खानेलाई सिद्धहुन्छ र न बिल्कुल नखानेलाई सिद्धहुन्छ, न धेरै सुत्नेलाई र न धेरै जागनेलाई नै सिद्धहुन्छ। तब कसलाई सिद्धहुन्छ?–

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

दुःखलाई नष्ट गर्ने यो योग उचित आहार–विहार, कर्ममा उपयुक्त चेष्टा र संतुलित शयन–जागरण गर्नेलाई नै पूर्ण हुन्छ। बढी भोजन गरेपछि आलस्य, निद्रा र प्रमादले घेर्ने छन्, तब साधना हुने छैन। भोजन छोडेमा इन्द्रियहरू क्षीण हुन्छन्, अचल, स्थिर बस्ने क्षमता रहने छैन। 'पूज्य महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो कि खुराकभन्दा एक–दुई रोटी कम खानुपर्दछ। विहार अर्थात् साधनको अनुकूल विचरण, केही परिश्रम पनि गर्दै रहनुपर्दछ, कुनै कार्य खोज्नु पर्छ, होइन भने रक्त–संचार शिथिल हुनेछ, रोगबाट ग्रसित हुनेछौं। आयु सुत्नु र जाग्नु, आहार र अभ्यासबाट घट्छ–बढ्दछ। 'महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो कि– "योगीले चार

घण्टा सुत्नु पर्दछ र अनवरत चिंतनमा लाग्नुपर्दछ। हठ गरेर न सुत्ने शीघ्र पागल हुन्छ।" कर्ममा उपयुक्त चेष्टा पनि होस् अर्थात् नियत कर्म आराधनाको अनुरूप निरन्तर प्रयत्नशील हुनुहोस्। बाहिरी विषयहरूको स्मरण नगरेर सधैं त्यसैमा लागि रहने नै योग सिद्धहुन्छ; साथै–

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

यसप्रकार योगको अभ्यासबाट विशेषरूपले वशमा गरिएको चित्त जुन कालमा परमात्मामा राम्रो ढंगले स्थिर हुनजान्छ, विलीन जस्तो हुन्छ, त्यस कालमा सम्पूर्ण कामनाहरूबाट रहित पुरुषलाई योगयुक्त भनिन्छ। अब विशेषरूपले जितिएको चित्तको लक्षण के हुन्?–

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

जुनप्रकार वायुरहित ठाउँमा राखिएको टुकी चलायमान हुँदैन, ज्वाला सोझै माथिजान्छ, त्यसमा कम्पन्न हुँदैन, यही उपमा परमात्माको ध्यानमा लागेका योगीको जितिएको चित्तको दिइएको छ। टुकी त उदाहरणमात्र हो। आजभोली दीपकको प्रचलन घट्दै गइरहेको छ, अगरबत्ती जलाएमा पनि त्यसको धुवाँ सोझै माथि जान्छ, यदि वायुमा वेग छैन भने। यो योगीको जितिएको चित्तको एउटा उदाहरणमात्र हो। अहिले चित्तमात्र जितिएको छ, निरोध भएको छ; तर अहिले चित्त छ। जब चित्तको पनि विलय हुन्छ तब कुन विभूति मिल्दछ? हेरौं–

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

जुन अवस्थामा योगको अभ्यासबाट निरुद्ध भएको चित्त पनि उपराम हुन्छ, विलय हुन्छ, समाप्त हुन्छ, त्यस अवस्थामा 'आत्मना'– आफ्नो आत्माद्वारा 'आत्मानम् '– परमात्मालाई हेर्दै, 'आत्मनि एव'– आफ्नो आत्मामा नै सन्तुष्ट हुन्छ। परमात्मालाई हेर्छ, तर सन्तुष्ट आफ्नो आत्माद्वारा हुन्छ; किनकि प्राप्तिकालमा परमात्माको साक्षात्कार हुन्छ, तर अर्को क्षण त्यसले आफ्नै

आत्मालाई ती शाश्वत ईश्वरीय विभूतिहरूबाट ओत-प्रोत पाउँछ। ब्रह्म, अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त र अमृतस्वरूप हो भने यता आत्मा पनि अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त र मृतस्वरूप हो। हुनत हो, तर अचिन्त्य पनि हो। जबसम्म चित्त र चित्तको लहर छ, तबसम्म त्यो तपाईको उपभोगको लागि छैन। चित्तको निरोध र निरुद्ध चित्तको विलयकालमा परमात्माको साक्षात्कार हुन्छ र दर्शनको ठीक अर्को छण त्यही ईश्वरीय गुणधर्महरूबाट युक्त आफ्नै आत्मालाई पाउँछ, त्यसैले त्यो आफ्नै आत्मामा सन्तुष्ट हुन्छ। यही उसको स्वरूप हो, यही पराकष्ठा हो। यसैको पूरकलाई अगाडिको श्लोक हेरौं-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

तथा इन्द्रियहरूबाट अतीत, मात्र शुद्धभएको सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण गर्ने योग्य जो अनन्त आनन्द हो, त्यसलाई जुन अवस्थामा अनुभव गर्दछ र जुन अवस्थामा स्थितभएको योगी भगवत्स्वरूपलाई तत्वबाट जानेर चलायमान हुँदैन, सधैं त्यसैमा प्रतिष्ठित रहन्छ, तथा-

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

परमेश्वरको प्राप्तिरूपी जुन लाभलाई, पराकाष्ठाको शान्तिलाई प्राप्त गरेर त्यसभन्दा बढी अर्को कुनै पनि लाभ मान्दैन र भगवत्प्राप्तिरूपी जुन अवस्थामा स्थितभएको योगी भयंकर दुःखबाट पनि चलायमान हुँदैन, दुःखको उसलाई भान पनि हुँदैन; किनकि भानगर्ने चित्त त समाप्तभयो, यसप्रकार-

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

जो संसारको संयोग र वियोगबाट रहित छ, त्यसैको नाम योग हो। जुन आत्यन्तिक सुख छ, त्यसको मिलनको नाम योग हो। जसलाई परमतत्व परमात्मा भनिन्छ, त्यसको मिलनको नाम योग हो। त्यो योग झ्याउ नलाग्ने चित्तले निश्चयपूर्वक गर्नु कर्त्तव्य हो। धैर्यपूर्वक लाग्ने पुरुष नै योगमा सफल हुन्छ।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

यसकारण मानिसले यो गर्नु पर्दछ कि संकल्पबाट उत्पन्नहुने सम्पूर्ण कामनाहरूलाई वासना र आसक्तिसहित सर्वथा त्यागेर, मनद्वारा इन्द्रियहरूको समुदायलाई सबैतिरबाट राम्रो ढंगले वशमा गरेर–

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

क्रम–क्रमले अभ्यास गर्दै उपरामतालाई प्राप्तहोस्। चित्तको निरोध र क्रमशः विलय होस्। त्यसपछि त्यो धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनलाई परमात्मामा स्थित गरेर अरू केहि पनि चिन्तन नगरोस्। निरन्तर लागेर पाउने विधान हो; तर आरम्भमा मन लाग्दैन, यसैमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

यो स्थिर नरहने चंचल मन जुन–जुन कारणले सांसारिक पदार्थहरूमा विचरण गर्दछ, त्यस–त्यसबाट रोकेर बारम्बार अन्तरात्मामा नै निरोध गर। प्रायः मानिसहरू भन्दछन् कि मन जहाँ जान्छ जानदिनु, प्रकृतिमा नै जान्छ र प्रकृति पनि त्यही ब्रह्मको अन्तर्गत छ, प्रकृतिमा विचरणगर्नु ब्रह्मको बाहिर छैन; तर श्रीकृष्णको अनुसार यो गलत छ। गीतामा यी मान्यताहरूलाई अलिकति पनि स्थान छैन। श्रीकृष्णको भनाई छ कि मन जहाँ–जहाँ जान्छ, जुन माध्यममा जान्छ, ती माध्यमहरूबाट रोकेर परमात्मामा नै लगाउनुस्। मनको निरोध सम्भव छ। यस निरोधको परिणाम के हुनेछ?–

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

जसको मन पूर्णरूपेण शान्त छ, जो पापबाटरहित छ, जसको रजोगुण शान्त भएको छ, यस्तो ब्रह्मसँग एकीभूत योगीलाई सर्वोत्तम आनन्द प्राप्तहुन्छ, जुनभन्दा उत्तम केही पनि छैन। यसैमा पुनः बल दिनुहुन्छ–

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

पापरहित योगी यसप्रकार आत्मालाई निरन्तर त्यस परमात्मामा लगाउँदै सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माको प्राप्तिको अनन्त आनन्दको अनुभूति गर्दछ। उसले 'ब्रह्म संस्पर्श'- अर्थात् ब्रह्मको स्पर्श र प्रवेशको साथ अनन्त आनन्दको अनुभव गर्दछ। अतः भजन अनिवार्य छ। यसैमा वहाँ अगाडि भन्नुहुन्छ-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

योगको परिणामले युक्त आत्माभएको, सबैमा समभावले देख्नेयोगीले आत्मालाई सम्पूर्ण प्राणिहरूमा व्याप्त देख्छन् र सम्पूर्ण भूतहरूलाई आत्मामा नै प्रवाहित देख्छन्। यसप्रकार देख्नाले के लाभ छ?-

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतहरूमा म परमात्मालाई देख्छ, व्याप्त देख्छ र सम्पूर्ण भूतहरूलाई म परमात्माको अन्तर्गत नै देख्छ, त्यसको लागि म अदृश्य छैन र त्यो मेरो लागि अदृश्य हुँदैन। यो प्रेरकको आमुने-सामुनेको मिलन हो, सख्यभाव हो, सामीप्य मुक्ति हो।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

जो पुरुष अनेकताबाट पर उपर्युक्त एकत्वभावले म परमात्मालाई भज्दछ, त्यो योगी सबै प्रकारको कार्यहरूमा कार्यरत हुँदै मेरोमा नै कार्यरत रहन्छ; किनकि मलाई छोडेर त्यसको लागि कोही बचेको पनि छैन। त्यसको त सबै समाप्तभयो, यसैले त्यो अब उठ्छ-बस्छ जे जति पनि गर्दछ, मेरो संकल्पबाट गर्दछ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

हे अर्जुन! जो योगी आफ्नै समान सम्पूर्ण भूतहरूमा समदेख्दछ, आफूजस्तो देख्छ, सुख र दुःखमा पनि सबैमा समान देख्दछ, त्यो योगी (जसको भेद-भाव समाप्त भइसकेको छ) परमश्रेष्ठ मानिएको छ। प्रश्न पूरा भयो। यसमा अर्जुनले प्रश्न गरे-

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

हे मधुसूदन! यो योग जसलाई तपाईले पहिले भनिसक्नुभएको छ, जसबाट समत्वभावदृष्टि मिल्छ, मन चञ्चल हुनाले धेरै समयसम्म यसमा टिक्ने स्थितिमा म आफूलाई देख्दिन।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

हे कृष्ण! यो मन बडो चञ्चल छ, प्रमथन स्वभाववाला छ (प्रमथन अर्थात् अर्कालाई मथिदिने), हठी तथा बलवान् छ, यसैले यसलाई वशमा गर्नु म वायुको समान अतिदुष्कर मान्दछु। आँधीको हावा र यसलाई रोक्नु बराबर हो। यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

महान् कार्य गर्नको लागि प्रयत्शील महाबाहु अर्जुन! निःसन्देह मन चञ्चल छ, बडो कठिनताले वशमा हुनेवाला छ; तर कौन्तेय! यो अभ्यास र वैराग्यद्वारा वशमा हुन्छ। जहाँ चित्तलाई लगाउनु छ, त्यहाँ स्थिर गर्नको लागि पटक-पटक प्रयत्नको नाम अभ्यास हो तथा देखेको-सुनेको वस्तुहरूमा (संसार वा स्वर्गादि भोगहरूमा) राग अर्थात् लगावको त्याग वैराग्य हो। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- मन वशमा गर्नु कठिन छ; तर अभ्यास र वैराग्यद्वारा यो वशमा हुन्छ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

अर्जुन! मनलाई वशमा नगर्ने पुरुषको लागि योग प्राप्तहुन कठिन छ; तर आफ्नोवश मन भएको प्रयत्नशील पुरुषको लागि योग सहज छ– यस्तो मेरो आफ्नो मत हो। जति कठिन तिमीले मानेका छौं, त्यति कठिन छैन। अतः यसलाई कठिन मानेर न छोड, प्रयत्नपूर्वक लागेर योगलाई प्राप्त गर; किनकि मन वशमा गरेपछि मात्र योग सम्भव छ। यसमा अर्जुनले प्रश्न गरे–

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

योग गर्दा–गर्दै यदि कसैको मन चलायमान हुन्छ, यद्यपि अहिले योगमा त्यसको श्रद्धा छँदैछ, तब यस्तो पुरुष भगवत्सिद्धिलाई प्राप्त नगरेर कुन गतिलाई पाउँछ?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

महाबाहु श्रीकृष्ण! भगवत्प्राप्तिको मार्गबाट विचलित भएको त्यो मोहित पुरुष छिन्न–भिन्न बादलजस्तै दुबैतिरबाट नष्ट–भ्रष्ट त हुँदैन? सानो बदल आकाशमा छाएको छ भने त्यो न बर्षन सक्छन् न त फर्केर मेघमा नै मिल्न सक्छिन्, बरू हावाको झोंकाहरूबाट हेर्दा–हेर्दै नष्टप्राय हुन्छ– तसैप्रकार शिथिल प्रयत्नभएका, केही समयसम्म साधना गरेर स्थगित गर्नेहरू नष्ट त हुदैनन्? त्यो न तपाईमा प्रवेश गर्नसक्यो, न भोग नै भोग्न पायो। त्यसको कस्तो गति हुन्छ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

हे श्रीकृष्ण! मेरो यस संशयलाई सम्पूर्णताले समाप्त गर्नको लागि तपाई नै सक्षम हुनुहुन्छ तपाई बाहेक अरू कोही पनि यस संशयलाई समाप्त गर्नेवाला भेट्न सम्भव छैन। यसमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो–

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

पार्थिव शरीरलाई नै रथ बनाएर लक्ष्यतिर अग्रसर अर्जुन! त्यस पुरुषको न त यस लोकमा र न परलोकमा नै नाश हुन्छ; किनकि हे तात! त्यस परमकल्याणकारी नियतकर्मलाई गर्नेहरू दुर्गतिलाई प्राप्त हुँदैन। त्यसलाई के हुन्छ?–

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

मन चलायमान भएर योगभ्रष्ट भएको त्यो पुरुष पुण्यवान्हरूको लोकमा वासनाहरूलाई भोगेर (जुन वासनालाई लिएर त्यो योगभ्रष्ट भएको थियो, भगवान् थोरैमा त्यसलाई सबैथोक देखाउनु, सुनाउनु हुन्छ, त्यसलाई भोगेर) त्यो **'शुचीनां श्रीमताम्'**– शुद्ध आचरणभएका श्रीमान् पुरुषहरूको घरमा जन्मलिन्छ। (जो शुद्ध आचरणभएका छन् उनीहरू नै श्रीमान् हुन्।)

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अथवा त्यहाँ जन्म लिन नपाए पनि स्थिरबुद्धि योगीहरूको कुलमा उसले प्रवेश पाउँछ। श्रीमान्हरूको घरमा पवित्र संस्कार बाल्यकाल देखि नै मिल्न थाल्छ तर त्यहाँ जन्म नभएमा त्यो योगीहरूको कुलमा (घरमा होइन) शिष्य–परम्परामा प्रवेश पाउँछ। कबीर, तुलसी, रैदास, वाल्मीकि इत्यादिलाई शुद्ध आचरण र श्रीमान्को घर होइन, योगीहरूको कुलमा प्रवेश मिल्यो। सद्गुरुको कुलमा संस्कारको परिवर्तन पनि एउटा जन्म हो र यस्तो जन्म संसारमा निःसन्देह अतिदुर्लभ छ। योगीहरूको कुलमा जन्मको अर्थ उनको शरीरबाट पुत्ररूपमा उत्पन्न हुनु होइन। गृहत्यागभन्दा पूर्व उत्पन्न हुने बालक मोहवश यद्यपि महापुरुषलाई पनि पिता मानी रहन्छ तर महापुरुषको लागि घरवालाको नाममा कोही पनि हुँदैन। जो शिष्य उनको मर्यादाहरूको अनुष्ठान

गर्दछन्, त्यसको महत्व छोराहरूभन्दा कैयौं गुना बढी मान्दछन्। त्यही उनको वास्तविक पुत्र हो।

जो योगको संस्कारबाट युक्त छैन, त्यसलाई महापुरुषले अपनाउँदैनन्। 'पूज्य महाराजज्यू' यदि साधु बनाउन चाहनु हुन्थ्ये भने हजारौं विरक्त उनको शिष्य हुन्थे; तर उनले कसैलाई किराया-भाडा दिएर, कसैको घर सूचना दिएर, पत्र पठाएर, सम्झाएर-बुझाएर सबैलाई उनीहरूको घर फर्काईदिए। केही मानिस हठ गर्न लाग्दथे, तब वहाँलाई अपशकुन हुन्थ्यो। भित्रबाट मनाही हुन्थ्यो कि यसमा साधु बन्ने लक्षण एउटा पनि छैन। यसलाई राख्नमा कल्याण छैन, यो पार हुन सक्दैन। निराश भएर एक-दुई जनाले पहाडबाट हामफालेर आफ्नो ज्यान समेत गुमाए, तर महाराजज्यूले उनीहरूलाई आफू नजिक राखेनन्। पछि थाहा भएपछि भन्नुभयो- "जानत रहेउँ कि बड़ा विकल है लेकिन ई सोचते कि सचहूँ के मरि जाई तो रखी लेते। एक ठो पतितै रहत, अउर का होत।"

ममत्व वहाँमा पनि विकट थियो तापनि राखेनन्। छः-सात जनालाई, जसको लागि आदेश भएको थियो कि, "आज एउटा योगभ्रष्ट आइरहेको छ, जन्म-जन्मबाट भौंतारिएर आइरहेको छ, यस नाम र रूपको कोही आउनेवाला छ, त्यसलाई राख, ब्रह्मविद्याको उपदेश गर, त्यसलाई अगाडी बढाऊ।" मात्र उनीहरूलाई नै राखे।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

त्यहाँ त्यो पुरुष पहिलेका शरीरहरूमा साधन गरेको बुद्धिको संयोगलाई अर्थात् पूर्वजन्मको साधन-संस्कारहरूलाई अनायास नै प्राप्त हुन्छ र हे कुरुनन्दन! त्यसको प्रभावले ऊ फेरि 'संसिद्धौ'- भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धिको निमित्त प्रयत्न गर्न लाग्दछ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

श्रीमान्‌हरूको घरमा विषयहरूको वशमा रहेर पनि त्यो पूर्वजन्मको अभ्यासबाट भगवत्पथतिर आकर्षित हुनजान्छ र योगमा शिथिल प्रयत्नीवाला त्यो जिज्ञासु पनि वाणीको विषयलाई पार गरेर निर्वाणपद पाउँछ। त्यसको प्राप्तिको यही तरीका हो। कोही एकजन्ममा पाउन पनि पाउँदैन।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

अनेक जन्मबाट प्रयत्न गर्ने योगी परमसिद्धिलाई प्राप्त हुन्छ। प्रयत्नपूर्वक अभ्यास गर्ने योगी सबैपापहरूबाट राम्रो ढंगले शुद्ध भएर परमगतिलाई प्राप्त हुन्छ। प्राप्तिको यही क्रम हो। पहिले शिथिल प्रयत्नले त्यो योग आरम्भ गर्दछ, मन चलायमान भएमा जन्मलिन्छ, सद्‌गुरुको कुलमा प्रवेश पाउँछ र प्रत्येक जन्ममा अभ्यास गर्दै त्यहाँ पुग्छ, जसको नाम परमगति परमधाम हो। श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो कि यस योगमा बीउको नाश हुँदैन। तपाई दुई पाइला हिड्‌नुस, त्यो साधनको कहिले पनि नाश हुँदैन। प्रत्येक परिस्थितिमा रहँदै पुरुष यस्तो गर्न सक्दछ। कारण कि थोरै साधन त परिस्थितिहरूबाट घेरिएको व्यक्तिले नै गर्न पाउँछ; किनकि ऊसँग समय छैन। तपाई कालो भएपनि, गोरो भएपनि अथवा कतैको भएपनि– गीता सबैको लागि हो। तपाईको लागि पनि हो, शर्त छ कि तपाई मानिस हुनुपर्छ। उत्कट प्रयत्नवाला चाहे जे सुकैहोस्; तर शिथिल प्रयत्नवाला गृहस्थ नै हुन्छ। गीता गृहस्थ– विरक्त, शिक्षित–अशिक्षित, सर्वसाधारण मानिस मात्रको लागि हो। कुनै 'साधु' नामक विचित्र प्राणीको लागि मात्र होइन। अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्णले निर्णय दिनुहुन्छ–

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

तपस्वीहरूभन्दा योगी श्रेष्ठ हो, ज्ञानीहरूभन्दा पनि श्रेष्ठ मानिएको छ। कर्मीहरूभन्दा पनि योगी श्रेष्ठ हो। यसैले अर्जुन! तिमी योगी बन।

तपस्वी– तपस्वी मनसहित इन्द्रियहरूलाई त्यस योगमा ढाल्नको लागि तताउँछ, अहिले योग त्यसमा ढलेको छैन।

कर्मी- कर्मी यस नियतकर्मलाई जानेर त्यसमा प्रवृत्त हुन्छ। न त त्यो आफ्नो शक्ति सम्झेर नै प्रवृत्त छ र न त्यो समर्पण गरेर नै प्रवृत्त छ। मात्र गर्दछ।

ज्ञानी- ज्ञानमार्गी त्यही नियत कर्म, यज्ञको प्रक्रिया-विशेषलाई राम्रो ढंगले आफ्नो शक्तिलाई सामुन्ने राखेर त्यसमा प्रवृत्त हुन्छ। त्यसको लाभ-हानिको जिम्मेदारी त्यसैको हो। त्यसमाथि दृष्टि राखेर हिड्छन्।

योगी- निष्काम कर्मयोगी इष्टमा निर्भर भएर पूर्ण समर्पणको साथ त्यही नियत कर्म 'योग-साधनामा' प्रवृत्त हुन्छ, जसको योगक्षेमको जिम्मेवारी भगवान् तथा योवेश्वरले वहन गर्नुहुन्छ। पतनका परिस्थितिहरू भएपनि उसको लागि पतनको भय छैन; किनकि जुन परमतत्वलाई चाहन्छ, त्यसैले उसलाई सँभाल्ने उत्तरदायित्व पनि लिन्छ।

तपस्वी अहिले योगलाई ढाल्नमा प्रयत्नशील छ। कर्मी मात्र कर्म जानेर गर्दछ। यिनीहरू खस्न पनि सक्छन्, किनकि न यी दुबैमा समर्पण छ र न आफ्नो हानि-लाभ हेर्ने क्षमता; तर ज्ञानी योगको परिस्थितिहरूलाई जान्दछ, आफ्नो शक्ति बुझ्दछ, उसको जिम्मेवारी त्यसमा नै छ र निष्काम कर्मयोगी त इष्टको माथि आफूलाई फ्याँकिसकेको छ, त्यो इष्टले सँभाल्नेछ। परम-कल्याणको पथमा यी दुबै ठीक ढंगले चल्छन्; तर जसको भार त्यो इष्टले सँभाल्छ, त्यो यी सबैमा श्रेष्ठ छ, किनकि प्रभुले त्यसलाई ग्रहण गरिसक्नु भएको छ। त्यसको लाभ-हानिलाई त्यो प्रभुले हेर्नुहुन्छ। यसैले योगी श्रेष्ठ हो। यसैले अर्जुन! तिमी योगी बन। समर्पणको साथ योगको आचरण गर।

योगी श्रेष्ठ हो; तर त्यो भन्दा पनि त्यो योगी सर्वश्रेष्ठ हो, जो अन्तरात्माले लाग्दछ। यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ-

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

सम्पूर्ण निष्काम कर्मयोगीहरूमा पनि जो श्रद्धाविभोर भएर अन्तरात्माले, अन्तर्चिन्तनद्वारा मलाई निरन्तर भज्दछ, त्यो योगी मलाई परमश्रेष्ठ मान्य छ।

भजन देखाउने वा प्रदर्शनको वस्तु होइन। यसबाट समाज चाहे अनुकुल होस् तर प्रभु प्रतिकूल हुन्छ। भजन अत्यन्त गोपनीय हुन्छ र त्यो अन्त:करणबाट हुन्छ। त्यसको उतार–चढाव अन्त:करणमा निर्भर छ।

निष्कर्ष–

यस अध्यायको आरम्भमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो– फलको आश्रयरहित भएर जो 'कार्यम् कर्म' अर्थात् गर्नेयोग्य प्रक्रिया–विशेषको आचरण गर्दछ, त्यही 'संन्यासी' हो र त्यही कर्मलाई गर्नेवाला नै योगी हो। मात्र क्रियाहरू अथवा अग्निलाई त्यागनेहरू योगी अथवा संन्यासी हुँदैन– संकल्पहरूको त्याग नगरीकन कोही पुरुष संन्यासी अथवा योगी हुँदैन। हामी संकल्प गर्दैनौं– यस्तो भनेर मात्र संकल्पले पिण्ड छोड्दैन। योगमा आरूढ हुने इच्छाभएको पुरुषले 'कार्यम् कर्म' गर्नुपर्दछ। कर्म गर्दा–गर्दै योगारूढ भएमा नै संकल्पको अभाव हुन्छ, यसभन्दा पूर्व हुँदैन। संकल्पको अभाव नै संन्यास हो।

योगेश्वरले पुन: भन्नुभयो कि आत्मा अधोगतिमा जान्छ र त्यसको उद्धार पनि हुन्छ। जुन पुरुषद्वारा मनसहित इन्द्रियहरू जितिएको छ, त्यसको आत्मा उसकोलागि मित्र बनेर मित्रताको व्यवहार गर्छ तथा परमकल्याण गर्ने हुन्छ। जसद्वारा यिनीहरू जितिएका छैन, उसको लागि उसैको आत्मा शत्रु बनेर शत्रुताको व्यवहार गर्छ, यातनाको कारण बन्दछ। अत: मानिसहरूले आफ्नो आत्मालाई अधोगतिमा नपुर्‍याउनु हुँदैन, आफूद्वारा आफ्नै आत्माको उद्धार गरोस्।

वहाँले प्राप्तिवाला योगीको प्रकृतिको बारेमा भन्नुभयो। यज्ञस्थली, बस्ने आसन तथा तरीकामा वहाँले प्रकाश पार्नुभयो कि स्थान एकान्त र स्वच्छ होस्। वस्त्र, मृगचर्म अथवा कुशको सुकुल मध्ये कुनै एउटा आसन होस्। कर्मको अनुरूप चेष्टा, युक्ताहार–विहार, सुत्ने–जाग्ने संयममा जोड (बल) दनुभयो। योगीको निरुद्ध चित्तको उपमा वहाँले वायुरहित स्थानमा दीपकको अकम्पित ज्वालाद्वारा दिनुभयो र यसप्रकार त्यस निरुद्ध चित्तको पनि जब विलय हुन्छ, त्यस समय त्यो योगको पराकाष्ठा अनन्त आनन्दलाई प्राप्त हुन्छ। संसारको संयोग–वियोगबाटरहित अनन्त सुखको नाम योग हो।

योगको अर्थ हो– त्यससँग मिलन। जुन योगी यसमा प्रवेश पाउँछ, त्यो सम्पूर्ण भूतहरूमा समदृष्टिवाला हुन्छ। जस्तो आफ्नो आत्मा, त्यस्तै नै सबैको आत्मालाई देख्छ। त्यो परम पराकाष्ठाको शान्तिलाई प्राप्तहुन्छ। अतः योग आवश्यक छ। मन जहाँ–जहाँ जान्छ, त्यहाँ–त्यहाँबाट घिसारेर पटक–पटक यसको निरोध गर्नुपर्दछ। श्रीकृष्णले स्वीकार गर्नुभयो कि मन बडो कष्टले वशमा हुन्छ। शिथिल प्रयत्नी व्यक्ति पनि अनेकौं जन्मको अभ्यासबाट त्यहीं पुग्दछ, जसको नाम परमगति अथवा परमधाम हो। तपस्वीहरू, ज्ञानमार्गीहरू तथा मात्र कर्मीहरूभन्दा योगी श्रेष्ठ हो, यसैले अर्जुन! तिमी योगी बन। समर्पणको साथ अन्तर्मनबाट योगको आचरण गर। प्रस्तुत अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले प्रमुख रूपमा योगप्राप्तिको लागि अभ्यासमा जोड (बल) दिनुभयो। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

यसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवम् ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको सम्वादमा 'अभ्यास योग' नामक छैठौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः'यथार्थगीता' भाष्ये 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

यस प्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'अभ्यास योग' नामक छैठौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ सप्तमोऽध्यायः ।।

सातौं अध्याय

गत अध्यायहरूमा गीताको मुख्य–मुख्य प्रायः सबैप्रश्न पूर्ण भैसकेका छन्। निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, कर्म र यज्ञको स्वरूप र त्यसको विधि, योगको वास्तविक स्वरूप र त्यसको परिणाम तथा अवतार, वर्णसंकर, सनातन, आत्मस्थित महापुरुषको लागि पनि लोकहितार्थ कर्म गर्नमा बल, युद्ध इत्यादिमाथि विस्तारपूर्वक चर्चा गरिएको छ। अगाडिको अध्यायहरूमा योगेश्वर श्रीकृष्णले यिनैसँग सम्बन्धित अनेकौं पूरक प्रश्नहरूलाई लिनुभएको छ, जसको समाधान तथा अनुष्ठान आराधनामा सहायक सिद्धहुनेछ।

छैठौं अध्यायको अन्तिम श्लोकमा योगेश्वरले यो भनेर प्रश्नको स्वयं बीजारोपण गर्नुभयो कि जो योगी '**मद्गतेनान्तरात्मना**'– मभित्र राम्रो प्रकारले स्थित अन्तःकरण भएको छ, त्यसलाई म अतिशय श्रेष्ठ योगी मान्दछु। परमात्मामा राम्रोसँग स्थिति के हो? धेरै योगीहरू परमात्मालाई प्राप्त त हुन्छन् तापनि कतै केही कमी उनलाई खड्किन्छ। अलिकति पनि त्रुटि नरहोस्– यस्तो अवस्था कहिले आउनेछ? सम्पूर्णतासाथ परमात्माको ज्ञान कहिले आउनेछ? कहिले हुन्छ? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

पार्थ! तिमी मभित्र आसक्त भएको मनवाला, बाहिरी होइन बरू '**मदाश्रयः**'– मेरो परायण भएर, योगमा लागेको (छाडेर होइन) मलाई जुनप्रकार संशयरहित जान्नेछौ, त्यसलाई सुन। जसलाई जानेपछि अलिकति पनि संशय रहोस्। विभूतिहरूको त्यस समग्र जानकारीमा पुनः जोड (बल) दिनुहुन्छ–

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

म तिम्रोलागि यस विज्ञानसहित ज्ञानलाई सम्पूर्णताले भन्नेछु। पूर्तिकालमा यज्ञ जसको सृष्टि गर्दछ, त्यस अमृतत्वको प्राप्तिको साथ मिल्ने जानकारीको नाम ज्ञान हो। परमतत्व परमात्माको प्रत्यक्ष जानकारीको नाम ज्ञान हो। महापुरुषलाई एकैसाथ सर्वत्र कार्य गर्ने जुन क्षमता मिल्छ त्यो विज्ञान हो। कसरी त्यो प्रभु एकैसाथ सबैको हृदयमा कार्य गर्दछ? कुन प्रकार उसले उठाउँछ, बसाउँछ र प्रकृतिको द्वन्द्वबाट निकालेर स्वरूपसम्मको दूरी पार गराउँछ? उनको यस कार्य-प्रणालीको नाम विज्ञान हो। यस विज्ञानसहित ज्ञानलाई सम्पूर्णताले भन्नेछु, जसलाई जानेर (सुनेर होइन) संसारमा अरू केही पनि जान्नेयोग्य रहदैन। जान्ने मानिसहरूको संख्या धेरै कम छ-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

हजारौं मानिसहरूमध्ये कुनै मानिसले मात्र मेरो प्राप्तिको लागि यत्न गर्दछ र ती यत्नगर्ने योगीहरूमा पनि कुनै विरलै पुरुष मलाई तत्व (साक्षात्कार)को साथ जान्दछ। अब समग्र तत्व कहाँ छ? एउटा स्थानमा पिण्डरूपमा छ अथवा सर्वत्र व्याप्त छ? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अर्जुन! भूमि, जल, अग्नि, वायु र आकाश तथा मन, बुद्धि र अहंकार - यस्ता यी आठ प्रकारका भेदहरू भएको मेरो प्रकृति हो। यो अष्टधा मूल प्रकृति हो।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

'इयम्' अर्थात् यो आठ प्रकारका त मेरा अपरा प्रकृति हो अर्थात् जड प्रकृति हो। महाबाहु अर्जुन! योभन्दा अर्कोलाई जीवरूप 'परा' अर्थात् चेतन

प्रकृति जान, जसबाट सम्पूर्ण संसार धारण गरिएको छ, त्यो हो जीवात्मा। जीवात्मा पनि प्रकृतिको सम्बन्धमा रहने भएकोले त्यो पनि प्रकृति नै हो।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

अर्जुन! यस्तो सम्झनु कि सम्पूर्ण भूत '**एतद्योनीनि**'- यी महाप्रकृतिहरूबाट, परा र अपरा प्रकतिहरूबाट नै उत्पन्न भएका हुन्। यी दुबै एकमात्र योनि हुन्। म सम्पूर्ण संसारको उत्पति तथा प्रलयरूप हुँ अर्थात् मूलकारण हुँ। संसारको उत्पति मबाट छ र (प्रलय) विलय पनि मभित्र छ। जबसम्म प्रकृति विद्यमान छ, तबसम्म म नै त्यसको उत्पत्ति हुँ र जब कुनै महापुरुष प्रकृतिलाई पार पाउँछ भने तब म नै महाप्रलय पनि हुँ, जुन अनुभवमा आउँछ।

सृष्टिको उत्पत्ति र प्रलयको प्रश्नलाई मानव-समाजले कौतुहलले हेरेका छन्। विश्वका अनेकौं शास्त्रहरूमा यसलाई कुनै न कुनै रूपमा सम्झाउने प्रयास चल्दै आइरहेको छ। कोही भन्दछन्- प्रलयमा संसार डुब्दछ, त कसैको अनुसार सूर्य यति तल आउँछ कि पृथ्वी जल्छ। कोही यसैलाई (विपत्ति) कयामत भन्दछन् कि यसै दिन सबैको (निर्णय) फैसला सुनाइन्छ, त कोही नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलयको गणानामा व्यस्त छन्; तर योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार प्रकृति अनादि छ, परिवर्तन हुँदै आएकाछन्; तर यो कहिल्यै पनि नष्टभएन।

भारतीय धर्मग्रन्थको अनुसार मनुले प्रलय देखेका थिए। उसँग एघार ऋषिहरूले माछाको सींगमा डुंगा बाँधेर हिमालयको एक अग्लो शिखरको शरण लिएका थिए। लीलाकार श्रीकृष्णका उपदेशहरू एवम् जीवनसँग सम्बन्धित उनका समकालीन शास्त्र भागवतमा मृकण्डु मुनिका पुत्र मार्कण्डेयज्यूद्वारा प्रलयको प्रत्यक्ष विवरण प्रस्तुत छ। उनी हिमालयको उत्तरमा पुष्पभद्रा नदीको किनारमा बस्नुहुन्थ्यो।

भागवतको द्वादश स्कन्धको आठौं र नवौं अध्यायको अनुसार शौनकादि ऋषिहरूले सूतज्यूसँग सोधे कि मार्कण्डेयज्यूले महाप्रलयमा वट (बर)को

पातमा भगवान् बालमुकुन्दको दर्शन गर्नुभएको थियो; तर उहाँ त हाम्रै वंशको हुनुहुन्थ्यो, हामीबाट केहीसमय पूर्व मात्र भएका थिए। उहाँको जन्मपछि न कुनै प्रलय भयो र न सृष्टि नै डुब्यो। सबै कुरा यथावत् छन्, तब उहाँले कस्तो प्रलय देख्नुभयो?

सूतज्यूले भन्नुभयो कि मार्कण्डेयज्यूको प्रार्थनाबाट प्रसन्न भएर नर-नारायणले उहाँलाई दर्शन दिनुभयो। मार्कण्डेयज्यूले भन्नुभयो कि म तपाईंको त्यो माया हेर्न चाहन्छु, जसबाट प्रेरित भएर यो आत्मा अनन्त योनिहरूमा भ्रमण गर्दछ। भगवान्ले स्वीकार गर्नुभयो। एकदिन जब मुनि आफ्नो आश्रममा भगवान्को चिन्तनमा तन्मय हुनुहुन्थ्यो, तब उहाँले देख्नुभयो कि चारैतिरबाट समुद्र उमडेर उनीमाथि आइरहेको छ। त्यसमा 'मगरमच्छ' उफ्रदै थिए। हामफल्दै थिए। उनको चपेटामा ऋषि मार्कण्डेय पनि पर्दैथिए। उहाँ आफ्नो ज्यान बचाउन यता-उता भाग्दै थिए। आकाश, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, स्वर्ग, ज्योतिर्मण्डल सबै त्यस समुद्रमा डुबे। यतिकैमा मार्कण्डेयज्यूले बरको रूख र त्यसको पातमा एउटा बालकलाई देख्नुभयो। श्वाससँगै मार्कण्डेयज्यू पनि त्यस बालकको उदरमा जानुभयो र आफ्नो आश्रम, सूर्यमण्डलसहित सृष्टिलाई जीवित पाउनुभयो र पुनः श्वाससँगै त्यस बालकको उदरबाट बाहिर निस्किनुभयो। आँखा खुलेपछि मार्कण्डेयज्यूले आफूलाई त्यही आश्रमको आफ्नै आसनमा बसेको पाउनुभयो।

स्पष्ट छ कि करोडौं वर्षको भजनपश्चात् ती मुनिले ईश्वरीय दृश्यलाई आफ्नो हृदयमा देख्नुभयो, अनुभवमा देख्नुभयो, बाहिर सबै थोक जस्ताको त्यस्तै थियो। अतः प्रलय योगीको हृदयमा ईश्वरबाट मिल्ने अनुभूति हो। भजनको पूर्तिकालमा योगीको हृदयमा संसारको प्रवाह मेटिएर अव्यक्त परमात्मा नै बाँकी हुन्छ, यो नै प्रलय हो। बाहिर प्रलय हुँदैन। महाप्रलय शरीर छदै अद्वैतको अनिर्वचनीय स्थिति हो। यो क्रियात्मक छ। मात्र बुद्धिले निर्णय लिनेहरूले भ्रमको नै सृजन गर्दछन्, चाहे म हुँ वा तपाई। यसैमा अघि हेरौं-

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

धनञ्जय! म बाहेक अलिकति पनि कुनै अर्को वस्तु छैन। यो सम्पूर्ण संसार धागोमा मणिहरूजस्तै मेरोसँग गाँसिएको छ। हुन त हो, तर जान्नेछौं कहिले? जब (यसै अध्यायको प्रथम श्लोकको अनुसार) अनन्य आसक्ति (भक्ति) द्वारा मेरो परायण भएर योगमा त्यसैरूपले लाग्छौं। योबाहेक उपाय छैन। योगमा लागनु आवश्यक छ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

कौन्तेय! पानीमा म रस हुँ। चन्द्रमा र सूर्यमा प्रकाश हुँ। सम्पूर्ण वेदहरूमा ओंकार हुँ, (ओ+अहं+कार) स्वयंको आकार हुँ। आकाशमा शब्द र पुरुषहरूमा पुरुषत्व हुँ। तथा म–

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

पृथ्वीमा पवित्र गन्ध र अग्निमा तेज हुँ। सम्पूर्ण जीवहरूमा उनीहरूको जीवन हुँ र तपस्वीहरूमा उनीहरूको तप हुँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

पार्थ! तिमी सम्पूर्ण भूतहरूको सनातन कारण अर्थात् बीज मलाई नै जान। म बुद्धिमान्हरूको बुद्धि र तेजस्वीहरूको तेज हुँ। यसैक्रममा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! म बलवान्हरूको कामना र आसक्तिरहित बल हुँ। संसारमा सबै बलवान् नै बन्दछन्। कोही दण्ड–बैठक लगाउँछ, कोही परमाणु एकत्रित गर्दछ; तर होइन, श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि काम र रागबाट पर जुन बल छ त्यो म हुँ, त्यही वास्तविक बल हो। सबै भूतहरूमा धर्मको अनुकूल कामना म हुँ, परब्रह्म परमात्मा नै एकमात्र धर्म हो। जसले सबैलाई धारण

गरेको छ, जुन शाश्वत आत्मा हो, त्यही धर्म हो। जो त्यससँग अविरोध राख्ने कामना छ, त्यो म हुँ। अघि पनि श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि अर्जुन! मेरो प्राप्तिको लागि इच्छा गर। सबै कामनाहरू त वर्जित छन्, तर त्यस परमात्मालाई पाउने कामना आवश्यक छ अन्यथा तिमी साधना कर्ममा प्रवृत्त हुने छैनौं। यस्तो कामना पनि मेरो नै देन हो।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

अरु पनि जुन सत्वगुण उत्पन्न हुनेभाव छ, जो रजोगुण र तमोगुणबाट उत्पन्न हुने भाव छन्, ती सबैलाई तिमी मबाट नै उत्पन्न भएको जान। तर वास्तवमा त्यसमा म र उनी ममा छैन। किनकि न म त्यसमा मिसिएकोछु र न उनी मभित्र प्रवेश गर्न पाउँछन्; किनकि मलाई कर्मबाट अभिलाशा छैन, म निर्लेप हुँ। मलाई उनीसंग केही पाउनु छैन। यसैले मभित्र प्रवेश गर्न पाउँदैन। यस्तो भएर पनि–

जुनप्रकार आत्माको उपस्थितिबाट नै शरीरलाई भोक-प्यास लाग्छ, आत्मालाई अन्न अथवा पानीसँग कुनै प्रयोजन छैन, त्यसै प्रकार प्रकृतिले परमात्माको उपस्थितिमा नै आफ्नो कार्य गर्न पाउँछ, परमात्मा त्यसको गुण र कार्यहरूबाट निर्लेप रहन्छ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

सात्विक, राजस र तामस– यी तीनै गुणहरूको कार्यरूप भावहरूबाट यो सम्पूर्ण संसार मोहित भैरहेको छ। यसैले मानिसहरू यी तीनै गुणहरूबाट पर म अविनाशीलाई तत्वले राम्ररी जान्दैनन्। म यी तीनै गुणहरूबाट पर छु अर्थात् जबसम्म न्यूनमात्र पनि गुणहरूको आवरण विद्यमान छ, तबसम्म कोही मलाई जान्दैनन्। उसले अझ हिड्नु छ, त्यो राही (बटुवा) हो र–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

यो त्रिगुणमयी मेरो अद्भुत माया कठिन छ; तर जो पुरुष मलाई नै निरन्तर भज्दछन्, उनले यस मायाको पार पाउँछन्। यो माया हो त दैवी, तर धूप बालेर यसको पूजा गर्न नलाग्नुस्। यसबाट पार पाउनु छ।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

जसले मलाई निरन्तर भज्दछन्, उसले जान्दछन्। तापनि मानिसहरू भज्दैनन्। मायाद्वारा जसको ज्ञान अपहरण गरिएको छ, जो आसुरी स्वभाव धारण गरेको छ, मानिसहरूमा अधम, काम, क्रोध आदि दुष्कृतिहरूगर्ने मूढ मानिसहरूले मलाई भज्दैनन्। अनि भज्दछन् को?–

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! '**सुकृतिनः**'– उत्तम अर्थात् नियत कर्म (जसको परिणाममा श्रेयको प्राप्ति होस्, त्यसलाई) गर्ने, '**अर्थार्थी**' अर्थात् सकाम, '**आर्तः**' अर्थात् दुःखबाट छुट्ने इच्छाभएको, '**जिज्ञासुः**' अर्थात् प्रत्यक्ष रूपले जान्ने इच्छाभएको र '**ज्ञानी**' अर्थात् जो प्रवेशको स्थितिमा छ– यी चारै प्रकारका भक्तजन मलाई भज्दछन्।

'अर्थ' त्यो वस्तु हो, जसबाट हाम्रो शरीर अथवा संबन्धहरूको पूर्ति होस्। यसैले अर्थ, कामनाहरू सबैथोक पहिले त भगवान्‌द्वारा पूर्णहुन्छन्। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– म नै पूर्ण गर्दछु; तर यति नै वास्तविक 'अर्थ' होइन। आत्मिक सम्पत्ति नै स्थिर सम्पत्ति हो– यही अर्थ हो।

सांसारिक 'अर्थ'को पूर्ति गर्दा–गर्दै भगवान् वास्तविक अर्थ आत्मिक सम्पत्तितिर बढाउनु हुन्छ; किनकि वहाँ जान्नुहुन्छ कि यतिमात्रैले मेरो भक्त सुखी हुने छैन, यसैले वहाँ आत्मिक सम्पत्ति पनि त्यसलाई दिन लाग्नुहुन्छ। '**लोक लाहु परलोक निबाहु**' (**रामचरित मानस, १/२०/२**)– लोकमा लाभ र परलोकमा निर्वाह– यी दुबै भगवान्‌का वस्तुहरू हुन्। आफ्नो भक्तलाई रित्तो छोड्दैनन्।

'**आर्तः**'- जो दुःखी छ, '**जिज्ञासुः**'- समग्रतासाथ जान्ने इच्छा भएको जिज्ञासु मलाई भज्दछ। साधनाको परिपक्व अवस्थामा दिग्दर्शन (प्रत्यक्ष दर्शन)को अवस्थाभएका ज्ञानीले पनि मलाई भज्दछ। यसप्रकार चार प्रकारका भक्तहरू मलाई भज्दछन्, जसमा ज्ञानी श्रेष्ठ हो अर्थात् ज्ञानी पनि भक्त नै हो। यी सबैमा पनि-

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

अर्जुन! उनमा पनि सधैं मभित्र एकीभावले स्थित, अनन्य भक्तिभएका ज्ञानी विशिष्ट छ; किनकि साक्षात्कारसहित जान्ने ज्ञानीलाई म अत्यन्त प्रिय छु र त्यो ज्ञानी पनि मलाई अत्यन्त प्रिय छ। त्यो ज्ञानी मेरै स्वरूप हो।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

यद्यपि यी चारै प्रकारका भक्त उदार नै हुन (के कस्तो उदारता गऱ्यो? के तपाईको भक्ति गर्नाले भगवान्‌लाई केही मिल्छ? के भगवान्‌मा कुनै कमी छ जसलाई तपाईले पूरा गर्नुभयो? होइन, वस्तुतः त्यही उदार हो जो आफ्नो आत्मालाई अधोगतिमा नपुऱ्याओस्, जो उसको उद्धारको लागि अग्रसर छ। यसप्रकार यी सबै उदार हुन्) तर ज्ञानी त साक्षात् मेरै स्वरूप हो, यस्तो मेरो मान्यता छ; किनकि त्यो स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम गतिस्वरूप मभित्र नै स्थित छ। अर्थात् त्यो म हुँ, त्यो मभित्र छ। म र उसमा कुनै फरक छैन। यसैमा पुनः बल दिनुहुन्छ-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

अभ्यास गर्दा-गर्दै धेरै जन्मको अन्त्यको जन्ममा, प्राप्तिवाला जन्ममा साक्षात्कारलाई प्राप्त भएको ज्ञानी 'सबै करा वासुदेव नै हुनुहुन्छ'- यसप्रकारले मलाई भजन गर्छ। त्यो महात्मा अतिदुर्लभ छ। उसले कुनै वासुदेवको प्रतिमा बनाउँदैन बरू आफूभित्र नै त्यस परमदेवको वास पाउँछ। त्यही ज्ञानी महात्मालाई श्रीकृष्ण तत्वदर्शी पनि भन्नुहुन्छ। यिनै महापुरुषहरूबाट बाहिर समाजमा कल्याण

सम्भव छ। यसप्रकारको प्रत्यक्ष तत्वदर्शी महापुरुष श्रीकृष्णको शब्दहरूमा अतिदुर्लभ छन्।

जब श्रेय र प्रेय (मुक्ति र भोग) दुबै भगवान्‌बाट प्राप्तहुन्छन्, तब त सबैले एकमात्र भगवान्‌को भजन गर्नु पर्ने हो तर पनि मानिसहरू यनलाई भज्दैनन्। किन? श्रीकृष्णको शब्दमा–

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

"त्यो तत्वदर्शी महात्मा अथवा परमात्मा नै सबैथोक हुन्"– मानिसहरू यस्तो बुझ्न पाउदैन; किनकि भोगहरूका कामनाहरूद्वारा मानिसहरूको विवेक अपहरण गरिएको छ। यसैले उनीहरू आफ्नो प्रकृति अर्थात् जन्म–जन्मान्तरबाट अर्जित संस्कारको स्वभावबाट प्रेरित भएर म परमात्माबाट भिन्न अरू देवताहरू र उसको लागि प्रचलित नियमहरूको शरण लिन्छन्। यहाँ 'अन्य देवता'को प्रसंग पहिलो पटक आएको हो।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

जो–जो सकामी भक्त जुन–जुन देवताको स्वरूपलाई श्रद्धाले पुज्न चाहन्छ, म त्यही देवताप्रति उसको श्रद्धालाई स्थिर गर्दछु। म स्थिर गर्दछु; किनकि देवता नामको कुनै वस्तु भए पो त्यो देवताले नै श्रद्धालाई स्थिर गर्दथ्यो।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

त्यो पुरुष त्यस श्रद्धाले युक्त भएर त्यस देव–विग्रहको पूजामा तत्पर हुन्छ र देवताको माध्यमले मेरैद्वारा निर्मित ती इच्छित भोगहरूलाई निःसन्देह प्राप्तहुन्छ। भोग कसले दिन्छ? म नै दिन्छु। त्यसको श्रद्धाको परिणाम हो भोग, न कि कुनै देवताको देन। तर त्यो फल त पाउँछ नै, अनि यसमा खराबी के छ? यसमा भन्नुहुन्छ–

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

तर ती अल्पबुद्धिवालहरूको त्यो फल नाशवान् हो। आज फल छ तर भोग्दा-भोग्दै नष्ट भएर जानेछ, यसैले नाशवान् छ। देवताहरूलाई पूजनेवाला देवताहरूलाई प्राप्त हुन्छन् अर्थात् देवता पनि नाशवान् हुन्। देवताहरूदेखि लिएर सम्पूर्ण संसार परिवर्तनशील र मरणधर्मा हो। मेरो भक्त मलाई नै प्राप्तहुन्छ, जो अव्यक्त छ, 'नैष्ठिकीम् परमशान्ति' पाउँछ।

अध्याय तीनमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि यस यज्ञद्वारा तिमीहरू देवता अर्थात् दैवी सम्पद्को उन्नति गर। जसो-जसो दैवी सम्पद्को उन्नति हुनेछ, त्यही नै तिम्रो उन्नति हो। क्रमशः उन्नति गर्दा-गर्दै परमश्रेयलाई प्राप्त गर। यहाँ देवता त्यस दैवी सम्पद्को समूह हो, जसद्वारा परमदेव परमात्माको देवत्व अर्जित गरिन्छ। दैवी सम्पद् मोक्षको लागि हो, जसको छब्बिस लक्षणहरूको निरूपण गीताको सोह्रौं अध्यायमा गरिएको छ। 'देवता' हृदयको अन्तरालमा परमदेव परमात्माको देवत्वलाई अर्जित गराउने सद्‌गुणहरूको नाम हो। हुन त यो भित्रको वस्तु थियो तर कालान्तरमा मानिसहरूले भित्रको बस्तुलाई बाहिर हेर्न प्रारम्भ गरे। मूर्तिहरू बनाए, कर्मकाण्डलाई रचे र वास्तविकताबाट टाढा उभिए। श्रीकृष्णले यस भ्रान्तिको निराकरण उपर्युक्त चार श्लोकहरूमा गर्नुभयो। गीतामा पहिलो पटक 'अन्य देवता'हरूका नाम लिंदै उहाँले भन्नुभयो कि देवता छँदै छैन। मानिसहरूको श्रद्धा जहाँ झुक्दछ, त्यहाँ म नै उभिएर उसको श्रद्धालाई पुष्ट गर्दछु र म नै त्यहाँ फल पनि दिन्छु। त्यो फल पनि नश्वर हो। फल नष्ट हुन्छ, देवता नष्ट भएरजान्छ र देवताहरूलाई पूजा गर्नेहरू पनि नष्ट हुन्छन्। जसको विवेक नष्ट भै सकेको छ, ती मूढबुद्धि नै अरू देवताहरूलाई पूज्दछन्। श्रीकृष्ण त यहाँसम्म भन्नुहुन्छ कि अरू देवताहरूलाई पूज्ने विधान नै अयुक्तिसँगत छ। (अगाडि देख्नु हुनेछ- ९/२३)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

यद्यपि जब देवताहरूको नाममा देवता नामको कुनै वस्तु छँदै छैन, जो फल मिल्दछ त्यो पनि नाशवान् छ, तापनि सबै मानिस मेरो भजन गर्दैनन्; किनकि बुद्धिहीन पुरुष (जस्तो कि पछिल्लो श्लोकमा आयो कि कामनाहरूद्वारा जसको ज्ञान अपहृत भएको छ उनी) मेरो सर्वोत्तम, अविनाशी र परमप्रभावलाई राम्रो ढंगले जान्दैन्। यसैले उनीहरू म अव्यक्त पुरुषलाई व्यक्तिभावले प्राप्त भएको मान्दछन्, मानिस मान्दछन्। अर्थात् श्रीकृष्ण पनि मानिस शरीरधारी योगी हुनुहुन्थ्यो, योगेश्वर हुनुहुन्थ्यो। जो स्वयं योगी छ र अरूलाई पनि योग प्रदान गर्ने क्षमता जसमा छ, त्यसलाई योगेश्वर भनिन्छ। साधनाको सही क्रममा परेर क्रमशः उत्थान हुँदा-हुँदै महापुरुष पनि त्यसै परमभावमा स्थित हुन्छन्। शरीरधारी भए पनि उनी त्यही अव्यक्त स्वरूपमा स्थित हुन्छन्; फेरि पनि कामनाहरूबाट विवश मन्दबुद्धिले मानिसहरू उनलाई साधारण व्यक्ति नै मान्दछन्। उनीहरू सोच्दछन् कि हामीजस्तै उहाँ पनि जन्मनु भएको छ, भगवान् कसरी हुन सक्नुहुन्छ? ती विचराको दोष पनि के छ र? दृष्टिपात् गर्दा शरीर नै देखिन्छ। उनीहरू महापुरुषको वास्तविक स्वरूपलाई किन देख्न पाउदैन? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

सामान्य मानिसको लागि माया एउटा पर्दा हो, जसले परमात्मा सर्वथा लुकेको छ। योग-साधना सम्झेर त्यो यसमा प्रवृत्त हुन्छ। तत्पश्चत् योग-माया अर्थात् योग-क्रिया पनि एउटा आवरण नै हो। योगको अनुष्ठान गर्दा-गर्दै उसको पराकाष्ठा योगारूढता आएपछि त्यो लुकेको परमात्मा प्रकाशित हुन्छ। योगेश्वर भन्नुहुन्छ कि म आफ्नो योग-मायाबाट ढाकिएकोछु, मात्र योगको परिपक्व अवस्थावालले नै मलाई यथार्थ देख्न सक्छन्। म सबैको लागि प्रत्यक्ष छैन, यसैले यो अज्ञानी मानिस मजस्तो जन्मरहित (जसलाई अब जन्मलिनु छैन), अविनाशी (जसको नाश हुँदैन), अव्यक्तस्वरूप (जसलाई पुनः व्यक्त हुनु छैन) लाई जान्दैन। अर्जुन पनि श्रीकृष्णलाई आफूजस्तै मानिस मान्दथे। अगाडि उहाँले दृष्टि दिनुभयो त अर्जुन प्रार्थना गर्न लागे। वस्तुतः अव्यक्तस्थित महापुरुषलाई चिन्नमा हामीहरू प्रायः अन्धो नै छौं। अगाडि भन्नुहुन्छ–

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अर्जुन! म अतीत, वर्तमान र भविष्यमा हुनेवाला सम्पूर्ण प्राणिहरूलाई जान्छदु, तर मलाई कोही पनि जान्दैन। किन जान्न पाउँदैन?–

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।२७।।

भरतवंशी अर्जुन! इच्छा र द्वेष अर्थात् राग–द्वेषादि द्वन्द्वको मोहबाट संसारका सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त मोहलाई प्राप्त भैरहेका छन्, त्यसैले मलाई जान्न पाउँदैनन्। तब के कोही जान्ने नै छैन? योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

तर पुण्यकर्म (जसले संसृतिलाई अन्त्यगर्ने छ, जसको नाम कार्यम् कर्म, नियत कर्म, यज्ञको प्रक्रिया भनेर पटक–पटक सम्झाउनु भएको छ, त्यस कर्मलाई) गर्ने जुन भक्तहरूको पाप नष्ट भैसकेको छ, उनी राग–द्वेष आदि द्वन्द्वको मोहबाट राम्रो प्रकारले मुक्त भएर, व्रतमा दृढ भएर मलाई भज्दछन्। किन भज्दछन्?–

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

जो मेरो शरण भएर जन्म–मरणबाट मुक्ति पाउनको लागि प्रयत्न गर्दछ, त्यो पुरुष त्यस ब्रह्मलाई, सम्पूर्ण अध्यात्मलाई र सम्पूर्ण कर्मलाई जान्दछ। यसै क्रममा–

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञसहित मलाई जान्दछन्, ममा समाहित चित्तवाला ती पुरुष अन्त्यकालमा पनि मलाई नै जान्दछन्, ममा नै स्थित रहन्छन् र सधैं मलाई प्राप्त रहन्छन्। छबिसौं–सत्ताइसौं श्लोकमा

वहाँले भन्नुभयो कि मलाई कोही पनि जान्दैनन्, किनकि उनीहरू मोहग्रस्त छन्। तर जो त्यस मोहबाट छुट्नको लागि प्रयत्नशील छन्, उनी (१) सम्पूर्ण ब्रह्म, (२) सम्पूर्ण अध्यात्म, (३) सम्पूर्ण कर्म, (४) सम्पूर्ण अधिभूत, (५) सम्पूर्ण अधिदैव र (६) सम्पूर्ण अधियज्ञसहित मलाई जान्दछन् अर्थात् यी सबैको परिणाम म (सद्गुरु) हुँ। उसैले मलाई जान्दछ, यस्तो होइन कि कोही पनि जानदैनन्।

निष्कर्ष–

यस सातौं अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि अनन्य भावबाट ममा समर्पित भएर, मेरो आश्रित भएर जो योगमा लाग्दछ, ऊ समग्ररूपले मलाई जान्दछन्। मलाई जान्नको लागि हजारौंमा कोही विरलै प्रयत्न गर्दछन् र प्रयत्न गर्ने विरलै कोहीले जान्दछन्। ऊ मलाई पिण्डरूपमा एकदेशीय होइन बरू सर्वत्र व्याप्त देख्छन्। आठ भेदवाला मेरो जड प्रकृति छ र यसको अन्तरालमा जीवरूप मेरो चेतन प्रकृति हो। यी दुबैको संयोगले सम्पूर्ण संसार उभेको छ। तेज र बल मेरोद्वारा नै छ। राग र कामले रहित बल तथा धर्मानुकूल कामना पनि म नै हुँ। जस्तो कि सबै कामनाहरू त वर्जित छन्, तर मेरो प्राप्तिको लागि कामना गर। यस्तो इच्छाको अभ्युदय हुनु मेरो नै प्रसाद हो। मात्र परमात्मालाई पाउने कामना नै 'धर्मानुकूल' कामना हो।

श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि म तीनवटै गुणहरूबाट अतीतछु। परमको स्पर्श गरेर परमभावमा स्थितछु; तर भोगासक्त मूढपुरुष सोझै मलाई नभजेर अरू देवताहरूको उपासना गर्दछन्, जबकि त्यहाँ देवता नामको कोही छँदैछैन। ढुङ्गा–पानी–रूख जसलाई पनि ऊ पूज्न चाहन्छ, त्यसैमा उसको श्रद्धालाई म नै पुष्ट गर्दछु। त्यसको आडमा उभेर म नै फलदिन्छु; किनकि न त्यहाँ कुनै देवता छन्, न कुनै देवतासँग केही भोग नै छ। मानिस मलाई साधारण व्यक्ति ठानेर भज्दैनन्; किनकि म योग–प्रक्रियाद्वारा ढाकिएकोछु। अनुष्ठान गर्दा–गर्दै योगमायाको आवरण पारगर्नेहरूले नै म शरीरधारीलाई पनि अव्यक्त रूपमा जान्दछन्, अरू स्थितिहरूमा होइन।

मेरा भक्त चार प्रकारका छन् – अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु र ज्ञानी। चिन्तन गर्दा–गर्दै अनेकौं जन्महरूको पछि अन्तिम जन्ममा प्राप्तिगर्ने ज्ञानी मेरै स्वरूप हो अर्थात् अनेकौं जन्महरूदेखि चिंतन गरेर भगवत् स्वरूपलाई प्राप्त गरिन्छ। राग–द्वेषको मोहबाट आक्रान्त मानिस मलाई कहिलै पनि जान्न सकदैन; तर राग–द्वेषको मोहबाट रहित भएर जो नियतकर्म (जसलाई संक्षेपमा आराधना भन्दछन्) को चिन्तन गर्दै जन्म–मरणबाट छुट्नको लागि प्रयत्नशील छन्, ती पुरुष सम्पूर्णरूपमा मलाई जान्दछन्। उनीहरू सम्पूर्ण ब्रह्मलाई, सम्पूर्ण अध्यात्मलाई, सम्पूर्ण अधिदैवलाई, सम्पूर्ण कर्मलाई र सम्पूर्ण यज्ञसहित मलाई जान्दछन्। उनीहरू ममा प्रवेश गर्दछन् र अन्त्यकालमा पनि मलाई नै जान्दछन् अर्थात् फेरि कहिल्यै विस्मृत हुँदैनन्।

यस अध्यायमा परमात्माको समग्र जानकारीको विवेचन छ; अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'समग्रबोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

यसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको संवादमा 'समग्र जानकारी' नामक सातौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'समग्रबोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'समग्र जानकारी' नामक सातौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

।। हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ अष्टमोऽध्यायः।।

आठौं अध्याय

सातौं अध्यायको अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि पुण्यकर्म (नियतकर्म, आराधना) गर्ने योगी सम्पूर्ण पापहरूबाट मुक्त भएर त्यस व्याप्त ब्रह्मलाई जान्दछन् अर्थात कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो, जसले व्याप्त ब्रह्मको जानकारी दिलाउँछ। त्यस कर्मलाई गर्नेले व्याप्त ब्रह्मलाई, सम्पूर्ण कर्मलाई, सम्पूर्ण अध्यात्मलाई, सम्पूर्ण अधिदैव, अधिभूत र अधियज्ञसहित मलाई जान्दछन्, अतः कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो, जसले यी सबैसित परिचय गराउँछ। उनीहरू अन्तकालमा पनि मलाई नै जान्दछन्। उनीहरूको जानकारी कहिल्यै विस्मृत हुँदैन।

यसमा अर्जुनले यस अध्यायको प्रारम्भमा नै तिनै शब्दहरूलाई दोहोऱ्याउँदै प्रश्न राखे–

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

हे पुरुषोत्तम! त्यो ब्रह्म के हो? अध्यात्म के हो? कर्म के हो? अधिभूत तथा अधिदैव कसलाई भनिन्छ?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ को हो र त्यो यस शरीरमा कसरी छ? सिद्ध छ कि अधियज्ञ अर्थात् यज्ञको अधिष्ठाता कुनै यस्तो पुरुष हो जो मनुष्यशरीरको आधारभएको हो। समाहित चित्तभएका पुरुषहरूद्वारा अन्त्य समयमा तपाई

कुन प्रकारले जानिनु हुन्छ? यी सातै प्रश्नहरूको क्रमशः निर्णय दिनको लागि योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुभयो–

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।।३।।

'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**'– जो अक्षय छ, जसको क्षय हुँदैन त्यही परब्रह्म हो। '**स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते**'– स्वयंमा स्थिरभाव नै अध्यात्म अर्थात् आत्माको आधिपत्य हो। योभन्दा पहिले सबै मायाको आधिपत्यमा रहन्छन्; तर जब 'स्व-भाव' अर्थात् स्वरूपमा स्थिरभाव (स्वयंमा स्थिरभाव) मिल्छ भने आत्माको नै आधिपत्य त्यसमा प्रवाहित हुन्छ, यही नै अध्यात्म हो, अध्यात्मको पराकाष्ठा हो। '**भूतभावोद्भवकरः**'– भूतहरूका ती भाग जसले केही न केही उद्भव गर्दछन् अर्थात् प्राणिहरूका ती संकल्प जो राम्रो वा नराम्रो संस्कारहरूको संरचना गर्दछन्, उनको विसर्ग अर्थात् विसर्जन, त्यो मेटिनु, समाप्त हुनु नै कर्मको पराकाष्ठा हो। यही सम्पूर्ण कर्म हो, जसको लागि योगेश्वरले भन्नुभयो– 'त्यो सम्पूर्ण कर्मलाई जान्दछ।' त्यहाँ कर्म पूर्ण छ, अगाडि आवश्यकता छैन (नियत कर्म) यस अवस्थामा जबकि भूतहरूका ती भाव जसले केही न केही रच्दछन्, राम्रो वा नराम्रो संस्कार-संग्रह गर्दछन्, बनाउँछन्, ती जब सर्वथा शान्त हुन्छ, यही कर्मको सम्पूर्णता हो, यसको अगाडि कर्म गर्ने आवश्यकता रहदैन। अतः कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो, जसले भूतहरूको सम्पूर्ण संकल्पहरूलाई, जसबाट केही न केही संस्कार बन्दछन्, त्यसको शमन गरिदिन्छ। कर्मको अर्थ हो (आराधना) चिन्तन, जुन यज्ञमा छ।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

जबसम्म अक्षय भाव पाइदैन, तबसम्म नष्टहुने सम्पूर्ण क्षरभाव 'अधिभूत' अर्थात् भूतहरूका अधिष्ठान हुन्। त्यही भूतरूको उत्पत्तिको कारण हुन्। '**पुरुषः च अधिदैवतम्**'– प्रकृतिबाट पर जो परमपुरुष छ, त्यही अधिदैव अर्थात्

सम्पूर्ण देवहरू (दैवी सम्पद्)को अधिष्ठाता हो। दैवी सम्पद् त्यही परमदेवमा विलीन हुन्छ। शरीरधारीमा श्रेष्ठ अर्जुन! यस मानव-तनमा म नै अधियज्ञ हुँ अर्थात् यज्ञहरूको अधिष्ठाता हुँ। अतः यसै शरीरमा, अव्यक्त स्वरूपमा स्थित महापुरुष नै अधियज्ञ हो। श्रीकृष्ण एउटा योगी हुनुहुन्थ्यो। जो सम्पूर्ण यज्ञहरूका भोक्ता हुन्, अन्त्यमा यज्ञ उसमा प्रवेश पाउँछ। त्यहीं परमस्वरूप मिल्छ। यसप्रकार अर्जुनको छः प्रश्नहरूको समाधान भयो। अब अन्तिम प्रश्न रह्यो कि, अन्त्यकालमा कसरी तपाई जानिनु हुन्छ, जो कहिलै विस्मृत हुँदैन?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ, जो पुरुष अन्त्यकालमा अर्थात् मनको निरोध र विलयकालमा मेरै स्मरण गर्दै शरीरको सम्बन्धलाई छोडेर अलग हुन्छ, त्यो 'मद्भावं'- साक्षात् मेरै स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ, यसमा संशय छैन।

शरीरको निधन शुद्ध अन्तकाल होइन। मरेपछि पनि शरीरहरूको क्रम पछि लागि रहन्छ। संचित संस्कारहरूको सतह समाप्तिपश्चात् मनको निरोध हुन्छ। त्यो मन पनि जब विलीन हुन्छ भने त्यहीं अन्तकाल हो, तत्पश्चात् शरीर धारण गर्नु पर्दैन। यो क्रियात्मक हुन्छ। मात्र भनेर, वार्ताक्रममा बुझिदैन। जबसम्म पोषाक जस्तै शरीरको परिवर्तन भइरहेको छ, तबसम्म शरीरहरूको अन्त्य कहाँ भयो। मनको निरोध र निरुद्ध मनको पनि विलयकालमा जिउँदै शरीरको सम्बन्धको विच्छेद हुन्छ। यदि मरेपछि नै यस्तो स्थिति पाउने भए, श्रीकृष्ण पनि पूर्ण हुदैनथे। उहाँले भन्नुभयो- अनेकौं जन्महरूको अभ्यासबाट प्राप्ति गर्ने ज्ञानी साक्षात् मेरो स्वरूप हो। म त्यो हुँ र त्यो ममा छ। अलिकति पनि त्यसमा र ममा फरक छैन। यो जिउँदैको प्राप्ति हो। जब पुनः कहिलै पनि शरीर प्राप्त हुँदैन, त्यहीं शरीरहरूको अन्त्य हो।

यो त वास्तविक शरीरान्तको चित्रण भयो, जसको पछाडि जन्मलिनु पर्दैन। दोस्रो शरीरान्त मृत्यु हो, जो लोक-प्रचलित छ; तर यस शरीरान्तपछि पुनः जन्मलिनु पर्दछ-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:।।६।।

कौन्तेय! मृत्युको समयमा मानिस जुन पनि भावलाई स्मरण गर्दै शरीरलाई त्याग्छ, त्यस-त्यसलाई नै प्राप्त गर्छ। तब त यो धेरै सजिलो उपाय (सौदा) हो। जीवनभरी मोज गरौं, मर्नेबेलामा भगवान्लाई स्मरण गरौंला। तर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- यस्तो कहिल्यै पनि हुँदैन, **'सदा तद्भावभावित:'**- त्यसै भावको मात्र चिन्तन गर्न सक्छ जस्तो जीवनभरी गरेको छ। त्यही विचार न चाहदै आइहाल्छ। अत:-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

यसैले अर्जुन! तिमी प्रत्येक समय मेरो स्मरण गर र युद्ध गर। ममा अर्पित मन र बुद्धिबाट युक्त भएर तिमी नि:सन्देह मलाई नै प्राप्त हुनेछौ। निरन्तर चिन्तन र युद्ध एकैसाथ कसरी सम्भव छ? हुनसक्छ कि निरन्तर चिन्तन र युद्धको यो स्वरूप होस् कि 'जय कन्हैयालाल की', 'जय भगवान की'- भन्दैरहौं र वाण चलाउँदै रहौं। तर स्मरणको स्वरूप अगाडिको श्लोकमा स्पष्टगर्दै योगेश्वर भन्नुहुन्छ-

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

हे पार्थ! त्यस स्मरणको लागि योगको अभ्याससँग युक्त भएर (मेरो चिन्तन र योगको अभ्यास पर्याय हो) मबाहेक अर्कोतिर न जाने चित्तले निरन्तर चिन्तन गर्ने परमप्रकाशस्वरूप दिव्यपुरुष अर्थात् परमात्मालाई प्राप्त गर्दछ। मानौं कि यो पेन्सिल भगवान् हो भने यसबाहेक अरू कुनै वस्तुको स्मरण आउनु हुदैन। यसको वरिपरि तपाईले पुस्तक वा अरू केहि देख्नु हुन्छ भने तपाईको स्मरण खण्डित भयो। स्मरण जब यति सूक्ष्म छ कि इष्टबाहेक अर्को वस्तुको स्मरण पनि नआओस्, मनमा तरंग पनि नआओस्, तब स्मरण र युद्ध दुबै एकैसाथ कसरी हुन्छ? वस्तुत: जब तपाई चित्तलाई सबैतिरबाट

समेटेर आफ्नो एक आराध्यको स्मरणमा प्रवृत्त हुनुहुनेछ त्यस समय मायिक प्रवृत्तिहरू- काम, क्रोध, राग-द्वेष बाधाको रूपमा सामुन्ने प्रकट नै छन्। तपाई स्मरण गर्नु हुनेछ, तर उनले तपाईभित्र उद्वेग उत्पन्न गर्नेछन्, तपाईको मन स्मरणबाट चलायमान गर्न चाहनेछन्। यी बाहिरी प्रवृत्तिहरूको पार पाउनु नै युद्ध हो। निरन्तर चिन्तनको साथ नै युद्ध सम्भव छ। गीताको एउटा पनि श्लोकले बाहिरी मार-काटको समर्थन गर्दैन। चिन्तन कसको गर्ने? यसमा उहाँ भन्नुहुन्छ-

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

त्यस युद्धसँग त्यो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबैका नियन्ता, सूक्ष्मभन्दा पनि अतिसूक्ष्म, सबैका धारणा-पोषण गर्ने तर अचिन्त्य (जबसम्म चित्त र चित्तको लहर छ, तबसम्म त्यो देखिन्दैन। चित्तको निरोध र विलयकालमा नै जो विदित हुन्छ), नित्य प्रकाशस्वरूप र अविद्यादेखि पर त्यस परमात्माको स्मरण गर्दछ। पछाडि बताउनुभयो- मेरो चिन्तन गर्छ, यहाँ भन्नुहुन्छ- परमात्माको। अतः त्यस परमात्माको चिन्तन (ध्यान)को माध्यम तत्वस्थित महापुरुष हो। यसै क्रममा-

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

जसले निरन्तर त्यस परमात्मालाई स्मरण गर्दछ, त्यो भक्तियुक्त पुरुष '**प्रयाणकाले**'- मनको विलीन अवस्थाकालमा, योगबलबाट अर्थात् त्यही नियत कर्मको आचरणद्वारा, भृकुटीको मध्यमा प्राणलाई राम्रो प्रकारले स्थापित गरेर (प्राण-अपानलाई राम्ररी सम गरेर न भित्रबाट उद्धेग उत्पन्न होस्, न

बाहिरी कुनै सङ्कल्प लिने होस्, सत्-रज-तम राम्ररी शान्त होस्, ध्यान इष्टमै स्थित होस्, त्यस कालमा) त्यो अचल मन अर्थात् स्थिरबुद्धिभएका पुरुष त्यस दिव्यपुरुष परमात्मालाई प्राप्त गर्दछ। सतत् स्मरणीय छ कि त्यही एउटा परमात्माको प्राप्तिको विधान योग हो। त्यसको लागि नियत क्रियाको आचरण नै योग-क्रिया हो, जसको सविस्तार वर्णन योगेश्वरले चौथो-छैठौं अध्यायमा गर्नुभएको छ। अहिले उहाँले भन्नुभयो- 'निरन्तर मेरै स्मरण गर।' कसरी गरूँ? त यसै योगको धारणामा स्थिर रहेर गर्नुछ। यस्तो गर्ने दिव्यपुरुषलाई नै प्राप्त हुन्छ। जुन चाही कहिले विस्मृत हुँदैन। यहाँ यस प्रश्नको समाधान भयो कि तपाई प्रयाणकालमा कुन प्रकारले जान्नमा आउनु हुन्छ? पाउने योग्य पदको चित्रण हेरौं, जो गीतामा ठाउँ-ठाउँमा आएको-

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

'वेदविद्' अर्थात् अविदित तत्वलाई प्रत्यक्ष जान्ने मानिस जुन परमपदलाई **'अक्षरम्'**- अक्षय भन्दछन्, वीतराग महात्मा जसमा प्रवेशका लागि प्रयत्नशील रहन्छन्, जुन परमपदलाई चाहनेहरू ब्रह्मचर्यको पालना गर्दछन् (ब्रह्मचर्यको अर्थ जननेन्द्रिय मात्रको निरोध होइन, बरू **'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी'**- बाहिरी स्पर्शलाई मनले त्यागेर ब्रह्मको निरन्तर चिन्तन नै ब्रह्मचर्य हो, जसले ब्रह्मको दर्शन गराएर त्यसमा स्थान दिलाई शान्त हुन्छ। यस आचरणद्वारा इन्द्रिय-संयम मात्र होइन, बरू सकलेन्द्रिय संयम स्वतः हुन्छ। यसप्रकार जो ब्रह्मचर्यको आचरण गर्दछन्) जो हृदयमा सङ्ग्रह गर्ने योग्य छ, धारण गर्ने योग्य छ, त्यस पदलाई म तिम्रो लागि भन्नेछु। त्यो पद के हो, कसरी पाउन सकिन्छ? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।

सबै इन्द्रियहरूका द्वारलाई (ढोकाहरूलाई) रोकेर अर्थात् वासनाहरूबाट अलग रहेर मनलाई हृदयमा स्थित गरेर (ध्यान हृदयमा नै गर्नुपर्छ बाहिर होइन, पूजा बाहिर हुँदैन) प्राण अर्थात् अन्तःकरणको व्यापारलाई मस्तिष्कमा निरोध गरेर, योग-धारणा स्थित भएर (योगलाई धारण गरिरहनु छ, अर्को तरीका नै छैन) यसप्रकार स्थित भएर-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

जो पुरुष '**ओम् इति**'- ॐ यति नै, जो अक्षय ब्रह्मको परिचायक हो, त्यसको जप तथा मेरो स्मरण गर्दै शरीरलाई त्यागेर जान्छ, त्यो पुरुषले परमगति प्राप्त गर्दछ। श्रीकृष्ण एक योगेश्वर, परमतत्वमा स्थित महापुरुष, सद्गुरु हुनुहुन्थ्यो। योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि 'ओम्' अक्षय ब्रह्मको परिचायक हो, तिमी त्यसको जप गर र ध्यान मेरो गर। प्राप्तिका प्रत्येक महापुरुषको नाम त्यही हुन्छ जसलाई त्यो प्राप्त छ, जसमा त्यो विलय छ। यसैले नाम 'ओम्' भन्नुभयो र रूप आफ्नो। योगेश्वरले 'कृष्ण-कृष्ण' जप्ने निर्देश दिनु भएन। कालान्तरमा भावुकहरूले उनको पनि नाम जप्न आरम्भ गरेर आफ्नो श्रद्धा अनुसार त्यसको फल पनि पाउँछन्, जस्तो कि मानिसको श्रद्धा जहाँ टिक्छ, त्यहाँ म नै त्यसको श्रद्धालाई पुष्ट गर्दछु तथा म नै फलको विधान पनि गर्दछु।

भगवान् शिवले 'राम' शब्द जप्नमा जोड (बल) दिनुभयो। '**रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः।**', '**रा और म के बीच में कबिरा रहा लुकाय।**' 'रा' र 'म' यी दुबै अक्षरहरूको अन्तरालमा कबीर आफ्नो मनलाई रोक्नमा सक्षम हुनुभयो।

श्रीकृष्ण ओम्मा बल दिनुहुन्छ। ओ अहं स ओम् अर्थात् त्यो सत्ता मभित्र छ, कतै बाहिर न खोज्नु होस्। यो ओम् पनि त्यस परमसत्ताको परिचय दिएर शान्त हुन्छ। वास्तवमा त्यो प्रभुको अनन्त नाम छन्; तर जपको लागि त्यही नाम सार्थक छ जो सानो होस्, श्वासमा ढल्न सकोस् र एक परमात्माको

बोध गराउन सकोस्। त्यसबाट भिन्न अनेकौं देवी-देवताहरूको अविवेकपूर्ण कल्पनामा अल्झेर लक्ष्यबाट दृष्टि नहटाओस्।

'पूज्य महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो कि- मेरो रूप हेर र श्रद्धानुसार कुनै पनि दुई-ढाई अक्षरको नाम- 'ॐ', 'राम', 'शिव' मध्ये कुनै एउटा लिऊँ। त्यसको चिन्तन गरौं र त्यसैको अर्थस्वरूप इष्टको स्वरूपको ध्यान गरौं। ध्यान सद्गुरुकै गरिन्छ। तपाई राम, कृष्ण अथवा **'वीतराग विषयं वा चित्तम्।'** वीतराग महात्माहरू अथवा **'यथाभिमतध्यानाद्वा।' (पातंजल योग०, १/३७, ३९)** अभिमत अर्थात् योगको अभिमत, अनुकूल कसैको पनि स्वरूप समात्नुस्, उहाँ अनुभवमा तपाईलाई भेट्नु हुनेछ र तपाईको समकालीन कुनै सद्गुरुतिर डोऱ्याई दिनेछन्, जसको मार्गदर्शनबाट तपाई विस्तार-विस्तारै प्रकतिको क्षेत्रबाट पार हुँदै जान्नु हुनेछ। म पनि प्रारम्भमा एउटा देवताको (कृष्णको विराट रूपका) चित्रको ध्यान गर्दथिएँ; तर पूज्य महाराजज्यूको अनुभवी प्रवेशको साथै त्यो शान्त भयो।

प्रारम्भिक साधक नाम त जप्दछन्, तर महापुरुषको स्वरूपको ध्यान गर्नमा हचकिन्छन्। उनी आफ्नो अर्जित मान्यताहरूको पूर्वाग्रहलाई छाड्न सक्दैनन्। उनी कुनै अरू देवताको ध्यान गर्दछन्, जसको योगेश्वर श्रीकृष्णले निषेध गनुभएको छ। अतः पूर्ण समर्पणको साथ कुनै अनुभवी महापुरुषको शरण लिनुस्। पुण्य-पुरुषार्थ सबल हुने वितिकै कुतर्कहरूको शमर र यथार्थ क्रियामा प्रवेश मिल्नेछ। योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार यसप्रकार 'ॐ'को जप र परमात्मस्वरूप सद्गुरुको स्वरूपको निरन्तर स्मरण गर्नाले मनको निरोध र विलय हुन्छ र त्यही क्षण शरीरको सम्बन्धको त्याग हुन्छ। मरेमात्र शरीरले पछ्याउन छौड्दैन।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

"मेरो बाहेक अरू कोही चित्तमा छँदै छैन"- अरू कसैको चिन्तन नगर्दै अर्थात् अनन्य चित्तले स्थिर भएर जसले लगातार मेरो स्मरण गर्दछ,

त्यस नित्य ममा युक्त योगीको लागि म सुलभ हुँ। तपाई सुलभ भएमा के मिल्छ?-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

मलाई प्राप्त गरेर उनी दुःखहरूको स्थानस्वरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्मलाई प्राप्त हुँदैन बरू परमसिद्धिलाई प्राप्त हुन्छ अर्थात् मलाई प्राप्त हुनु अथवा परमसिद्धिलाई प्राप्त हुनु एउटै कुरा हो। एउटा भगवान् मात्र यस्तो छ, जसलाई पाएर त्यस पुरुषको पुनर्जन्म हुँदैन। फेरि पुनर्जन्मको सीमा कहाँसम्म छ?-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

अर्जुन! ब्रह्मदेखि लिएर कीरा-फटयाङ्ग्रासम्म सबैलोक पुनरावर्ती हुन्, जन्मलिने र मर्ने तथा पुनः-पुनः यसै क्रममा हिँड्ने हुन्; तर कौन्तेय! मलाई प्राप्त भएर त्यस पुरुषको पुनर्जन्म हुँदैन।

धर्मग्रन्थहरूमा लोक-लोकान्तरहरूको परिकल्पना ईश्वर-पथको विभूति-हरूको बोध गराउने आन्तरिक अनुभव वा रूपक मात्र हो। अन्तरिक्षमा न त कुनै यस्तो खाल्टो छ, जहाँ कीराले टोक्छन् र न यस्तो महल जसलाई स्वर्ग भनिन्छ। दैवी सम्पद्युक्त पुरुष देउता र आसुरी सम्पद्युक्त मानिस नै असुर हुन्। श्रीकृष्णको आफ्नो सम्बन्धी कंस राक्षस र बाणासुर दैत्य थिए। देव, मानव र तिर्यक् योनिहरू नै विभिन्न लोक हुन। श्रीकृष्णको अनुसार यो जीवात्मा मनसहित पाँचै इन्द्रियहरूलाई लिएर जन्म-जन्मान्तरको संस्कारहरूको अनुरूप नयाँ शरीर धारण गर्दछ।

अमर भनिने देउता पनि मरणधर्मा हुन्। '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**' योभन्दा ठूलो क्षति के हुनेछ? त्यो देव-तन नै कुन कामको, जसमा संचित पुण्य पनि समाप्त होस? देवलोक, पशुलोक, कीरा-फट्यांग्रा आदि लोक भोगलोक मात्र हुन्। मात्र मानव नै कर्मको रचयिता हो, जसको द्वारा त्यो त्यस परमधामसम्मलाई प्राप्त गर्न सक्छ, जहाँबाट पुनरावर्तन हुँदैन।

यथार्थ कर्मको आचरण गरेर मानव देवता बनोस्, ब्रह्मको स्थिति प्राप्त गरोस्, तर त्यो पुनर्जन्मबाट तबसम्म बाँच्दैन, जबसम्म मनको निरोध र विलयको साथ परमात्माको साक्षात्कार गरेर त्यही परमभावमा स्थित न भई जाओस्। उदाहरणार्थ उपनिषदले पनि यस सत्यलाई उद्घाटन गर्दछ –

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।
(कठोपनिषद्, २/३/१४)

जब हृदयमा स्थित सम्पूर्ण कामनाहरू समूल नष्ट हुन्छन्, तब मरणधर्मा मानिस अमर हुन्छ, र यहीं यसै संसारमा, यसै मानव-शरीरमा परब्रह्मलाई राम्रोसँग साक्षात् अनुभव गर्दछ।

प्रश्न उठ्छ कि के ब्रह्म पनि मरणधर्मा हो? अध्याय तीनमा त योगेश्वर श्रीकृष्णले प्रजापति ब्रह्मको प्रसंगमा भन्नुभएको थियो कि प्राप्तिपश्चात् बुद्धि मात्र यन्त्र हो। त्यसद्वारा परमात्मा नै व्यक्त हुन्छ। यस्तो महापुरुषहरूद्वारा नै यज्ञको संरचना भएको छ र यहाँ भन्नुहुन्छ कि ब्रह्मको स्थिति प्राप्त गर्ने पनि पुनरावर्ती हो? योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्न के चाहनु हुन्छ? वस्तुतः जुन महापुरुषहरूद्वारा परमात्मा नै व्यक्त हुन्छ, ती महापुरुषहरूको बुद्धि पनि ब्रह्म होइन, तर मानिसहरूलाई उपदेश दिनुको कारण, कल्याणके सूत्रपात् गर्नाले ब्रह्म कहलाउँछन्। स्वयंमा उहाँ ब्रह्म पनि हुनुहुन्न? उनीसँग आफ्नो बुद्धि रहनै पाउदैन। तर योभन्दा पूर्व साधनाकालमा बुद्धि नै ब्रह्म हो– **'अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।' (मानस, ६/१५क)**

साधारण मानिसको बुद्धि ब्रह्म होइन। बुद्धि जब इष्टमा प्रवेश गर्न लाग्दछ, तबदेखि ब्रह्मको रचना हुन लाग्छ, जसको चार सोपान मनीषीहरूले भन्नु भएका छन्। पछिको अध्याय तीनमा भन्नुभएको छ, स्मरणको लागि पुनः देख्न सकिन्छ– ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ। ब्रह्मवित् त्यो बुद्धि हो, जो ब्रह्मविद्यासँग संयुक्त छ। ब्रह्मविद्वर त्यो हो, जसलाई ब्रह्मविद्यामा श्रेष्ठता प्राप्त छ। ब्रह्मविद्वरीयान् त्यो बुद्धि हो, जसद्वारा त्यो ब्रह्मविद्यामा दक्षमात्रै

होइन कि त्यसको नियन्त्रक, संचालक बन्छ। ब्रह्मविद्वरिष्ठ बुद्धिको त्यो अन्तिम टुप्पो हो, जसद्वारा इष्ट प्रवाहित छ। यहाँसम्म बुद्धिको अस्तित्व छ, किनकि प्रवाहित हुने इष्ट अहिले कहीं फरक छ र ग्रहणकर्त्ता बुद्धि फरक छ। अहिले त्यो प्रकृतिको सीमामा छ। अब स्वयंप्रकाशस्वरूपमा जब बुद्धि (ब्रह्म) रहन्छ, जगृत रहन्छ भने सम्पूर्ण भूत (चिन्तनको प्रवाह) जागृत छ र जब अविद्यामा रहन्छ तब अचेत छ। यसैलाई प्रकाश र अन्धकार, राति र दिन भनेर सम्बोधित गरिन्छ। हेरौं–

ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मविद्वेताको त्यो श्रेणी, जसमा इष्ट प्रवाह छ, त्यसलाई प्राप्त सर्वोत्कृष्ट बुद्धिमा पनि विद्या (जो स्वयंप्रकाशस्वरूप छ, त्यसमा मिलाउँछ) को दिन र अविद्याको रात्रि, प्रकाश र अन्धकारको क्रम चलिरहन्छ, यहाँसम्म साधकमा माया सफल हुन्छ। प्रकाशकालमा अचेत भूत सचेत हुन्छन्, उनलाई लक्ष्य देखिन थाल्छ तथा बुद्धिको अन्तरालमा अविद्याको रात्रिको प्रवेशकालमा सबै भूतहरू अचेत हुन्छन्, बुद्धिले निश्चय गर्न पाउँदैन, स्वरूपतिर बढ्नु बन्द हुन्छ, यो नै ब्रह्मको दिन र यो नै ब्रह्मको रात्रि हो। दिनको प्रकाशमा बुद्धिको सहस्त्रौं प्रवृत्तिहरूको ईश्वरीय प्रकाश व्याप्त हुन्छ र अविद्याको रात्रिमा यो नै सहस्त्रौं तहहरूमा अचेतावस्थाको अन्धकार आउँछ।

शुभ र अशुभ, विद्या र अविद्या– यी दुबै प्रवृत्तिहरू पूर्ण शान्त भएपछि अर्थात् अचेत र सचते, रात्रिमा विलीन र दिनमा उत्पन्न दुबै प्रकारका भूतहरू (संकल्प प्रवाह) मेटिएर त्यस अव्यक्त बुद्धिबाट पनि धेरै पर शाश्वत अव्यक्त भाव मिल्छ, जो फेरि कहिलै नष्ट हुँदैन। भूतहरूको अचेत र सचते दुबै स्थितिहरू समाप्त भएर त्यो सनातन भाव मिल्छ।

बुद्धिको उपर्युक्त चार अवस्थाहरू पछिको पुरुष नै महापुरुष हो। त्यसको अन्तरालमा बुद्धि छैन, बुद्धि परमात्माको यन्त्रजस्तै भएको छ, तर मानिसहरूलाई त्यसले उपदेश गर्दछ, निश्चयबाट प्रेरणा दिन्छ। अतः उनीहरूमा बुद्धि प्रतीत हुन्छ; तर त्यो बुद्धिको स्तरभन्दा पर छ। त्यो परम अव्यक्त भावमा स्थित छ। त्यसको पुनर्जन्म हुँदैन, तर यस अव्यक्त स्थितिभन्दा पूर्व जबसम्म उससँग

आफ्नो बुद्धि छ, जबसम्म त्यो ब्रह्म हो, त्यो पुनर्जन्मको परिधिमा नै छ। यिनै तथ्यहरूमा प्रकाश पार्नुहुँदै योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

जसले हजार चतुर्युगहरूको ब्रह्माको रात्रि र हजार चतुर्युगहरूको उसको दिनलाई साक्षात् जान्दछन्, ती पुरुषहरू समयको तत्वलाई यथार्थ जान्दछन्।

प्रस्तुत श्लोकमा दिन र रात्रि, विद्या र अविद्याको रूपक हुन्। ब्रह्मविद्यासँग संयुक्त बुद्धि ब्रह्मको प्रवेशिका तथा ब्रह्मविद्वरिष्ठ बुद्धि ब्रह्मको पराकाष्ठा हो। विद्यासँग संयुक्त बुद्धि नै ब्रह्मको दिन हो। जब विद्या कार्यरत हुन्छ, त्यस समय योगी स्वरूपतिर अग्रसर हुन्छ, अन्तःकरणको सहस्त्रौं प्रवृत्तिहरूमा ईश्वरीय प्रकाशको संचार हुन्छ। यसैप्रकार अविद्याको रात्रि आएमा अन्तःकरणको सहस्त्रौं प्रवृत्तिहरूमा माया द्वन्द्व प्रवाहित हुन्छ। प्रकाश र अन्धकारको यहींसम्म सीमा छ। तत्पश्चात् न त अविद्या रहन्छ, न विद्या नै। त्यो परमतत्व परमात्मा विदित हुन्छ। जसले यसलाई तत्वबाट राम्रो किसिमले जान्दछ, ती योगीजन कालको तत्वलाई जान्ने हुन् कि कहिले अविद्याको रात्री हुन्छ, कहिले विद्याको दिन आउँछ, कालको प्रभाव कहाँसम्म छ अथवा समय कहाँसम्म पछिलाग्छ?

प्रारम्भिक मनीषि अन्तःकरणलाई चित्त अथवा कुनै–कुनै बेला मात्र बुद्धि भनेर सम्बोधित गर्नुहुन्थ्यो। कालान्तरमा अन्तःकरणको विभाजन मन, बुद्धि, चित्त र अहंकारको चार प्रमुख वृत्तिहरूमा गरियो, हुन त अन्तःकरणका प्रवृत्तिहरू अनन्त छन्। बुद्धिको अन्तरालमा नै अविद्याको रात्रि हुन्छ र त्यसै बुद्धिमा विद्याको दिन पनि हुन्छ। यो नै ब्रह्मको दिन र राती हुन्। जगत्रूपी रात्रिमा सबै जीव अचेत परेका छन्। प्रकृतिमा विचरण गर्दै तिनको बुद्धिले त्यस प्रकाशस्वरूपलाई हेर्न पाउँदैन, तर योगको आचरण गर्ने योगी यसबाट जाग्दछन्, उनी स्वरूपतिर बढ्दछन्, जस्तो कि गोस्वामी तुलसीदासले रामचरितमानसमा लेख्नुभएको छ–

कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग।।
(रामचरितमानस, ४/१५ ख)

विद्यासँग संयुक्त बुद्धि कुसँग पाएर अविद्यामा परिणत हुन्छ। पुनः सुसँगले विद्याको संचार त्यही बुद्धिमा हुन्छ। यो उतार-चढाव घट्ने-बढ्ने पूर्तिपर्यन्त लागी रहन्छ। पूर्तिपश्चात् न बुद्धि छ न ब्रह्म, न रात्रि रहन्छ न दिन। यो नै ब्रह्मको दिन-रात्रिका रूपक हुन्, न हजारौं वर्षको लामो रात्रि हुन्छ, न हजारौं चतुर्युगको दिन नै हुन्छ र न कतै कोही चार मुख भएको ब्रह्म नै हुन्छ। बुद्धिको उपर्युक्त चार क्रमिक अवस्थाहरू नै ब्रह्मको चार मुख र अन्तःकरणका चार प्रमुख प्रबृत्तिहरू नै उसको चतुर्युग हुन्। रात र दिन यिनै प्रबृत्तिहरूमा हुन्छन्। जो पुरुष यसको भेदलाई तत्वले जान्दछन्, ती योगीजन कालको भेदलाई जान्दछन् कि काल कहाँसम्म पछिलाग्छ र कुन पुरुष कालभन्दा पनि अतीत हुन्छन्। रात्रि र दिन, अविद्या र विद्यामा हुने कार्यलाई योगेश्वर श्रीकृष्ण स्पष्ट गर्नुहुन्छ-

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।।१८।।

ब्रह्मको दिनको प्रवेशकालमा अर्थात् विद्या (दैवी सम्पद्)को प्रवेशकालमा सम्पूर्ण प्राणी अव्यक्त बुद्धिमा जागृत हुन्छन् र रात्रिको प्रवेशकालमा त्यही अव्यक्त, अदृश्य बुद्धिमा जागृतिको सूक्ष्म तत्व अचेत हुन्छन्। ती प्राणीले अविद्याको रात्रिमा स्वरूपलाई स्पष्ट देख्न पाउँदैन, तर उनको अस्तित्व रहन्छ। जागृत हुने र अचेत हुने माध्यम यो बुद्धि हो, जो सबैमा अव्यक्त रहन्छ, दृष्टिगोचर हुदैन।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

हे पार्थ! सबै प्राणीहरू यसप्रकार जागृत भएर प्रकृतिबाट विवश भएर अविद्यारूपी रात्रि आएमा अचेत हुन्छन्। उनीहरू हेर्न पाउँदैनन् कि हाम्रो लक्ष्य

के हो? दिनको प्रवेशकालमा उनी पुनः जागृत हुन्छन्। जबसम्म बुद्धि छ, तबसम्म यसको अन्तरालमा विद्या र अविद्याको क्रम चलि नै रहन्छ। तबसम्म त्यो साधक नै हो, महापुरुष होइन।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

एउटा त ब्रह्म अर्थात् बुद्धि अव्यक्त छ, इन्द्रियहरूबाट देखिंदैन र यसभन्दा पनि पर सनातन अव्यक्त भाव हो, जो भूतहरू नष्ट भएपछि पनि नष्ट हुँदैन अर्थात् विद्यामा सचेत र अविद्यामा अचेत, दिनमा उत्पन्न र रात्रिमा विलीन भावभएकाहरू अव्यक्त ब्रह्म मेटिएपछि त्यो सनातन अव्यक्त भाव मिल्दछ, जो नष्ट हुँदैन। बुद्धिमा हुने उक्त दुबै उतार-चढाव (घट्ने-बढ्ने) जब समाप्त हुन्छ, तब सनातन अव्यक्त भाव मिल्दछ, जुन मेरो परमधाम हो। जब सनातन अव्यक्त भाव प्राप्त भइसक्यो अनि बुद्धि पनि त्यही भावमा रंगिन्छ, त्यही भावलाई धारण गर्दछ। त्यसैले त्यो बुद्धि स्वयं त समाप्त भएर जान्छ र त्यसको स्थानमा सनातन अव्यक्त भाव नै बाँकी रहन्छ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

त्यस सनातन अव्यक्त भावलाई अक्षर अर्थात् अविनाशी भनिन्छ। त्यसैलाई परमगति भनिन्छ। त्यही मेरो परमधाम हो, जसलाई प्राप्त गरेर मानिस फर्केर आउँदैन, उनको पुनर्जन्म हुँदैन। यस सनातन अव्यक्त भावको प्राप्तिको विधान बताउनु हुन्छ-

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

पार्थ! जुन परमात्माको अन्तर्गत सम्पूर्ण भूतहरू छन्, जसबाट सम्पूर्ण जगत् व्याप्त छ, सनातन अव्यक्त भाववाला त्यो परम पुरुष अनन्य भक्तिले प्राप्त हुने योग्य छ। अनन्य भक्तिको तात्पर्य हो कि परमात्मा बाहेक अरू

कसैको स्मरण नगर्दै उनीसँग जोडिनु। अनन्य भावबाट लाग्ने पुरुष पनि कहिलेसम्म पुनर्जन्मको सीमामा छन् र कहिलेसम्म पुनर्जन्मको अतिक्रमण गर्दछन् ? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

हे अर्जुन! जुन कालमा शरीर त्यागेर गएका योगीजनको पुनर्जन्म हुँदैन र जुन कालमा शरीर त्यागेर गएपछि पुनर्जन्म हुन्छ, अब म त्यस कालको वर्णन गर्दछु।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

शरीर–सम्बन्धको त्याग गर्ने बेला जसको समक्ष ज्योतिर्मय अग्नि बलिरहेको होस्, दिनको प्रकाश फैलिएको होस्, सूर्य चमकिरहेको होस्, शुक्लपक्षको चन्द्रमा बढ्दै गरेको होस्, उत्तरायणको निरभ्र र सुन्दर आकाश होस्, त्यस कालमा प्रयाण गर्ने ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्मलाई प्राप्त गर्दछन्।

अग्नि ब्रह्मतेजको प्रतीक हो। दिन विद्याको प्रकाश हो। शुक्लपक्ष निर्मलताको द्योतक हो। विवेक, वैराग्य, शम, दम, तेज र प्रज्ञा यी षडैश्वर्य नै षण्मास हुन्। ऊर्ध्वरेता स्थिति नै उत्तरायण हो। प्रकृतिबाट बिलकुल पर यस अवस्थामा जाने ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्मलाई प्राप्त हुन्छन्, तिनको पुनःजन्म हुँदैन; तर अनन्य चित्तले लागेका योगीजन यदि यस आलोकलाई प्राप्त गर्न सकेन, जसको साधना अहिले पूर्ण छैन, त्यसलाई के हुन्छ? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ–

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

जसको प्रयाणकालमा धूवाँ फैलिएको होस्, योगाग्नि होस् (अग्नि यज्ञ–प्रक्रियामा पाउने अग्निको स्वरूप हो) तर धूवाँबाट ढाकिएको होस्,

अविद्याको रात्रि होस्, अँध्यारो होस्, कृष्णपक्षको चन्द्रमा क्षीण भइरहेको होस्, कालिमाको बाहुल्य होस्, षड्विकारहरू (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद र मत्सर)सँग युक्त दक्षिणायन अर्थात् बहिर्मुखी होस् (जो परमात्माको प्रवेशबाट अहिले बाहिर छ) त्यस योगीलाई फेरि जन्म लिनुपर्दछ। तब के शरीरको साथै त्यस योगीको साधना नष्ट हुन्छ? यसमाथि योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

उपर्युक्त शुक्ल र कृष्ण दुबै प्रकारका गतिहरू संसारमा शाश्वत छन् अर्थात् साधनको कहिलै पनि विनाश हुँदैन। (शुक्ल) अवस्थामा प्रयाण गर्नेहरू पछि नआउने परमगतिलाई प्राप्त गर्छन् र दोस्रो अवस्थामा, जसमा क्षीण प्रकाश तथा अहिले कालिमा छ, यस्तो अवस्थामा गएको पछि फर्कन्छ र जन्मलिन्छ। जबसम्म पूर्ण प्रकाश मिल्दैन, तबसम्म त्यसले भजन गर्नुपर्छ। प्रश्न पूर्णभयो। अब यसको लागि साधनामा पुनः जोड (बल) दिनुहुन्छ–

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

हे पार्थ! यसप्रकार यी मार्गहरूलाई जानेर कोही पनि योगी मोहित हुँदैन। ऊ जान्दछ कि पूर्ण प्रकाश पाएमा ब्रह्मको प्राप्ति हुनेछ र क्षीण प्रकाश रहे पनि पुनर्जन्ममा साधनाको नाश हुँदैन। दुबै गतिहरू शाश्वत छन्। अतः अर्जुन! तिमी सबैकालमा योगसँग युक्त होउ अर्थात् निरन्तर साधना गर।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

यसलाई साक्षात्कारसहित जानेर (मानेर होइन) योगी वेद, यज्ञ, तप र दानको पुण्यफलहरूको निःसन्देह अतिक्रमण गर्दछ र सनातन परमपदलाई

प्राप्त गर्दछ। अविदित परमात्माको साक्षात् जानकारीको नाम वेद हो। त्यो अविदित तत्व जब विदत भई हाल्यो, तब कसलाई कसले जानुन? अतः विदित भएपछि वेदहरूसँग पनि प्रयोजन समाप्त हुन्छ, किनकि जान्नेवाला भिन्न छैन। यज्ञ अर्थात् आराधनाको नियत क्रिया आवश्यक थियो, तर जब त्यो तत्व विदित भयो तब कसको लागि भजन गर्ने मनहि इन्द्रियहरूलाई लक्ष्यको अनुरूप तताउनु तप हो। लक्ष्य प्राप्त भएपछि कसको लागि तप गर्ने? मन, वचन र कर्मले सर्वतोभावेन समर्पणको नाम दान हो। यी सबैका पुण्यफल हुन् - परमात्माको प्राप्ति। फल पनि अब विलग (अलग) छैन अतः यी सबैको आवश्यकता नै रहनेन्। त्यो योगी यज्ञ, तप, दान इत्यादिको फललाई नाघेर जान्छ। त्यो परमपदलाई प्राप्त हुन्छ।

निष्कर्ष–

यस अध्यायमा पाँच प्रमुख बिन्दुहरूमा विचार गरिएका छन्, जसमा सर्वप्रथम अध्याय सातको अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्णद्वारा बीजारोपित प्रश्नहरूलाई स्पष्ट बुझाउने जिज्ञासाले यस अध्यायको आरम्भमा अर्जुनले सात प्रश्न गरे कि– भगवन्! जसलाई तपाईले भन्नुभयो, त्यो ब्रह्म के हो? त्यो अध्यात्म के हो? त्यो सम्पूर्ण कर्म के हो? अधिदैव, अधिभूत र अधियज्ञ के हो? र अन्त्यकालमा तपाई कसरी जानिनु हुन्छ कि कहिलै पनि विस्मृत हुनुहुन्न? योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि जसको विनाश हुँदैन, त्यो नै परब्रह्म हो। स्वयंको उपलब्धि परमभाव नै अध्यात्म हो। जसबाट जीव मायाको आधिपत्यबाट निस्केर आत्माको आधिपत्यमा हुन्छ, त्यही अध्यात्म हो र भूतहरूको ती भाव, जो शुभ अथवा अशुभ संस्कारलाई उत्पन्न गर्दछन्, ती भावहरूको रोकिनु, 'विसर्गः'– समाप्त हुनु नै कर्मको सम्पूर्णता हो। यसको अगाडि कर्म गर्ने आवश्यकता रहँदैन। कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो, जो संस्कारहरूको उद्‌गमलाई नै समाप्त गरिदिन्छ।

यसैप्रकार क्षरभाव अधिभूत छन् अर्थात् नष्ट हुनेहरू नै भूतलाई उत्पन्न गर्ने माध्यम हो। उनी नै भूतहरूको अधिष्ठाता हुन्। परमपुरुष नै अधिदैव हो।

त्यसमा दैवी सम्पद् विलीन हुनजान्छ। यस शरीरमा अधियज्ञ म हुँ अर्थात् जसमा यज्ञ विलय हुन्छन् त्यो म हुँ, यज्ञको अधिष्ठाता हुँ। त्यो मेरै स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ, अर्थात् श्रीकृष्ण एउटा योगी हुनुहुन्थ्यो। अधियज्ञ कुनै यस्तो पुरुष हो जो यस शरीरमा रहन्छ, बाहिर होइन। अन्तिम प्रश्न थियो कि, अन्त्य समयमा तपाई कसरी जानकारीमा आउनु हुन्छ। वहाँले भन्नुभयो कि जो मेरो निरन्तर स्मरण गर्दछन्, मबाहेक कुनै अर्को विषयवस्तुलाई चिन्तन आउन दिंदैनन् र यस्तै गर्दै शरीरलाई त्यागीदिन्छन् त्यसले मेरो साक्षात् स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ, जसलाई अन्त्यमा पनि त्यही प्राप्त रहन्छ। शरीरको मृत्युपछि यो उपलब्धि हुन्छ यस्तो कुरा होइन। मरेपछि नै मिल्नेभए श्रीकृष्ण पूर्ण हुने थिएनन्, अनेकौं जन्ममा हिडेर पाउने ज्ञानी त्यसको स्वरूप हुँदैन्थ्यो। मनको सर्वथा निरोध र निरुद्ध मनको पनि विलय नै अन्त्यकाल हो, जहाँ फेरि शरीरको उत्पत्तिको माध्यम शान्त हुन्छ। त्यस समय त्यो परमभावमा प्रवेश पाउँछ। त्यसको पुनर्जन्म हुँदैन।

यस प्राप्तिको लागि वहाँले स्मरणको विधान बताउनुभयो– अर्जुन! निरन्तर मेरो स्मरण गर र युद्ध गर। दुबै एकसाथ कसरी हुन्छ? कदाचित् यस्तो होस् कि 'जय गोपाल, हे कृष्ण' भन्दै रहनुस्, लठी पनि चलाउँदै रहनुस्। स्मरणको स्वरूप स्पष्ट गर्नुभयो कि योग–धारणामा स्थिर रहँदै, मबाहेक अरू कुनै पनि वस्तुको स्मरण नगरेर निरन्तर मेरै स्मरण गर। जब स्मरण यति सूक्ष्म छ, भने युद्ध कसले गर्नेछ? मानौं कि यो पुस्तक भगवान् हो, तब यसको वरिपरिको वस्तु, नजिक बसेको मान्छे वा अरू कुनै देखिएको–सुनिएको वस्तु संकल्पमा पनि नआओस्, नदेखिओस्, यदि देखिन्छ भने स्मरण छैन, यस्तो स्मरणमा युद्ध कस्तो? वस्तुतः जब तपाई यसप्रकार निरन्तर स्मरणमा प्रवृत्त हुनु हुनेछ, त्यही समय युद्धको सही स्वरूप खडा हुन्छ। त्यस समय मायिक प्रवृत्ति बाधाको रूपमा प्रत्यक्ष उभिएको हुन्छ। काम, क्रोध, राग, द्वेष दुर्जय शत्रु हुन्। यी शत्रु स्मरण गर्न दिंदैनन्। यीबाट पार पाउनु युद्ध हो। यी शत्रुहरूलाई समाप्त गरेपछि नै व्यक्तिले परमगतिलाई प्राप्त गर्दछ।

यस परमगतिलाई पाउनको निम्ति अर्जुन! तिमी जप त 'ओम्'को र

ध्यान मेरो गर अर्थात् श्रीकृष्ण एउटा योगी हुनुहुन्थ्यो। नाम र रूप आराधनाको साँचो हो।

योगेश्वर श्रीकृष्णले यस प्रश्नलाई पनि लिनुभयो कि पुनर्जन्म के हो? यसमा को-को आउँछन्? वहाँले भन्नुभयो कि ब्रह्मदेखि लिएर सम्पूर्ण संसार पनरावर्ती हुन् र यी सबै समाप्त भएर गए पनि मेरो परम अव्यक्त भाव तथा त्यसमा स्थिति समाप्त हुँदैन।

यस योगमा प्रविष्ट पुरुषका दुई गतिहरू छन्। जो पूर्ण प्रकाशलाई प्राप्त षडैश्वर्यसम्पन्न ऊर्ध्वरेता छ, जसमा अलिकति पनि कमी छैन, त्यो परमगतिलाई प्राप्त हुन्छ। यदि त्यो योगकर्तामा अलिकति पनि कमी छ, कृष्णपक्ष जस्तो कालिमाको संचार छ, यस्तो अवस्थामा नै शरीरको समय समाप्त हुने योगीले जन्मलिनु पर्दछ। त्यो सामान्य जीवजस्तो जन्म-मरणको चक्रमा अल्झिदैन बरू जन्म लिएर त्यसमा अगाडिको साधनालाई पूरा गर्दछ। यसप्रकार अगाडिको जन्ममा त्यही क्रियाबाट हिडेर पनि त्यहीं पुग्दछ, जसको नाम परमधाम हो। पहिले पनि श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि यसको थोरै साधनाले पनि जन्म-मरणको महान् भयबाट उद्धार गरेरै छोड्दछ। दुबै बाटो शाश्वत् हुन्, अमिट छन्- यो कुरालाई बुझेर कोही पनि पुरुष योगबाट चलायमान हुँदैन। अर्जुन! तिमी योगी बन। योगी वेद, तप, यज्ञ र दानको पनि पुण्यफललाई उल्लंघन गरेर परमगतिलाई प्राप्त गर्दछ।

यस अध्यायमा ठाउँ-ठाउँमा परमगतिको चित्रण गरिएको छ। जसलाई अव्यक्त, अक्षय र अक्षर भनेर सम्बोधित गरिएको छ, जसको कहिले पनि क्षय अथवा विनाश हुँदैन। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

यस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको सम्वादमा 'अक्षर ब्रह्मयोग' नामक आठौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'अक्षर ब्रह्मयोग' नामक आठौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।।अथ नवमोऽध्यायः।।

नवौं अध्याय

अध्याय छःसम्म योगेश्वर श्रीकृष्णले योगको क्रमबद्ध विश्लेषण गर्नुभयो। जसको शुद्ध अर्थ थियो, यज्ञको प्रक्रिया। यज्ञ त्यस परममा प्रवेश दिलाउने आराधनाको विधि-विशेषको चित्रण छ, जसमा चराचर जगत् हवन-सामग्रीको रूपमा छ। मनको निरोध र निरुद्ध मनको पनि विलयकालमा त्यो अमृत तत्व विदित हुन्छ। पूर्तिकालमा यज्ञ जसको सृष्टि गर्दछ, त्यसको पान गर्ने ज्ञानी हो र त्यो सनातन ब्रह्ममा प्रवेश पाउँछ। त्यस मिलनको नाम नै योग हो। त्यस यज्ञलाई कार्यरूप दिनु कर्म कहलाउँछ। सातौं अध्यायमा वहाँले बताउनुभयो कि यस कर्मलाई गर्ने व्याप्त ब्रह्म, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, सम्पूर्ण अधिदैव, अधिभूत र अधियज्ञसहित मलाई जान्दछन्। आठौं अध्यायमा वहाँले भन्नुभयो कि यही परमगति हो, यही परमधाम हो।

प्रस्तुत अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले स्वयं चर्चा गर्नुभयो कि योगयुक्त पुरुषको ऐश्वर्य कस्तो छ? सबैमा व्याप्त रहे पनि त्यो कसरी निर्लेप छ? गर्दा-गर्दै पनि त्यो कसरी अकर्त्ता हो? त्यस पुरुषको स्वभाव एवं प्रभावमाथि प्रकाश पार्नुभयो, योगलाई आचरणमा ढालेपछि आउने देवतादिक विघ्नहरूबाट सावधान गर्नुभयो र त्यस पुरुषको शरणमा जान जोड (बल) दिनुभयो।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो- अर्जुन! असूया (डाह, ईर्ष्या)रहित तिम्रो लागि म यस परम गोपनीय ज्ञानलाई विज्ञानसहित भन्नेछु अर्थात् प्राप्तिको पश्चात् महापुरुषको कार्यप्रणालीसँगै भन्नेछु कि कसरी त्यो महापुरुष सर्वत्र

एकसाथ कर्म गर्दछ, कसरी त्यो जागृति प्रदान गर्दछ, रथी बनेर आत्मासित कसरी सधैं रहन्छ? '**यज्ज्ञात्वा**'- जसलाई साक्षात् जानेर तिमी दुःखी रूपी संसारबाट मुक्त हुनेछौ। त्यो ज्ञान कस्तो छ? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ-

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

विज्ञानसँग संयुक्त यो ज्ञान सबै विद्याहरूको राजा हो। विद्याको अर्थ भाषा-ज्ञान अथवा शिक्षा होइन। '**विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदाया।**', '**सा विद्या या विमुक्तये।**' विद्या त्यसलाई भनिन्छ जसको नजिक आउँछ, त्यसलाई उठाएर ब्रह्म-पथमा चलाउँदै मोक्ष प्रदान गरीदिन्छ। यदि बाटोमा ऋद्धिहरू-सिद्धिहरू अथवा प्रकृतिमा कतै अल्झियो भने सिद्ध छ कि अविद्या सफल भयो। त्यो विद्या होइन। यो राजविद्या यस्तो छ, जसले निश्चित कल्याण गर्दछ यी सबै गोपनीयहरूका राजा हुन्। अविद्या र विद्याको अवगुण्ठनको अनावरण भएपछि योगयुक्तता पश्चात् नै यससँग मिलन हुन्छ। यो अति पवित्र, उत्तम र प्रत्यक्ष फलवाला हो। 'यता गर, उता लेउ'- यस्तो प्रत्यक्ष फल हो। यो अन्धविश्वास होइन कि यस जन्ममा साधन गर, फल कहिलै अर्को जन्ममा मिल्नेछ। यो परमधर्म परमात्मामा संयुक्त छ। विज्ञानसहित यो ज्ञान गर्नमा सजिलो र अविनाशी छ।

अध्याय दुइमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो- अर्जुन! यस योगमा बीउको नाश हुँदैन। यसको थोरै साधनाले पनि जन्म-मरणको महान् भयबाट उद्धार गरिदिन्छ। छैठौं अध्यायमा अर्जुनले सोधेको थियो कि- भगवन्! शिथिल प्रयत्न गर्ने साधना नष्ट-भ्रष्ट त हुँदैन। श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि अर्जुन! पहिले त कर्मलाई सम्झनु आवश्यक छ र सम्झेपछि अलिकति पनि साधना पार लाग्यो भने त्यसको कुनै जन्ममा, कहिलै पनि विनाश हुँदैन; बरू त्यस थोरै योगाभ्यासको प्रभावले प्रत्येक जन्ममा त्यही गर्दछ। अनेक जन्मको परिणाममा त्यहीं पुग्दछ, जसको नाम परमगति अर्थात् परमात्मा हो। त्यसैलाई योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ पनि भन्नुभयो कि- यो साधना गर्नमा निकै सुगम र अविनाशी छ, तर यसको लागि श्रद्धा नितान्त आवश्यक छ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

परंतप अर्जुन! यस धर्ममा (जसलाई थोरै साधन गरे पनि त्यसको विनाश हुँदैन) श्रद्धारहित पुरुष (एक इष्टमा मनलाई केन्द्रित नराख्नसक्ने पुरुष) मलाई प्राप्त नगरेर संसार-क्षेत्रमा भ्रमण गरिनै रहन्छ। अतः श्रद्धा अनिवार्य छ। के तपाई संसारबाट पर हुनुहुन्छ? यसमा भन्नुहुन्छ-

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

मेरो अव्यक्त स्वरूपबाट यो सबै संसार व्याप्त छ, अर्थात् म जुन स्वरूपमा स्थित छु त्यो सर्वत्र व्याप्त छ। सबै प्राणीहरूले ममा नै स्थान पाएका छन्; तर म उनीहरूमा स्थित छैन; किनकि म अव्यक्त स्वरूपमा स्थित छु। महापुरुष जुन अव्यक्त स्वरूपमा स्थित छन्, त्यहींबाट (शरीर छोडेर त्यसै अव्यक्त स्तरबाट) कुरा गर्नुहुन्छ। यसै क्रममा अगाडि भन्नुहुन्छ-

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

वस्तुतः सबै भूत पनि ममा स्थित छैनन्; किनकि उनीहरू मरणधर्मा हुन्, प्रकृतिका आश्रित हुन; तर मेरो योग-मायाको ऐश्वर्यलाई हेर कि जीवधारीहरूलाई उत्पन्न र पोषण गर्ने मेरो आत्मा भूतहरूमा स्थित छैन। म आत्मस्वरूप हुँ, यसैले म ती भूतहरूमा स्थित छैन। यो नै योगको प्रभाव हो। यसलाई स्पष्ट पार्न योगेश्वर श्रीकृष्ण दृष्टान्त दिनुहुन्छ-

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

जस्तै आकाशबाट उत्पन्न हुने महान् वायु आकाशमा सधैं स्थित हुन्छ, तर त्यसलाई मलिन गर्न पाउँदैन- ठीक त्यस्तै सम्पूर्ण भूत ममा स्थित छ यस्तो जान। ठीक यसैप्रकार म आकाशसरी निर्लेप छु। उसले मलाई मलिन गर्न पाउँदैनन्। प्रश्न पूराभयो, यही नै योगको प्रभाव हो। अब योगी के गर्दछ? यसमा भन्नुहुन्छ-

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

अर्जुन! कल्पको विलयकालमा सबैभूत मेरो प्रकृति अर्थात् मेरो स्वभालाई प्राप्त हुन्छन् र कल्पको आदिमा म उनीहरूलाई पटक-पटक **'विसृजामि'** - विशेषरूपले सृजन गर्दछु। तिनीहरू पहिले देखि थिए तर विकृत थिए, उनलाई नै रच्दछु, सजाउँछु। जो अचेत छन् तिनलाई जागृत गर्दछु, कल्पको लागि प्रेरित गर्दछु। कल्पको तात्पर्य हो उत्थानोन्मुख परिवर्तन। आसुरी सम्पद्बाट निस्केर जसरी-जसरी पुरुष दैवी सम्पद्मा प्रवेश पाउँछ, त्यहींबाट कल्पको आरम्भ हुन्छ र जब ईश्वरभावलाई प्राप्त हुन्छ, त्यही कल्पको क्षय हुन्छ। आफ्नो कर्म पूरा गरेर कल्प पनि विलय हुनछन्? भजनको आरम्भ कल्पको आदि हो र भजनको पराकाष्ठा, जहाँ लक्ष्य विदित हुन्छ, कल्पको अन्त्य हुन्छ। जब यो क्षर आत्मा योनिहरूको कारणभूत राग-द्वेष आदिबाट मुक्ति पाएर आफ्नो शाश्वत स्वरूप स्थिर हुन्छ, यसैलाई श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि त्यो मेरो प्रकृतिलाई प्राप्त हुन्छ।

जो महापुरुष प्रकृतिको विलय गरेर स्वरूपमा प्रवेश पाइसक्यो, त्यसको प्रकृति कस्तो? के त्यसमा प्रकृति बाँकी नै छ? होइन, अध्याय ३/३३मा योगेश्वर श्रीकृष्णले भनिसक्नुभयो कि सबै प्राणी आफ्नो प्रकृतिलाई प्राप्त गर्दछन्। जस्तो उसमा प्रकृतिको गुणको दबाव (प्रभाव) छ, त्यस्तै गर्दछ र 'ज्ञानवानपि'- प्रत्यक्ष दर्शनको साथ जानकार ज्ञानी पनि आफ्नो प्रकृतिको सदृश चेष्टा गर्दछ। ऊ पछिका पीढिहरूका कल्याण्को लागि गर्दछ। पूर्णज्ञानी तत्वस्थित महापुरुषको स्वभाव नै त्यसको प्रकृति हो। त्यो आफ्नो यसै स्वभावमा रहन्छ। कल्पको क्षयमा मानिसहरू महापुरुषको यसै स्वभावलाई प्राप्त हुन्छन्। महापुरुषको यसै कृतित्वमा पुनः प्रकाश पार्नुहुन्छ-

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

आफ्नो प्रकृति अर्थात् महापुरुषको कृत्य (रहनी) स्वीकार गरेर **'प्रकृतेर्वशात्'**- आ-आफ्नो स्वभावमा स्थित प्रकृतिको गुणबाट परवश

भएका यी सम्पूर्ण भूतसमुदायलाई म पटक-पटक '**विसृजामि**'- विशेष सृजन, विशेषरूपले सजाउँछु, यिनलाई आफ्नै स्वरूपतिर बढाउनको लागि प्रेरित गर्दछु। तब त तपाई यस कर्ममा बाँधिनु भएको छ?-

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अध्याय ४/९ मा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि महापुरुषको कार्यप्रणाली अलौकिक हुन्छ। अध्याय ९/४ मा भने- म अव्यक्तरूपमा गर्दछु। यहाँ पनि त्यही भन्नुहुन्छ- धनंजय! जुन कर्महरू म अदृश्य रूपले गर्दछु, त्यसमा मेरो आसक्ति छैन। उदास स्थितिमा रहने म परमात्म स्वरूपलाई ती कर्मले बाँध्न सक्दैनन, किनकि कर्मको परिणाममा जुन लक्ष्य पाइन्छ त्यसमा म स्थित छु, यसैले तिनलाई गर्न म विवश छैन।

यो त स्वभावको साथ जोडिएको प्रकृतिको कार्यहरूको प्रश्न थियो, महापुरुषको रहनी (कर्म) थियो, उनको रचना थियो। अब मेरो अध्यासबाट जो माया रच्दछ, त्यो के हो? त्यो पनि एउटा कल्प हो-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

अर्जुन! मेरो अध्यक्षतामा अर्थात् मेरो उपस्थितिमा सर्वत्र व्याप्त मेरो अध्यासबाट यो माया (त्रिगुणमयी प्रकृति, अष्टधा मूल प्रकृति र चेतन दुबै) चराचरसहित संसारलाई रच्दछ, जो क्षुद्र कल्प हो र यसै कारणले यो संसार आवागमनको चक्रमा घुमिरहन्छ। प्रकृतिको यो क्षुद्र कल्प, जसमा कालको परिवर्तन छ, मेरो अध्यासबाट प्रकृतिले नै गर्छ, म गर्दिन; तर सातौं श्लोकको कल्प, आराधनाको संचार एवं पूर्तिपर्यन्त मार्गदर्शनगर्ने कल्प महापुरुषले स्वयं गर्छन्। एक स्थानमा उहाँ स्वयं कर्ता हुन, जहाँ वहाँले विशेष रूपले सृजन गर्छन। यहाँ कर्त्ता प्रकृति हो, जो मात्र मेरो अध्यासबाट यो क्षणिक परिवर्तन गर्दछ, जसमा शरीरको परिवर्तन, काल-परिवर्तन, युग-परिवर्तन इत्यादि आउँछन्। यस्तो व्याप्तप्रभाव भए पनि मूढ मानिसहरू मलाई जान्दैनन्। यथा-

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

सम्पूर्ण भूतहरूको महान् ईश्वररूप मेरो परमभावलाई नजान्ने मूढ मानिसहरू मलाई मानव-शरीरको आधारभएको तुच्छ सम्झन्छ। सम्पूर्ण प्राणीहरूको ईश्वरको पनि जो महान् ईश्वर हो, त्यस परमभावमा म स्थित छु, तर छु मानव-शरीरधारी, मूढ मानिसहरू यसलाई जान्दैनन्। तिनीहरू मानिस भनेर सम्बोधित गर्दछन्। तिनीहरूको दोष पनि के छ र? जब उनी दृष्टिपात् गर्दछन्, तब महापुरुषको शरीर नै देखिन्छ। कसरी तिनीहरू बुझुन् कि तपाई महान् ईश्वर-भावमा स्थित हुनुहुन्छ? तिनीहरू किन देख्न पाउदैन्? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ-

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

त्यो वृथा आशा (जो कहिले पूर्ण हुदैन यस्तो आशा), वृथा कर्म (बन्धनकारी कर्म), वृथा ज्ञान (जो वस्तुतः अज्ञान हो), '**विचेतसः**'- विशेषरूपले अचेत भएका, राक्षसहरू र असुरहरू जस्तो मोहित हुने स्वभाव धारण गरेका हुन्छन् अर्थात् आसुरी स्वभावका हुन्छन्, यसैले मानिस सम्झन्छन्। असुर र राक्षस मनको एउटा स्वभाव हो, यो कुने जाति वा योनि होइन। आसुरी स्वभावभएकाले मलाई जान्न सक्दैन, तर महात्माहरू मलाई जान्दछन् र भज्दछन्।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

परन्तु हे पार्थ! तर दैवी प्रकृति अर्थात् दैवी सम्पाद्मा आश्रित भएका महात्माजन मलाई सबै भूतहरूको आदिकारण, अव्यक्त र अक्षर जानेर अनन्य मनले अर्थात् मनको अन्तरालमा अरूलाई स्थान नदिएर ममा श्रद्धा राखेर निरन्तर मलाई भज्दछन्। कुन प्रकारले भज्दछन्? यसमा भन्नुहुन्छ-

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

उनीहरू निरन्तर चिन्तनको व्रतमा अचल रहँदै मेरो गुणहरूको चिन्तन गर्दछन्, प्राप्तिको यत्न गर्दछन् र मलाई बारम्बार नमस्कार गर्दै सधैं मसँग मिलेर अनन्य भक्तिले मेरो उपासना गर्छन्। अविरल लागी नै रहन्छ। कुन उपासना गर्छन्? कस्तो छ यो कीर्तिमन्? कुनै अर्को उपासना होइन बरू त्यही 'यज्ञ' जसलई विस्तारपूर्वक बताई सक्नुभएको छ। त्यसै आराधनालाई यहाँ संक्षेपमा योगेश्वर श्रीकृष्णले दोहोऱ्याउनु हुन्छ–

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

तीमध्ये कोही त मजस्तो सर्वव्याप्त विराट् परमात्मालाई ज्ञान–यज्ञद्वारा यजन गर्दछन् अर्थात् आफ्नो लाभ–हानि र शक्तिलाई सम्झेर त्यही नियत कर्म यज्ञमा प्रवृत्त हुन्छन्। कोही एकत्वभावले मेरो उपासना गर्दछन् कि मलाई यसैमा एक हुनु छ र अर्को सबै थोक मबाट अलग राखेर, मलाई समर्पण गरेर निष्काम सेवाभावले उपासना गर्दछन् र धेरै प्रकारले उपासना गर्दछन्; किनकि एउटै यज्ञका यी सबै ऊँच–नीच स्तर हुन्। यज्ञको आरम्भ सेवाबाट नै हुन्छ; तर त्यसको अनुष्ठान हुन्छ कसरी? योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– यज्ञ म गर्दछु। यदि महापुरुष रथी नहुने भने यज्ञ पार लाग्ने छैन। वहाँकै निर्देशनमा साधक सम्झन सक्छन् कि अब त्यो कुन स्तरमा छ, कहाँसम्म पुगेको छ? वस्तुतः यज्ञकर्त्ता को हो? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

कर्त्ता म हुँ। वस्तुतः कर्त्ताको पछाडि प्रेरकको रूपमा सधैं संचालित गर्ने इष्ट नै हुन। कर्त्ताद्वारा जो पार लाग्दछ, मेरो देन हो। यज्ञ म हुँ। यज्ञ आराधनाको विधि–विशेष हो। पूर्तिकालमा यज्ञले जसको सृजन गर्दछ, त्यस अमृतको पान गर्ने पुरुष सनातन ब्रह्ममा प्रवेश पाउँछ। स्वधा म हुँ अर्थात् अतीतका अनन्त संस्कारहरूको विलय गर्नु, तिनलाई तृप्त गरिदिनु मेरो देन हो। भवरोगलाई निर्को पार्ने औषधि म हुँ। मलाई पाएर मानिसहरू यस रोगबाट निवृत्त हुन्छन्। मन्त्र म हुँ। मनलाई श्वासको अन्तरालमा निरोध गर्नु मेरो काम

हो। यस निरोध-क्रियामा तीव्रता ल्याउने वस्तु 'आज्य' (हवि) पनि म हुँ। मेरै प्रकाशमा मनका सबै प्रवृत्तिहरू विलीन हुन्छन्। हवन अर्थात् समर्पण पनि म नै हुँ।

यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण पटक-पटक 'म हुँ' भन्दै हुनुहुन्छ। यसको आशय मात्र यति हो कि म नै प्रेरकको रूपमा आत्माबाट अभिन्न भएर खडा हुन्छु तथा निरन्तर निर्णय दिंदै योग-क्रियालाई पूर्ण गराउँछु। यसैको नाम विज्ञान हो। 'पुज्य महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो कि- जबसम्म इष्टदेव रथी भएर श्वास-प्रश्वासमा रोकथाम गर्दैनन् तबसम्म भजन आरम्भ हुँदैन। कोही लाखौं आँखा चिम्लोस्, भजन गरोस्, शरीरलाई तताओस्, तर जबसम्म जुन परमात्माको हामीलाई चाहना छ त्यो, जुन सतहमा हामी उभिएका छौं, त्यस स्तरमा ओर्लेर, आत्मासँग अभिन्न भएर जागृत हुदैन, तबसम्म सही मात्रामा भजनको स्वरूप बुझ्न सकिंदैन। यसैले 'महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो- 'मेरै स्वरूपलाई समात, म सबै थोक दिनेछु। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- सबै मबाट हुन्छ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

अर्जुन! म नै सम्पूर्ण जगत्को '**धाता**' अर्थात् धारण गर्ने, '**पिता**' अर्थात् पालन गर्ने, '**माता**' अर्थात् उत्पन्न गर्ने, '**पितामहः**' अर्थात् मूल उद्गम हुँ, जसमा सबै प्रवेश पाउँछन् र जान्ने योग्य पवित्र ओंकार अर्थात् '**अहं आकारः इति ओंकारः**' त्यो परमात्मा मेरो स्वरूपमा छ। 'सोऽहं, तत्वमसि' इत्यादि एक अर्काको पर्याय हुन्, यस्तो जान्नेयोग्य स्वरूप म नै हुँ। '**ऋक**' अर्थात् सम्पूर्ण प्रार्थना, '**सम**' अर्थात् समत्व दिलाउने प्रक्रिया, '**यजुः**' अर्थात् यजनको विधि-विशेष पनि म नै हुँ। योग-अनुष्ठानको उक्त तीनवटै आवश्यक अंग मबाट हुन्छन्।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

हे अर्जुन! '**गतिः**' अर्थात् प्राप्त हुने योग्य परमगति, '**भर्ता**'- भरण-पोषण गर्ने सबैको स्वामी, '**साक्षी**' अर्थात् द्रष्टा-रूपमा स्थित सबैलाई जान्ने,

सबैको वास्थान शरणलिने योग्य, अकारण प्रेमी मित्र, उत्पत्ति र प्रलय अर्थात् शुभाशुभ संस्कारहरूको विलय तथा अविनाशी कारण म नै हुँ। अर्थात् अन्त्यमा जसमा प्रवेश मिल्छ, ती सबै विभूतिहरू म नै हुँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

म सूर्यरूपबाट तात्छु, वर्षालाई आकर्षित गर्दछु। त्यसलाई वर्साउछु। मृत्युदेखि पर अमृततत्व तथा मृत्यु, सत् र असत् सबै थोक म नै हुँ। अर्थात् जो परम प्रकाश प्रदान गर्दछ, त्यो सूर्य म नै हुँ। कहिले-काँहि भज्नेहरूले मलाई असत् मान्दछन्, उनीहरू मृत्युलाई प्राप्त हुन्छन्। यसप्रकार भन्नुहुन्छ-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

आराधना-विद्याका तीनवटै अंग- ऋक, साम र यजु अर्थात् प्रार्थना, समत्वको प्रक्रिया र यजनको आचरण गर्नेहरू, सोम अर्थात् चन्द्रमाको क्षीण प्रकाशलाई पाउनेहरू, पापबाट मुक्त भएर पवित्र भएका पुरुष त्यही यज्ञको निर्धारित प्रक्रियाद्वारा मलाई इष्टरूपमा पूजेर स्वर्गको लागि प्रार्थना गर्दछन्। यही असत्को कामना हो, यसैले उनीहरू मृत्युलाई प्राप्त हुन्छन्। उनको पुनर्जन्म हुन्छ, जस्तै पछिल्लो श्लोकमा योगेश्वरले बताउनुभयो। उनीहरू पूज्दछन्, त्यही निर्धारित विधिबाट पूज्दछन्, तर यसको साटोमा स्वर्गको याचना गर्छन्। ती पुरुष आफ्नै पुण्यको फलस्वरूप इन्द्रलोक प्राप्त गरेर स्वर्गमा देवताहरूको दिव्यभोग भोग्दछन्; अर्थात् यो भोग पनि म नै दिन्छु।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

उनीहरू त्यस विशाल स्वर्गलाई भोगेर पुण्य क्षीण भएपछि मृत्युलोक अर्थात् जन्म-मृत्युलाई प्राप्त गर्दछन्। यसप्रकार '**त्रयीधर्मम्**'- प्रार्थना, समत्व एवं यजनको तीनवटै विधिहरूबाट एउटै यज्ञको अनुष्ठान गर्ने, मेरै शरण लिए पनि कामनाभएका पुरुष पटक-पटक आउने-जाने अर्थात् पुनर्जन्मलाई प्राप्त गर्दछन्। तर त्यसको मूल नाश कहिलै हुँदैन किनकि यस पथमा बीउको नाश हुँदैन; तर जसले कुनै प्रकारको कामना गर्दैनन् त्यसलाई के मिल्छ?-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

'अनन्य भाव'ले ममा स्थित भक्तजन म परमात्मस्वरूपको निरन्तर चिन्तन गर्दछन्, '**पर्युपासते**' अलिकति पनि त्रुटि नराखेर मेरो उपासना गर्दछन्, ती नित्य एकीभावले संयुक्त भएको पुरुषहरूको योगक्षेम म स्वयं वहन गर्दछु, उनको योगको सुरक्षाको सबै जिम्मेवारी म आफ्नो हातमा लिन्छु। यति भए पनि मानिसहरू अरू देवताहरूलाई भज्दछन्-

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

कौन्तेय! श्रद्धाले युक्तभएर जो भक्त अरू-अरू देवताहरूलाई पुज्दछन्, उनीले मलाई नै पुज्दछ; किनकि त्यहाँ देवता नामको कुनै वस्तु नै हुँदैन; तर उनको त्यो पूजन अविधिपूर्वक हो, मेरो प्राप्तिको विधिबाटरहित छ।

यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्णले दोस्रो पल्ट देवताहरूको प्रकरणलाई लिनु भएको हो। सर्वप्रथम अध्याय सातको बीसौंदेखि तेइसौं श्लोकसम वहाँले भन्नुभयो, अर्जुन! कामनाहरूद्वारा जसको ज्ञान अपहरण गरिएको छ, त्यस्ता मूढबुद्धि पुरुष अरू देवताहरूको पूजा गर्दछन् र जहाँ पूजा गर्छन्, त्यहाँ देवता नामको सक्षम सत्ता त छँदै छैन। तर पीपल-ढुङ्गा-भूत-भवानी अथवा अन्यत्र जहाँ उनको श्रद्धा झुक्दछ (न्यूरन्छ), त्यहाँ कुनै देवता छैन। म नै सर्वत्र छु, त्यस स्थानमा म नै खडा भएर उनीहरूको देवश्रद्धालाई ती स्थानहरूमा स्थिर गर्दछु। म नै फलको विधान गर्दछु, फल दिन्छु। फल निश्चित मिल्छन्; तर तिनको फल नाशवान् छ। आज छ भने भोली भोग्नमा आउने, नष्ट हुन

जानेछ, जबकि मेरो भक्त नष्ट हुँदैन। अतः ती मूढबुद्धि, जसको ज्ञानको अपहरण भएको छ, उनीहरू नै अरू देवताहरूको पूजा गर्छन्।

प्रस्तुत अध्याय नौको तेइसौंदेखि पचीसौं श्लोकसम्म योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः दोहोऱ्याउनु हुन्छ कि, अर्जुन! जो श्रद्धाले अरू-अरू देवताहरूलाई पुज्दछन्, उनीहरूले मलाई नै पुज्दनछन्; तर अविधिपूर्वक छ। त्यहाँ देवता नामको सक्षम वस्तु नै छैन, उनीहरूको प्राप्तिको विधि गलत छ। अब प्रश्न उठ्छ कि जब उनीहरू पनि प्रकारान्तरले तपाईलाई नै पुज्दछन् र फल पनि मिल्दछ नै, भने दोष के छ?

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

सम्पूर्ण यज्ञहरूको भोक्ता अर्थात् यज्ञ जसमा विलय हुन्छन्, यज्ञको परिणाममा जो मिल्छन्, त्यो म हुँ र स्वामी पनि म नै हुँ, तर ती मलाई तत्वबाट राम्रो ढंगले जान्दैनन्, यसैले '**च्यवन्ति**'- झर्छन्। अर्थात् उनीहरू कहिले अरू देवताहरूमा झर्छन र तत्वले जबसम्म जान्दैनन् तबसम्म कामनाहरूबाट पनि झर्छन्। उनीहरूको गति के हुन्छ?-

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

अर्जुन! देवताहरूलाई पुज्नेले देवताहरूलाई प्राप्त गर्दछन्। देवताहरू परिवर्तित सत्ता हुन्, उनीहरू आफ्नो सद्कर्मानुसार जीवन व्यतीत गर्दछन्। पितृहरूलाई पुज्नेले पितृहरूलाई प्राप्त गर्दछन् अर्थात् अतीतमा अल्झिएका हुन्छन्, भूतहरूलाई पुज्नेवाला भूत नै हुन्छन् अर्थात् शरीर धारण गर्दछन् र मेरो भक्त मलाई प्राप्त गर्दछन्। उनीहरू मेरो साक्षात् स्वरूप हुन्छन्। त्यसको पतन हुँदैन। यति मात्र होइन, मेरो पूजाको विधान पनि सजिलो छ-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

भक्तिको आरम्भ यहींबाट हुन्छ कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो

कोहीले मलाई भक्तिपूर्वक अर्पित गर्दछन्, मनले प्रयत्न गर्ने त्यस भक्तको त्यो सबै म खान्छु अर्थात् स्वीकार गर्छु। यसैले-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

अर्जुन! तिमी जो कर्म (यथार्थ कर्म) गर्दछौ, जो खान्छौ, जो हवन गर्दछौ, समर्पण गर्दछौ, दान दिन्छौ, मनसहित इन्द्रियहरूलाई जो मेरो अनुरूप तताउँछौ, त्यो सबै मलाई अर्पण गर अर्थात् मेरो प्रति समर्पित भएर यी सबै गर। समर्पण गरेमा योगको क्षेमको जिम्मेवारी म लिनेछु।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

यसप्रकार सर्वस्वको न्यास संन्यास योगले युक्त भएको तिमी शुभाशुभ फलदाता कर्महरूको बन्धनबाट मुक्तभएर मलाई प्राप्त गर्नेछौं।

उपर्युक्त तीन श्लोकमा योगेश्वर श्रीकृष्णले क्रमबद्ध साधना र त्यसको परिणामको चित्रण गर्नुभएको छ। पहिले पत्र-पुष्प-फल-जलको पूर्ण श्रद्धाले अर्पण, दोस्रो समर्पित भएर कर्मको आचरण र तेस्रो पूर्ण समर्पणको साथ सर्वस्वको त्याग- इनीहरूद्वारा कर्म-बन्धनबाट विमुक्त (विशेषरूपले मुक्त) हुनेछ। मुक्तिबाट के मिल्नेछ? त भन्नुभयो- मलाई प्राप्त गर्नेछौ। यहाँ मुक्ति र प्राप्ति एक अर्काका पूरक छन्। तपाईको प्राप्ति नै मुक्ति हो, अनि त्यसबाट के लाभ? यसमाथि भन्नुहुन्छ-

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

म सबै भूतहरूमा समछु। सृष्टिमा न कोही मेरो प्रिय छ र न अप्रिय छ, तर जो अनन्य भक्त हो, त्यो ममा छ र म त्यसमाछु। यही मेरो एकमात्र नाता छ। त्यसमा परिपूर्ण हुनजान्छु। ममा र त्यसमा केही अन्तर रहन जाँदैन। तब त धेरै भाग्यशाली मानिसहरू नै भजन गर्छन् होला? भजन गर्ने अधिकार कसलाई छ? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

यदि अत्यन्त दुराचारी पनि अनन्य भावले अर्थात मेरो बाहेक कुनै अरू वस्तु वा देवतालाई नभजेर मात्र मलाई नै निरन्तर भज्दछ, त्यो साधु नै मानिने योग्य छ। अहिले त्यो साधु भएको छैन, तर हुनुमा सन्देह पनि छैन; किनकि त्यो यथार्थ निश्चयले लागिसकेको छ। अतः भजन तपाई पनि गर्नसक्नु हुन्छ, शर्त छ कि तपाई मानिस हुनुपर्छ; किनकि मानिस नै यथार्थ निश्चयवाला हुन्छ। गीताले पापीहरूको उद्धार गर्दछ र त्यो पथिक–

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

यस भजनको प्रभावबाट त्यो दुराचारी पनि चाँडै नै धर्मात्मा हुनजान्छ, परमधर्म परमात्मासँग संयुक्त हुन्छ तथा सधैंरहने परमशान्तिलाई प्राप्त गर्दछ। कौन्तेय! तिमी निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरो भक्त कहिलै नष्ट हुँदैन। यदि एउटा जन्ममा पार लागेन भने आउने जन्महरूमा पनि त्यही साधना गरेर चाँडै नै परमशान्ति प्राप्त गर्दछ। अतः सदाचारी, दुराचारी सबैलाई भजन गर्ने अधिकार छ। यति मात्रै होइन, अपितु–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

पार्थ! स्त्री, वैश्य, शूद्रदि तथा जो कोही पनि पापयोनिवाला किन नहोस्, ती सबै मेरा आश्रित भएर परमगतिलाई प्राप्त गर्दछन्। अतः यो गीता मानिस मात्रको लागि हो, चाहे त्यो जे सुकै गरोस्, कुनै पनि ठाउँमा जन्मेको होस। सबैको लागि यसले एकसमान कल्याणको उपदेश गर्दछ। गीता सार्वभौम छ।

पापयोनि– अध्याय १६/७–२१ मा आसुरी वृत्तिको लक्षणहरूको अन्तर्गत भगवान्ले भन्नुभयो कि जो शास्त्र–विधिलाई त्यागेर नाममात्रको यज्ञहरूको दम्भले यजन गर्दछन, ती नरहरूमा अधम हुन्। यज्ञ छँदै छैन, तर

नाम दिएको छ र दम्भले यजन गर्दछ भने त्यो क्रूरकर्मी र पापाचारी (पापयोनि) हो। जो म परमात्मासित द्वेष गर्ने हुन्। तिनीहरू पापी हुन्। वैश्य–शूद्र भगवत्पथको खुड्किलाहरू हुन्। समाजमा स्त्रीहरूप्रति कुनै बेला सम्मान, कुनै बेला हीनताको भावना सधैं रहेको छ, यसै कारण श्रीकृष्णले यसको नाउँ लिनुभयो, तर योग–प्रक्रियामा स्त्री र पुरुष दुबैको समान प्रवेश छ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

अनि त फेरि ब्रह्मण तथा राजर्षि क्षत्रिय श्रेणीको भक्तहरूका लागि भन्नु नै के छ? ब्राह्मण एउटा अवस्था–विशेष हो, जसमा ब्रह्ममा प्रवेश दिलाउने सबै योग्यताहरू विद्यमान हुन्छन्। शान्ति, आर्जव, अनुभवी उपलब्धि, ध्यान र इष्टको निर्देशनमा जसमा हिड्ने क्षमता छ, यही ब्राह्मणको अवस्था हो। राजर्षि क्षत्रियहरूमा ऋद्धि–सिद्धिहरूको संचार, शौर्य, स्वमीभाव, पछि नहट्ने स्वभाव रहन्छ। योगको यस स्तरमा पुगेको योगी त पार हुन्छ नै, उनीहरूको लागि भन्नु के छ? अतः अर्जुन! तिमी सुखरहित क्षणभंगुर यस मानव–शरीरलाई प्राप्त गरेर मेरो भजन गर। यस नश्वर शरीरको ममत्व, पोषणमा समय नष्ट नगर।

योगेश्वर श्रीकृष्णले यहाँ चौथो पटक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य र शूद्रको चर्चा गर्नुभयो। अध्याय दुइमा वहाँले भन्नुभयो कि क्षत्रियको लागि युद्धभन्दा ठूलो कल्याणको कुनै अर्को बाटो नै छैन। अध्याय तीनमा वहाँले भन्नुभयो कि स्वधर्ममा निधन पनि श्रेयस्कर छ। अध्याय चारमा वहाँले संक्षेपमा बताउनुभयो कि चार वर्णहरूको रचना मैले गरें। तब के मानिसहरूलाई चार जातिहरूमा बाँड्नु भयो? भन्नुभयो, होइन **'गुणकर्म विभागशः'**– गुणको आधारमा कर्मलाई चार श्रेणीहरूमा राखें। श्रीकृष्णको अनुसार, कर्म एकमात्र यज्ञको प्रक्रिया हो। अतः यस यज्ञलाई गर्ने चार प्रकारका छन्। प्रवेशकालमा यो यज्ञकर्त्ता शूद्र हो, अल्पज्ञ हो। केही गर्ने क्षमता आयो, आत्मिक सम्पत्तिको सङग्रह भएमा त्यही यज्ञकर्त्ता वैश्य बन्न गयो। यसबाट उन्नत भएपछि प्रकृतिको तीनवटै गुणहरूलाई काट्ने क्षमता आएमा त्यही साधक क्षत्रिय श्रेणीको हुन्छ

र जब यसै साधकको स्वभावमा ब्रह्ममा प्रवेश दिलाउने योग्यता हुन्छ भने त्यही ब्राह्मण हो। वैश्य र शूद्रभन्दा क्षत्रिय र ब्राह्मण श्रेणीको साधक प्राप्तिको बढी नजिक छ। शूद्र र वैश्य पनि त्यही ब्रह्ममा प्रवेश पाएर शान्त हुनेछन्, फेरि यसको अगाडि अवस्थाको लागि भन्नु के छ? उनको लागि त निश्चित नै छ।

गीता जसको विस्तार वेद र अन्य उपनिषद् जुनमा ब्रह्म-विदूषी महिलाहरूका आख्यान भरिएका छन्, तथाकथित धर्मभीरु, रूढिवादी वेद-अध्ययनको अधिकार-अनाधिकारको व्यवस्था दिनुमा सोच-विचार गरी रह्यो, तर योगेश्वर श्रीकृष्णको स्पष्ट उद्‌घोष छ कि यथार्थ कर्मको निर्धारित क्रियामा स्त्री-पुरुष सबै प्रवेश लिन सक्छन्।

अतः वहाँ भजनको धारणामा प्रोत्साहन दिनुहुन्छ-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

अर्जुन! ममा नै मनभएको होऊ। मेरो अतिरिक्त अर्को भाव मनमा नआउन पाओस्। मेरो अनन्य भक्त होऊ, अनवरत चिन्तनमा लाग। श्रद्धासहित मेरो निरन्तर पूजा गर र मलाई नै नमस्कार गर। यसप्रकार मेरो शरणमा, आत्मालाई ममा एकीभावले स्थिर गर, तिमीले मलाई नै प्राप्त गर्नेछौ अर्थात् मसित एकता प्राप्त गर्नेछौ।

निष्कर्ष-

यस अध्यायको आरम्भमा श्रीकृष्णले भन्नुभयो- अर्जुन! तिमी जस्तो दोषरहित भक्तको लागि म यस ज्ञानलाई विज्ञानसहित भन्नेछु, जसलाई जानेर केही पनि जान्न बाँकी रहँदैन। यसलाई जानेर तिमी संसार-बन्धनबाट मुक्त हुनेछौ। यो ज्ञान सम्पूर्ण विद्याहरूको राजा हो। विद्या त्यो हो, जसले परब्रह्ममा प्रवेश दिलाउँछ। यो ज्ञान त्यसको पनि राजा हो अर्थात् निश्चित कल्याण गर्ने यही हो। यी सम्पूर्ण गोपनीयहरूको पनि राजा हो; गोपनीय वस्तुलाई पनि प्रत्यक्ष गर्ने छ। यो प्रत्यक्ष फलदिने, साधन गर्नमा सुगम र अविनाशी छ। थोरै पनि साधना तिमीबाट पार लाग्यो भने यसको कहिले पनि नाश हुँदैन, बरू

यसको प्रभावबाट तिमी त्यो परमश्रेयसम्म पुग्दछ। तर यसमा एउटा शर्त छ। श्रद्धाविहीन पुरुष परमगतिलाई प्राप्त नगरेर संसार-चक्रमा भौंतारिंदै रहन्छ।

योगेश्वर श्रीकृष्णले योगको ऐश्वर्यमा पनि प्रकाश पार्नुभयो। दुःखको संयोगको वियोग नै योग हो अर्थात् जो संसारको संयोग-वियोगबाट सर्वथा रहित छ, त्यसको नाम योग हो। परमतत्व परमात्माको मिलनको नाम योग हो। परमात्माको प्राप्ति नै योगको पराकाष्ठा हो। जसले यसमा प्रवेश पाइसक्यो, त्यस योगीको प्रभावलाई हेर कि सम्पूर्ण भूतहरूको स्वामी र जीवधारीहरूको पोषण गर्ने भएर पनि मेरो आत्मा ती भूतहरूमा स्थित छैन। म आत्मस्वरूपमा स्थितछु। त्यही हुँ। जस्तै आकाशमा उत्पन्न सर्वत्र विचरण गर्ने हावा आकाशमा स्थित छ तर त्यसलाई मलिन गर्न पाउँदैन, यसैप्रकार सम्पूर्ण भूत मेरोमा स्थित छन्, तर म तिनीहरूमा लिप्त छैन।

अर्जुन! कल्पको आदिमा म भूतहरूलाई विशेष प्रकारको रचना गर्दछु, सजाउँछु, र कल्पको पूर्तिकालमा सम्पूर्ण भूत मेरो प्रकृतिलाई अर्थात् योगारूढ महापुरुषको स्वभावलाई, त्यसको अव्यक्त भावलाई प्राप्त गर्दछ। यद्यपि महापुरुष प्रकृतिभन्दा पर छ तर प्राप्तिपश्चात् स्वभावमा अर्थात् स्वयंमा स्थित रहँदै लोक-सङ्ग्रहको लागि जुन कार्य गर्दछ, त्यो वहाँको एउटा रहनी (कृत्य) हो। यसै रहनीको (स्थितिको) कार्यकलापलाई त्यस महापुरुषको प्रकृति भनेर सम्बोधित गरिएको छ।

एक रचयिता त म हुँ, जो भूतहरूलाई कल्पको लागि प्रेरित गर्दछु र दोस्रो रचयिता त्रिगुणमयी प्रकृति हौ जो मेरो अध्यासले चराचरसहित भूतहरूलाई रच्दछ। यो पनि एउटा कल्प हो, जसमा शरीर-परिवर्तन, स्वभाव-परिवर्तन र काल-परिवर्तन निहित छन्। गोस्वामी तुलसीदासज्यू पनि यही भन्नुहुन्छ-

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।।
(रामचरितमानस, ३/१४/५)

प्रकृतिका दुई भेद विद्या र अविद्या हुन्। यसमा अविद्या दुष्ट हो, दुःखको रूप हो, जसबाट विवश जीव भवकूपमा परेका छन्, जसबाट प्रेरित भएर जीव काल, कर्म, स्वभाव र गुणको घेरामा आउँछ। दोस्रो छ विद्यामाया,

जसलाई श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि म नै रचना गर्दछु। गोस्वामीज्यूको अनुसार प्रभु रचनुहुन्छ–

एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।।
(रामचरितमानस, ३/१४/६)

यसले जगत्‌को रचना गर्दछ, जसको आश्रित गुणहरू छन्। कल्याणकारी गुण एकमात्र ईश्वरमा छ। प्रकृतिमा गुण छँदै छैन, त्यो त नश्वर हो, तर विद्यामा प्रभु नै प्रेरक बनेर गर्नुहुन्छ।

यसप्रकार कल्प दुई प्रकारका छन्। एउटा त वस्तुको, शरीर र कालको परिवर्तन कल्प हो। यो परिवर्तन प्रकृतिले मेरो आभासद्वारा गर्दछिन् तर यसभन्दा महान् कल्प, जो आत्मालाई निर्मल स्वरूप प्रदान गर्दछ, त्यसको शृंगार महापुरुषले गर्दछन्। उहाँले अचेत भूतहरूलाई सचेत गर्नुहुन्छ। भजनको आदि नै यस कल्पको आरम्भ हो र भजनको पराकाष्ठा कल्पको अन्त्य हो। जब यो कल्प भव-रोगबाट पूर्ण नीरोग बनाएर शाश्वत ब्रह्ममा प्रवेश (स्थिति) दिलाउँछ, त्यस प्रवेशकालमा योगी मेरो रहनी (स्थिति) र मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ। प्राप्तिपश्चात् महापुरुषको आचरण नै त्यसको प्रकृति हो।

धर्म-ग्रन्थहरूमा कथानक पाइन्छन् कि चारवटै युग बितेपछि कल्प पूर्ण हुन्छ, महाप्रलय हुन्छ। प्रायः मानिसहरू यसलाई यथार्थ बुझ्दैनन्। युगको अर्थ हो दुई। तपाई अलग हुनुहुन्छ, आराध्य अलग छ, तबसम्म युग-धर्म रहनेछन्। गोस्वामीज्यूले रामचरितमानसको उत्तरकाण्डमा यसको चर्चा गर्नु भएको छ। जब तामसी गुणहरू कार्य गर्दछन्, रजोगुण अल्पमात्रामा छ, सबैतिर वैर-विरोध छन्, यस्ता व्यक्ति कलियुगीन हुन्। उसले भजन गर्न सक्दैन, तर साधन प्रारम्भ भएपछि युग-परिवर्तन हुन्छ। रजोगुण बढ्न लाग्छ, तमोगुण क्षीण हुन्छ, केही सत्वगुण पनि स्वभावमा आउँछ, हर्ष र भयको दुविधा लागिरहन्छ, तब त्यही साधक द्वापरको अवस्थामा आइपुग्छ। क्रमशः सत्वगुणको बाहुल्य भएमा रजोगुण स्वल्प रहन्छ, आराधना कर्ममा रति हुन्छ, यस्तो त्रेतायुगमा त्यागको स्थिति भएको साधकले अनेकौं यज्ञ गर्दछन्। '**यज्ञानां जपयज्ञयोऽस्मि**'-यज्ञ-श्रेणीवाला जप, जसको घट-बढ़ श्वास-प्रश्वासमाथि

छ, त्यसलाई गर्ने क्षमता रहन्छ। जब मात्र सत्वगुण बाँकी रह्यो, विषमता हरायो वा समता आयो, यो कृतयुग अर्थात् कृतार्थ युग अथवा सत्युगको प्रभाव हो। त्यस समय सबै योगी विज्ञानी हुन्छन्, ईश्वरसँग मिल्ने हुन्छन्, स्वाभाविक ध्यान पक्रने क्षमता उनीहरूमा रहन्छ।

विवेकीजन युगधर्महरूको उतार–चढाउ मनमा बुझ्दछन्। मनको निरोधको लागि अधर्मको परित्याग गरेर धर्ममा प्रवृत्त हुन्छन्। निरुद्ध मनको पनि विलय भएपछि युगहरूको साथ–साथै कल्पको पनि अन्त्य हुन्छ। पूर्णतामा प्रवेश दिलाएर कल्प पनि शान्त हुन्छ। यही प्रलय हो, जब प्रकृति पुरुषमा विलीन हुन्छ। तत्पश्चात महापुरुषको जो रहनी (स्थिति) हो, त्यही उसको प्रकृति हो, त्यसको स्वभाव हो।

योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– अर्जुन! मूढ मानिसहरू मलाई जान्दैनन्। ईश्वरहरूको पनि ईश्वरलाई तुच्छ ठान्दछन्, साधारण मानिस मान्दछन्। प्रत्येक महापुरुषसँग यही विडम्बना रहि आएको छ कि तत्कालीन समाजले वहाँहरूको उपेक्षा गरे। उनको कडा विरोध पनि भयो। श्रीकृष्ण पनि यसको अपवाद थिएनन्। उहाँ भन्नुहुन्छ कि म परमभावमा स्थितछु तर शरीर मेरो पनि मानिसकै हो। अतः मूढपूरुष मलाई तुच्छ ठानेर, मानिस भनेर सम्बोधित गर्दछन्। यस्तो मानिस व्यर्थ आशाभएका हुन्, व्यर्थ कर्म गर्ने हुन्, व्यर्थ ज्ञानी हुन् कि केही पनि गरौं र भनिदिऊँ कि हामी कामना गर्दैनौं अनि भएँ निष्काम कर्मयोगी। ती आसुरी स्वभाव भएकाले मलाई चिन्न सक्दैनन्; तर दैवी सम्पद् प्राप्त मानिस अनन्य भावले मेरो ध्यान गर्दछन्। मेरै गुणहरूको निरन्तर चिन्तन गर्दछन्।

अनन्य उपासना अर्थात् यज्ञार्थ कर्मको पनि दुई मार्ग मात्र छन्। पहिला हो ज्ञान–मार्ग अर्थात् आफ्नै भरोसाले, आफ्नै शक्तिलाई सम्झेर त्यही नियत कर्ममा प्रवृत्त हुनु र दोस्रो विधि स्वामी–सेवक भावनाको हो, जसमा सद्गुरुको प्रति समर्पित भएर त्यही कर्म गरिन्छ। इनै दुई दृष्टिहरूले मानिस मेरो उपासना गर्दछन् तर उनीबाट जो पार लाग्दछ त्यो यज्ञ, त्यो हवन, त्यो कर्त्ता, श्रद्धा र औषधि, जसबाट भवरोगको चिकित्सा हुन्छ, म नै हुँ। अन्त्यमा जो गति प्राप्त हुन्छ, त्यो गति पनि म नै हुँ।

यसै यज्ञलाई मानिसहरू **'त्रैविद्याः'**– प्रार्थना, यजन र समत्व प्राप्त गराउने विधिहरूद्वारा सम्पादित गर्दछन्, तर त्यसको साटो स्वर्गको कामना गर्दछन्, अनि म स्वर्ग पनि दिन्छु। त्यसको प्रभावले ऊ इन्द्रपद प्राप्त गर्छ, दीर्घकालसम्म त्यसलाई भोग्छ; तर पुण्य क्षीण भएपछि उसले पुनर्जन्म प्राप्त गर्छन्। उनीहरूको क्रिया सही थियो, तर भोगहरूको कामना रहेकोले पुनर्जन्म हुन्छ। अतः भोगहरूको कामना गर्नु हुँदैन। जो अनन्य भावले अर्थात् "म बाहेक दोस्रो छदै छैन" यस्तौ भावबाट जो निरन्तर मेरो चिन्तन गर्दछन्, अलिकति पनि त्रुटि नरहोस्– यसरी जो भज्दछ, त्यसको योगको सुरक्षाको भार म आफ्नै हातमा लिन्छु।

यति भएर पनि मानिसहरू अरू देवताहरूको पूजा गर्दछन्। उनीहरू पनि मेरो नै पूजा गर्दछन्, तर त्यो मेरो प्राप्तिको विधि होइन। उनी सम्पूर्ण यज्ञहरूको भोक्ताको रूपमा मलाई जान्दैनन् अर्थात् उनीहरूको पूजाको परिणाममा म प्राप्त हुन्न, यसैले उनीहरूको पतन हुन्छ। उनी देवता, भूत अथवा पितृहरूको कल्पितरूपमा निवास गर्दछन्, जबकि मेरो भक्त साक्षात् ममा निवास गर्दछ, मेरै स्वरूप नै हुन्छ।

योगेश्वर श्रीकृष्णले यस यज्ञार्थ कर्मलाई अत्यन्त सुगम बताउनुभयो कि कुन फल–फूल वा जे पनि श्रद्धाले दिन्छ, त्यसलाई म स्वीकार गर्दछु। अतः अर्जुन! तिमी जे जति आराधना गर्दछौ, मलाई समर्पित गर। जब सर्वस्वको न्यास हुनेछ, तब योगले युक्त भएको तिमी कर्मको बन्धनबाट मुक्त हुनेछौ र यो मुक्ति मेरै स्वरूप हो।

संसारमा सबै प्रणीमेरा नै हुन्, कुनै पनि प्रणीसंग न मलाई प्रेम छ, न द्वेष। म तटस्थ छु; तर जो मेरो अनन्य भक्त छ, म त्यसमै छु, त्यो ममा छ। अत्यन्त दुराचारी, जघन्यतम पापी नै कोही किन नहोस् तैपनि अनन्य श्रद्धा–भक्तिसहित मलाई भज्दछ भने त्यो साधु मानिने योग्य छ। त्यसको निश्चत स्थिर छ भने उसले शीघ्र नै परमसँग संयुक्त हुन्छ र सदा स्थिररहने परमशान्ति प्राप्त गर्दछ। यहाँ श्रीकृष्णले स्पष्ट गर्नुभयो कि धार्मिक को हुन? सृष्टिमा जन्मलिने कोही पनि प्राणी यदि अनन्यभावले एउटै परमात्मालाई भज्दछ,

उनकै चिन्तन गर्दछ भने त्यो शीघ्र नै धार्मिक हुन्छ। अतः धार्मिक त्यो हो, जो एक परमात्माको स्मरण गर्दछ। अन्त्यमा आश्वासन दिनुहुन्छ कि- अर्जुन! मेरो भक्त कहिलै नष्ट हुँदैन। कोही शूद्र होस्, नीच होस्, आदिवासी होस् वा अनादिवासी वा कुनै पनि नामधारी किन नहोस्, पुरुष अथवा स्त्री अथवा पापयोनि, तिर्यक् योनिभएका जो पनि होस्, मेरो शरण भएर परमश्रेयलाई प्राप्त गर्दछ। यसैले अर्जुन! सुखरहित, क्षणभंगुर तर दुर्लभ मानिस शरीरलाई पाएर मेरो भजन गर। फेरि जो ब्रह्ममा प्रवेश दिलाउने अर्हताहरूसँग युक्त छ, त्यस ब्रह्मण तथा राजर्षित्वको स्तरबाट भजने छ, यस्ता योगीको लागि भन्नु नै के छ? त्यो त पार (तरेको) नै हो। अतः अर्जुन! निरन्तर ममा मन लगाउने बन, मलाई निरन्तर नमस्कार गर। यसप्रकार मेरो शरण भएर तिमी मलाई नै प्राप्त गर्नेछौ, जहाँबाट पछि फर्केर आउनु पर्दैन।

प्रस्तुत अध्यायमा त्यस विद्यामाथि प्रकाश पार्नु भयो जसलाई श्रीकृष्ण स्वयं जागृत गर्नुहुन्छ। यो राज-विद्या हो, जो एक पटक जागृत भएमा निश्चित नै कल्याण गर्दछ। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'राजविद्याजागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

यसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको सम्वादमा 'राजविद्या जागृति' नामक नवौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'राजविद्याजागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'राजविद्या जागृति' नामक नवौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ दशमोऽध्यायः ।।

दशौं अध्याय

गत अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले गुप्त राजविद्याको चित्ररण गर्नुभयो, जो निश्चय नै कल्याण गर्दछ। दशौं अध्यायमा वहाँको कथन छ कि– महाबाहु अर्जुन! मेरो परम रहस्ययुक्त वचन फेरि सुन। यहाँ त्यसैलाई अर्को पटक भन्ने आवश्यकता के छ? वस्तुतः साधकलाई पूर्तिपर्यन्त खतरा छ। जसो जसो त्यो स्वरूपमा ढलदै जान्छ, प्रकृतिको आवरण सूक्ष्म हुँदै जान्छ, नयाँ–नयाँ दृश्यहरू सामुन्ने आउँछन्। त्यसको ज्ञान महापुरुषले नै दिइरहनु हुन्छ। साधक जान्दैन। यदि वहाँले मार्गदर्शन गर्न बन्द गरिदिनुभयो भने साधक स्वरूपको उपलब्धिबाट वंचित रहनेछ। जबसम्म त्यो स्वरूपबाट टाढा छ, तबसम्म सिद्ध छ कि प्रकृतिको कुनै न कुनै आवरण बनेको छ, चिप्लिने संभावना रही रहन्छ। अर्जुन शरणागत शिष्य हो। उनले भने– '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'– भगवन्! म तपाईको शिष्य हुँ, तपाईको शरणमा छु, मलाई संभाल्नुस्। अतः उसको हितको कामनाले योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः भन्नुहुन्छ–

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

महाबाहु अर्जुन! मेरो परम प्रभावयुक्त वचनलाई पुनः सुन, जुन म तिमी जस्तो अतिशय प्रेमराख्नेवालाको हितको इच्छाले भन्नेछु।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

सप्तर्षि अर्थात् योगको सात क्रमिक भूमिकाहरू (शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावना र तुर्यगा) तथा यिनिहरूको अनुरूप अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त र अहंकार), त्यसको अनुरूप मन जो मेरोमा भाववाला छ- यो सबै मेरो संकल्पबाट (मेरो प्राप्तिको संकल्पबाट तथा जो मेरो नै प्रेरणाबाट हुन्छ, दुबै एक अर्काका पूरक हुन्) उत्पन्न हुन्छन्। यस संसारमा यी (सम्पूर्ण दैवी सम्पद्) यिनकै प्रजाहरू हुन्। किनकि सप्त भूमिकाहरूको संचारमा 'दैवी सम्पद्' नै छ, अरू छैन।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

जो पुरुष योगको र मेरो उपर्युक्त विभूतिहरूलाई साक्षात्कारसहित जान्दछ, त्यो स्थिर ध्यानयोगद्वारा ममा एकीभावले स्थित हुन्छ। यसमा कुनै पनि संशय छैन। जुनप्रकार स्थिर हावा भएको स्थानमा राखिएको बत्तीको ज्वाला (लौ) सोझै जान्छ, कंपन हुँदैन, योगीको जितेको चित्तको परिभाषा यही हो। प्रस्तुत श्लोकमा 'अविकम्पेन' शब्दले यसै आशयतिर सङ्केत गर्दछ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

म सम्पूर्ण जगत्को उत्पत्तिको कारण हुँ। मबाट नै सम्पूर्ण जगत् चेष्टा गर्दछ। यस्तो मानेर श्रद्धा र भक्तियुक्त विवेकीजन मेरो निरन्तर भजन गर्दछन्। तात्पर्य यो छ कि योगीद्वारा मेरो अनुरूप जो प्रवृत्ति हुन्छ, त्यसलाई म नै गर्ने गर्दछु। त्यो मेरो प्रसाद हो। (कसरी हो? यसलाई पहिले स्थान-स्थानमा भनिसकिएको छ।) उनीहरू निरन्तर भजन कुन प्रकारले गर्दछन्? यसमा भन्नुहुन्छ-

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

अनन्य भावले समात्नु हुन्छ होइन भने साधारण जीवहरूमा संस्कारको ठक्करले आँग-स्पन्दन भई रहनछन् जसको इष्टसंग कुनै सम्पर्क छैन।

दोस्रो अनुभव स्वप्नसुरा-सम्बन्धी हुन्छ। साधारण मानिस आफ्नो वासनाहरूबाट सम्बन्धित सपना देख्छ; तर जब तपाई इष्टलाई समात्नु हुनेछ भने यो सपना पनि निर्देशमा बदलिन्छ। योगी सपना देख्दैन, हुने कुरा देख्छ।

उपयुक्त दुबै अनुभव प्रारम्भिक हुन्, कुनै तत्वस्थित महापुरुषको सान्निध्यले मनमा उनको प्रति श्रद्धा मात्र राख्नाले, उनले टुटे-फुटेको सेवाबाट पनि जागृत हुन्छन्, तर यी दुबैभन्दा पनि सूक्ष्म बाँकी दुई अनुभव क्रियात्मक हुन्, जसलाई 'क्रियाशील' भएर नै देख्न सकिन्छ।

तेस्रो अनुभव सुषुप्ति सुरा-सम्बन्धी हुन्छ। संसारमा सबै सुतेकै त छन्। मोह-निशामा सबै अचेत परेका छन्। रात-दिन जति गर्दछौं सपना नै त हो। यहाँ सुषुप्तिको शुद्ध अर्थ हो, जब परमात्माको चिन्तनको यस्तो डोरी लागोस् कि सुरत (सम्झना) बिलकुल स्थिर होस्, शरीर जागी रहोस् र मन सुप्त हुनपुगोस्। यस्तो अवस्थामा त्यो इष्टदेवले फेरि आफ्नो एउटा सङ्केत दिनुहुनेछ। योगको अवस्थाको अनुरूप एउटा रूपक (दृश्य) आउँछ, जो सही दिशा प्रदान गर्दछ, भूत-भविष्यबाट अवगत गराउँछ। पूज्य महाराजज्यू भन्नुहुन्थ्यो कि, "डाँक्टरले जस्तो बेहोशीको औषधि दिएर, उचित उपचार गरेर होशमा ल्याउँछ, यस्तै भगवान्‌ले पनि बताउनु हुन्छ।"

चौथो र अन्तिम अनुभव समसुरा-सम्बन्धी छ। जसमा तपाईले सुरत मन लगाउनु भएको थियो, त्यस परमात्मासँग समत्व प्राप्त भयो, त्यस पश्चात् उठ्दै-बस्दै, हिड्दै-डुल्दै सर्वत्रबाट त्यसलाई अनुभूति हुनलाग्छ। यस्तो योगी त्रिकालज्ञ हुन्छ। यो अनुभव तीनवटै कालहरूबाट पर अव्यक्तस्थित महापुरुष आत्माबट जागतृ भएर अज्ञानजनित अन्धकारलाई ज्ञान-दीपले नष्ट पारेर गर्दछन्। यसमा अर्जुनले प्रश्न गर्नुभयो-

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।

हे योगिन्! (श्रीकृष्ण एक योगी हुनुहुन्थ्यो) म कुन प्रकारले निरन्तर चिन्तन गर्दै तपाईलाई जानूँ र हे भगवन्! म कुन-कुन भावहरूद्वारा तपाईको स्मरण गरूँ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

हे जनार्दन! आफ्नो योग-शक्तिलाई र योगको विभूतिलाई फेरि पनि विस्तारपूर्वक भन्नुस्। संक्षेपमा यस अध्यायको आरम्भमा भन्नु नै भएको छ, फेरी भन्नुस्, किनकि अमृत तत्वलाई देखाउने यी वचनहरू सुनेर मलाई तृप्ति भइरहेको छैन।

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।।
(रामचरितमानस, ७/५२/१)

जबसम्म प्रवेश मिल्दैन, तबसम्म त्यस अमृत तत्वलाई जान्ने पिपासा (तिर्खा) बनेकै हुन्छ। प्रवेशभन्दा पूर्व बाटोमा यो सोचेर कोही बस्छ कि धेरै कुरालाई जानी सकियो, तब उसले जानेन। सिद्ध छ कि उसको मार्ग अवरुद्ध हुन खोज्दैछ। यसैले साधकले पूर्तिपर्यन्त इष्टको निर्देशनलाई समाती राख्नुपर्छ र त्यसलाई आचरणमा ढाल्नु पर्दछ। अर्जुनको उक्त जिज्ञासामा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो-

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! अब म आफ्नो दिव्य विभूतिहरूलाई, तीमध्ये प्रमुख विभूतिहरूलाई तिमीलाई भन्नेछु, किनकि मेरा विभूतिहरूको विस्तारको अन्त्य छैन।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

महर्षिहरूमा म भृगु हुँ र वाणीमा एक अक्षर 'ॐ' कार हुँ, जो त्यस ब्रह्माको परिचायक हो। सबैप्रकारको यज्ञहरूमा म जप-यज्ञ हुँ। यज्ञ परममा प्रवेश दिलाउने विधि-विशेषको चित्रण हो। त्यसको सारांश हो- स्वरूपको स्मरण र नामको जप। दुई वाणीहरूबाट पार भएपछि नाम जब यज्ञको श्रेणीमा आउँछ, तब वाणीले जपिदैन, न चिन्तनले, न कण्ठबाट, बरू त्यो श्वासमा जागृत हुन्छ। सुरतलाई श्वास नजिक लगेर मनबाट अविरल चल्नुमात्र गर्दछ। यज्ञको श्रेणीवाला नामको उतार-चढाव श्वासमा निर्भर छ। यो क्रियात्मक हो। स्थिर रहनेवालमा म हिमालय हुँ। शीतल, सम र अचल एकमात्र परमात्मा हो। जब प्रलय भयो, तब मनु त्यही शिखरमा बाँधियो। अचल, सम र शान्त ब्रह्मको प्रलय हुँदैन। त्यस ब्रह्मको पकड म हुँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

सबै रूखहरूमा म अश्वत्थ हुँ। अश्वः- भोलीसम्म पनि जसको रह्ने ग्यारेण्टी दिन सकिंदैन, यस्तो '**ऊर्ध्वमूलमधः शाखम् अश्वत्थम्**' (१५/१)- माथि परमात्मा जसको मूल हो, तल प्रकृति जसको शाखा (हाँगाहरू) हुन्, यस्तो संसार नै एक वृक्ष हो, जसलाई पीपलको संज्ञा दिइएको छ- सामान्य पीपलको वृक्ष होइन कि पूजा गर्न थालियोस्, त्यो म हुँ र देवर्षिहरूमा म नारद हुँ। नादस्य रंध्रः स नारदः। दैवी सम्पद् यति सूक्ष्मभयो कि स्वरमा उठ्ने ध्वनि (नाद) पक्रन सकियोस्, यस्तो जागृति म हुँ। गन्धर्वहरूमा मै चित्ररथ हुँ अर्थात् गायन (चिन्तन) गर्नेवाला प्रवृत्तिहरूमा जब स्वरूप चित्रित हुन लागोस्, त्यो अवस्था-विशेष म हुँ। सिद्धहरूमा म कपिल मुनि हुँ। 'काया' नै कपिल हो। यसमा जब लव (ध्यान) लागोस्, त्यस ईश्वरीय संचारको अवस्था म हुँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

त्यस युगमा योजनको माप जे भएपनि, यो पर्याप्त टाढा छ। वस्तुतः यो आकर्षण शक्तिको चित्ररण हो। वैज्ञानिकहरूद्वारा यसलाई ईथर मानिएको छ। ग्रह-उपग्रह सबै त्यही शक्तिको आधारमा टिकेका छन्- त्यस शून्यमा ग्रहहरूको केही भार पनि छैन। त्यो शक्ति सर्पको कुण्डली जस्तै सबै ग्रहहरूलाई समेटेका छन्। यही हो त्यो अनन्त जसबाट पृथ्वी धारण गरिन्छ। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- यस्तो ईश्वरीय शक्रि म हुँ। जलचरहरूमा त्यसको अधिपति 'वरुण' हुँ तथा पितृहरूमा 'आर्यमा' हुँ। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य र अपरिग्रह पांच यम हुन। यिनको पालनमा आउनेवाला विकारहरूलाई काट्नु 'अर्' हो। विकारहरूको शमनबाट पितृ अर्थात् भूत-संस्कार तृप्त हुन्छन्। निवृत्ति प्रदान गरिदिन्छन्। शासन गर्नेवालामा म यमराज हुँ अर्थात् उपयुक्त यमहरूको नियामक हुँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

म दैत्यहरूमा प्रह्लाद हुँ। (पर आह्लाद = परको लागि आह्लाद) प्रेम नै प्रह्लाद हो। आसुरी सम्पद्मा रहँदा-रहँदै ईश्वरको लागि आकर्षण-विकलता आरम्भ हुन्छ, जसबाट परमप्रभुको दिग्दर्शन हुन्छ- यस्तो प्रेमोल्लास म हुँ। गन्ती गर्नेहरूको लागि म समय हुँ। एक, दुई, तीन, चार यस्तो गन्ती वा क्षण, घडी-दिन-पक्ष-मास इत्यादि होइन, बरू ईश्वरको चिन्तनमा लागेको समय हुँ। यहाँसम्म कि '**जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।**' अनवरत चिन्तनमा समय म हुँ। पशुहरूमा मृगराज [योगी पनि मृ (जंगल) + ग (गमन गर्नु) अर्थात् योगरूपी जंगलमा गमन गर्नेवाला हो] तथा चराहरूमा गरुड म हुँ। ज्ञान नै गरुड हो। जब ईश्वरीय अनुभूति आउन लाग्छ, तब यही मन आफ्नो आराध्यको सवारी बन्न जान्छ र जब यही मन संशयबाट युक्त हुन्छ तब 'सर्प' हुन्छ, टोकिरहन्छ, योनिहरूमा फ्याँकिरहन्छ। गरुड विष्णुको सवारी हो। जो सत्ता विश्वमा अणुरूपले संचारित छ, ज्ञान-संयुक्त मन त्यसलाई आफूमा धारण गर्दछ, त्यसको वाहक बन्दछ। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- इष्टलाई धारण गर्ने मन म हुँ।

म सबैको नाश गर्ने मृत्यु र अगाडि हुने उत्पतिको कारण हुँ। स्त्रीहरूमा यश, शक्ति, वाक्पटुता, स्मृति, मेधा अर्थात् बुद्धि, धैर्य र क्षमा म हुँ।

योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार– '**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।' (अध्याय १५/१६)**। पुरुष दुई प्रकारका मात्र हुन्छन्– क्षर र अक्षर। सम्पूर्ण भूतादिहरूको उत्पत्ति र विनाशवाला यी शरीर क्षर पुरुषहरू हुन्। ती नर, मादा, पुरुष अथवा स्त्री जे पनि कहलाओस्, श्रीकृष्णको शब्दमा पुरुष नै हुन्। दोस्रो हो अक्षर पुरुष, जो कूटस्थ चित्तको स्थिरकालमा देखनमा आउँछ। यही कारण छ कि यो योग–पथमा स्त्री–पुरुष सबै महान् स्थितिका महापुरुष हुँदै आएका छन्। तर यहाँ स्मृति–शक्ति, बुद्धि इत्यादि स्त्रीहरूकै गुण बताइएको छ। के यी सद्गुणहरूको आवश्यकता पुरुषहरूको लागि छैन? कुन यस्तो पुरुष हो जो श्रीमान्, कीर्तिवान्, वक्ता, स्मरणशक्ति सम्पन्न, मेधावी, धैर्यवान् र क्षमावान् बन्न चाहदैन? बौद्धिक स्तरमा कमजोर केटाहरूमा यी गुणहरूको विकास गर्नको लागि आमा–बुवा पढ़ाईको छुट्टै व्यवस्था गर्छन्। यहाँ भन्नुहुन्छ कि यी लक्षण मात्र स्त्रीहरूमा पाइन्छन्। यी गुण अर्जुनमा पनि थियो, जबकि अर्जुन नर हो। युद्धको आरम्भमा नै त्यो पछाडी हट्यो– मलाई शस्त्रधारी कौरवले मारे मारोस्, गोविन्द! म युद्ध गर्दिन। भगवानले भन्नुभयो– अर्जुन! यदि तिमी यस धर्ममय युद्ध गर्दैनौ भने स्वधर्म कृति र यश गुमाएर पापलाई प्राप्त हुनेछौ। शत्रुहरू तिम्रो अपकृतिको दीर्घकालसम्म गायन गर्नेछन्। माननीय पुरुषहरूको लागि अपकृति मृत्यु भन्दा पनि ठूलो हुन्छ। यहाँ पुरुषहरूका लागि पनि कृति आवस्यक बताइयो।

गीताको समापनमा सञ्जयले निर्णय दिए कि– जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हुनुहुन्छ, धर्नुधर पार्थ हुन, त्यही श्री छ, विजय छ, विभूति र अचल नीति छ– यस्तो मेरो मत छ। कृति, श्री, विभूति– यी गुण त नारीहरूको हो, अर्जुनसँग कसरी?

अध्याय १५/१५मा भगवान भन्नुहुन्छ– '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**'– अर्जुन! म सबैको हृदयमा समाविष्ट भएर सँधै निवास गर्दछु। बुद्धि, स्मृति, ज्ञान (वास्तविक जानकारी) र विकारहरूबाट

हो। यस प्रकृतिको द्वन्द्वबाट निस्कनको लागि देखावटीपन छोडेर गुप्तरूपले भजन गर्नु नै छल हो। छल छन त छैन; तर बचाव (रक्षा)को लागि आवश्यक छ। जड भरत जस्तै उन्मत्त, अन्धो, बहिरा र लाटा जस्तो हृदयदेखि जानकार भएपनि बाहिरबाट यस्तो रहनु पर्दछ कि अनभिज्ञ हुँ, सुनेर पनि नसुन्ने, हेरेर पनि नहेर्ने। लुकेर गर्नु भजनको विधान हो, तब मात्र साधक प्रकृति–पुरुषको जुआमा पार पाउँछ। जित्नेको विजय म हुँ र व्यवसायीहरूको निश्चय (जसलाई अध्याय दुई, श्लोक एकचालीसमा भन्नुभयो– यस योगमा निश्चयात्मक क्रिया एक हो, बुद्धि पनि एक हो, दिशा पनि एक नै हो) क्रियात्मक बुद्धि पनि म नै हुँ। सात्विक पुरुषहरूको तेज र ओज पनि म हुँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

वृष्णीवंशमा म वासुदेव अर्थात् सर्वत्र वास गर्ने देव हुँ। पाण्डवहरूमा म धनंजय हुँ। पुण्य नै पाण्डु हो र आत्मिक सम्पत्ति नै स्थिर सम्पत्ति हो। पुण्यबाट प्रेरित भएर आत्मिक सम्पत्तिलाई अर्जित गर्ने धनंजय म हुँ। मुनिहरूमा म व्यास हुँ। परमतत्वलाई व्यक्त गर्ने क्षमता भएको मुनि म हुँ। कविहरूमा 'उशना' अर्थात् त्यसमा प्रवेश दिलाउने काव्यकार म हुँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

दमन गर्नेमा दमनको शक्ति म हुँ। जित्ने इच्छावालाको नीति पनि म हुँ। गोप्य राख्ने भावहरूमा मौन हुँ र ज्ञानवानहरूमा साक्षात्को साथ मिल्ने जानकारी, पूर्णज्ञान म हुँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

अर्जुन! सबै भूतहरूको उत्पत्तिको कारण पनि म नै हुँ, किनकि चर र अचर यस्तो कुनै पनि भूत छैन जो मबाट रहित छ। म सर्वत्र व्याप्त छु। सबै मेरो नै सकाशले छन्।

पनि आदिकारण हुँ; किनकि अव्यक्त स्थिति पछिको सार्वभौम अवस्थालाई त्यसले जान्दछन्, जो भइसकेको छ। जो मलाई अजन्मा, अनादि र सम्पूर्ण लोकहरूको महान् ईश्वरलाई साक्षात्कारसहित जान्दछ त्यो नै ज्ञानी हो।

बुद्धि ज्ञान, असंमूढता इन्द्रियहरूको दमन, मनको शमन, सन्तोष, तप, दान र कीर्तिको भाव अर्थात् दैवी सम्पद्को उक्त लक्षण मेरो देन हो। सात महर्षिजन अर्थात् योगका सात भूमिकाहरू, त्यसभन्दा पनि पहिले हुने तदनुरूप अन्तःकरण चतुष्टय र यिनको अनुकूल मन जो स्वयंभू हो, स्वयं रचयिता हो, यी सबै ममा भाववाला, लगाव र श्रद्धा हुनेहरू हुन् जसको संसारमा सम्पूर्ण प्रजा हुन्, यी सबै मबाट उत्पन्न छन् अर्थात् साधनामयी प्रवृत्तिहरू मेरा प्रजा हुन्। यिनीहरूको उत्पत्ति आफैं होइन, गुरुबाट हुन्छ। जो उपर्युक्त मेरा विभूतिहरूलाई साक्षात् जान्दछ, त्यो निःसन्देह ममा एकीभावले प्रवेश गर्ने योग्य छ।

अर्जुन! म नै सबैको उत्पत्तिको कारण हुँ– यस्तो जसले श्रद्धाले जान्दछन्, उनी अनन्यभावले मलाई नै चिन्तन गर्दछन्, निरन्तर ममा मन, बुद्धि र प्राणबाट लाग्ने हुन्छन्, ती आपसमा मेरो गुण–चिन्तन र ममा रमन गर्दछन्। त्यस निरन्तर संयुक्त भएका पुरुषहरूलाई म योगमा प्रवेश गर्ने बुद्धि प्रदान गर्दछु। यो पनि मेरो देन हो। कुन प्रकारले बुद्धियोग दिनुहुन्छ? अनि अर्जुन! **'आत्मभावस्थ'**– उनीहरूको आत्मामा जागृत भएर खडा हुन्छु र उनीहरूको हृदयमा अज्ञानबाट उत्पन्न भएको अन्धकारलाई ज्ञानरूपी दीपकले नष्ट गर्दछु।

अर्जुनले प्रश्न गरे– भगवन् ! तपाई परम पवित्र, सनातन, दिव्य, अनादि र सर्वत्र व्याप्त हुनुहुन्छ– यस्तो महर्षिगण भन्दछन् तथा वर्तमानमा देवर्षि नारद, देवल, व्यास र तपाई पनि त्यही भन्नुहुन्छ। त्यो सत्य पनि हो, किनकि तपाईलाई न देवताले जान्दछन्, न दानवले। स्वयं तपाई जसलाई जनाउनु हुन्छ, ऊ नै जान्न पाउँछ। तपाई नै आफ्नो विभूतिहरूलाई भन्नमा समर्थ हुनुहुन्छ। अतः जनार्दन! तपाई आफ्ना विभूतिहरूलाई विस्तारपूर्वक भन्नुस्। पूर्तिपर्यन्त इष्टबाट सुनिरहने उत्कण्ठा बनाई राख्नु पर्छ। अगाडि इष्टको अन्तरालमा के छ? त्यसलाई साधकले कसरी जानून्।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथैकादशोऽध्यायः ।।

एघारौं अध्याय

गत अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले आफ्नो मुख्य-मुख्य विभूतिहरूको संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत गर्नुभयो; तर अर्जुनलाई लाग्यो कि उसले विस्तारपूर्वक सुनिसके। उसले भन्यो कि तपाईका वाणी सुनेर मेरो सम्पूर्ण मोह नष्ट भइसक्यो तर तपाईले जे भन्नुभयो, त्यसलाई म प्रत्यक्ष हेर्न चाहन्छु। सुन्नु र देख्नुमा पश्चिम र पूर्वको अन्तर छ। हिडेर देखेमा वस्तु-स्थिति केही अर्कै हुन्छ। अर्जुनले त्यस रूपलाई देखेपछि काम्न थाले, क्षमा-याचना गर्न थाले। के ज्ञानी भयभीत हुन्छ? उसलाई केही जिज्ञासा रहन जान्छ? होइन, बौद्धिक स्तरको जानकारी सधैं धमिलो रहन्छ। हो, त्यसले यथार्थ ज्ञानको लागि प्रेरणा अवश्य दिन्छ। यसैले अर्जुनले निवेदन गरे-

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

भगवन्! ममाथि अनुग्रह गर्नको लागि, जुन तपाईद्वारा गोपनीय अध्यात्ममा प्रवेश दिलाउने उपदेश भनियो, त्यसबाट मेरो यो अज्ञान नष्ट भयो, म ज्ञानी भएँ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

किनकि हे कमलनेत्र! मैले भूतहरूको उत्पत्ति र प्रलय तपाईसँग विस्तारपूर्वक सुनेकोछु तथा तपाईको अविनाशी प्रभाव पनि सुनेकोछु।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

हे परमेश्वर! तपाई आफूलाई जस्तो भन्नुहुन्छ, यो ठीक यस्तो नै छ, यसमा कुनै सन्देह छैन; तर मैले यसलाई सुनेको मात्रछु। अतः हे पुरुषेत्तम! त्यस ऐश्वर्ययुक्त स्वरूपलाई म प्रत्यक्ष देख्न चाहन्छु।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

हे प्रभो! मद्वारा तपाईको त्यो रूप देख्न सम्भव छ, यदि तपाई यस्तो मान्नुहुन्छ भने हे योगेश्वर! तपाई आफ्नो अविनाशी स्वरूपको दर्शन मलाई गराउनुस्। यसमा योगेश्वरले कुनै प्रतिवाद गर्नुभएन; किनकि अघि पनि उहाँले स्थान-स्थानमा भन्नुभएको छ कि तिमी मेरो अनन्य भक्त र प्रिय सखा हौ। अतः बडो प्रसन्नताका साथ उहाँले आफ्नो स्वरूप दर्शाउनु भयो-

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

पार्थ! मेरो सयौं तथा हजारौं विभिन्न प्रकारको र विभिन्न वर्ण तथा आकृति भएको दिव्यस्वरूपलाई हेर।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

हे भारत! अदितिका बाहौं पुत्रहरू, आठौ वसुहरू, एकादश रुद्रहरू, दुबै अश्विनीकुमारहरू र उनन्चास मरुद्गणहरूलाई हेर तथा धेरै पहिले तिमीद्वारा कहिले पनि नदेखेको आश्चर्यमय रूपहरूलाई हेर।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

अर्जुन! अब मेरो यस शरीरमा एउटै स्थानमा स्थित भएको चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्‌लाई हेर तथा अझै केही हेर्न चान्हन्छौ भने त्यो हेर।

यसप्रकार तीन श्लोकहरूसम्म भगवान् लगातार देखाउँदै जानुभयो तर अर्जुनलाई केही देखिएन (ऊ आँखा मिच्दै रहे) अतः यसरी देखाउँदै भगवान् एक्कासी रोकिनुभयो र भन्नुहुन्छ–

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

अर्जुन! तिमीले मलाई आफ्नो आँखाहरूद्वारा अर्थात् बौद्धिक दृष्टिद्वारा हेर्नमा समर्थ छैनौं, यसैले म तिमीलाई दिव्य अर्थात् अलौकिक दृष्टि दिन्छु, जसबाट तिमी मेरो प्रभाव र दिव्य योगशक्तिलाई हेर।

यता योगेश्वर श्रीकृष्णको कृपा–प्रसादले अर्जुनलाई त्यही दृष्टि प्राप्त भयो, उनले हेरे र उता योगेश्वर व्यासको कृपा–प्रसादले त्यही दृष्टि सञ्जयलाई मिलेको थियो। जुन कुरा अर्जुनले देखे, अक्षरशः त्यही कुरा सञ्जयले पनि देखे र त्यसको प्रभावले आफूलाई कल्याणको भागी बनाए। स्पष्ट छ कि श्रीकृष्ण एक योगीको समकक्ष हुनुहुन्छ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

सञ्जयले भने– हे राजन्! महायोगेश्वर हरिले यसप्रकार भनेर त्यसपछि पार्थलाई आफ्नो परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्यस्वरूप देखाउनुभयो। जो स्वयं योगी छ र अरूलाई पनि योग प्रदान गर्ने क्षमता जसमा हुन्छ, जो योगको स्वामी हो, त्यसलाई योगेश्वर भनिन्छ? यसप्रकार सर्वस्वको हरण गर्ने हरि हुनुहुन्छ। यदि मात्र दुःखको हरण गर्‍यो र सुखलाई छोडिदियो भने दुःख आउनेछ। अतः सबै पापहरूको नाशको साथै सर्वस्व हरण गरेर आफ्नो स्वरूप दिनमा जो सक्षम छ, त्यो नै हरि हो। वहाँले पार्थलाई आफ्नो दिव्यस्वरूप देखाए। सामुन्ने त उभिएका नै थिए।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

अनेकौं मुख र नेत्रहरूलेयुक्त, अनेकौं अदभुत दर्शनहरूवाला, अनेकौं दिव्यभूषणहरूले युक्त र अनेकौं दिव्यशस्त्रहरूलाई हातमा उठाएका तथा–

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

दिव्यमाला र वस्त्रहरूलाई धारण गरेर, दिव्यगन्धको अनुलेपन गरेका, सबैप्रकारका आश्चर्यहरूलेयुक्त, सीमारहित विराट् स्वरूप परमदेवको दृष्टि मिलेपछि अर्जुनले देखे।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

(अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र, संयमरूपी सञ्जय– जस्तो कि अगाडि आएको छ) सञ्जयले भने– हे राजन्! आकाशमा एकसाथ हजारौं सूर्यहरूको उदय हुनाले जति प्रकाश हुन्छ, त्यो पनि विश्वरूप ती महात्माको प्रकाशको सदृश कदाचित् नै छ। यहाँ श्रीकृष्ण महात्मा नै छ, योगेश्वर थिए।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

पाण्डुपुत्र अर्जुनले (पुण्य नै पाण्डु हो। पुण्य नै अनुरागलाई जन्म दिन्छ) त्यस समय अनेकौं प्रकारले विभक्त भएको सम्पूर्ण संसारलाई ती परमदेवको शरीरमा एक ठाउँमा स्थित भएको देखे।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

तत्पश्चात् आश्चर्यले युक्त, हर्षित रोमवाला (रोमांच)भएको अर्जुन परमात्मदेवलाई शिरले प्रणाम गरेर (पहिले पनि प्रणाम गर्दथे, तर प्रभाव देखेपछि सादर प्रणाम गरेर) हात जोरेर भने। यहाँ अर्जुनले अन्तःकरणले नमन गरे र भने–

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

हे देव! तपाईको शरीरमा म सम्पूर्ण देवहरूलाई तथा अनेकौं भूतहरूको समुदायलाई, कमलको आसनमा बसेका ब्रह्मालाई, महादेवलाई, सम्पूर्ण ऋषिहरूलाई तथा दिव्य सर्पहरूलाई देख्दछु। यो प्रत्यक्ष दर्शन थियो, मात्र कपोल कल्पना होइन; तर यस्तो तब मात्र संभव छ, जब योगेश्वर, पूर्णत्वप्राप्त महापुरुष हृदयदेखि दृष्टि प्रदान गरुन्। यो साधनगम्य छ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

विश्वका स्वामी! म तपाईलाई अनेकौं हात, पेट, मुख र नेत्रहरूले युक्त तथा सबैतिरबाट अनन्तरूपहरू भएको देख्दछु। हे विश्वरूप! न म तपाईको आदिलाई, न मध्यलाई र न अन्तलाई नै देखिरहेको छु अर्थात् तपाईको आदि, मध्य र अन्तको निर्णय गर्न सकिरहेको छैन।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।

म तपाईलाई मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त, सबैतिरबाट प्रकाशमान तेजपुंज स्वरूप, प्रज्वलित अग्नि र सूर्य सदृश हेर्नमा दुष्कर अर्थात् कठिनाईले हेर्न सकिने र सबैतिरबाट बुद्धि आदिले ग्रहण नहुनसक्ने अप्रमेय हेर्छु। यसप्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियहरूद्वारा पूर्णतया समर्पित भएर योगेश्वर श्रीकृष्णलाई यस रूपमा हेरेर अर्जुन उनको स्तुति गर्न लागे-

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

भगवन्! तपाई जान्नेयोग्य परम अक्षर अर्थात् अक्षय परमात्मा हुनुहुन्छ। तपाई यस जगत्को परम आश्रय हुनुहुन्छ, तपाई शाश्वत धर्मका रक्षक हुनुहुन्छ तथा तपाई अविनाशी सनातन पुरुष हुनुहुन्छ– यस्तो मेरो मत छ। आत्माको स्वरूप के हो? शाश्वत हो, सनातन हो, अव्यक्त रूप हो, अविनाशी हो। यहाँ श्रीकृष्णको कस्तो स्वरूप छ? त्यही शाश्वत, सनातन, अव्यय, अविनाशी! अर्थात् प्राप्तिपश्चात् महापुरुष पनि त्यही आत्मभावमा स्थित हुन्छ। त्यसैले त भगवान् र आत्मा एउटै लक्षणवाला हुन्।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

हे परमात्म्! म तपाईलाई आदि, मध्य र अन्तरहित, अनन्त सामर्थ्यले युक्त, अनन्त हातहरूभएका (पहिले हजारौं थिए, अब अनन्त भए), चन्द्रमा र सूर्यरूपी नेत्रहरू भएका (तब त भगवान् एकआँखे भए। एउटा आँखा चन्द्रमा जस्तो क्षीण प्रकाश भएको दोस्रो सूर्यझैं सतेज, तर यस्तो केही होईन। सूर्यझैं प्रकाश प्रदान गर्ने र चनद्रमाझैं शीतलता प्रदान गर्ने गुण केवल भगवान्मै छ। चन्द्र–सूर्य केवल प्रतीक मात्र हुन् अर्थात् चन्द्रमा र सूर्यको दृष्टिवाला) तथा बल्दो अग्निरूपी मुख भएका तथा आफ्नो तेजले यस जगत्लाई तप्त पारिरहेका देख्दछु।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

हे महात्मन्! अन्तरिक्ष र पृथ्वीका माझको सम्पूर्ण आकाश तथा सबै दिशाहरू एकमात्र तपाईबाट नै परिपूर्ण छ। तपाईको यो अलौकिक, भयंकर रूप देखेर तीनवटै लोक अत्यन्त व्यथित भइरहेका छन्।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

ती देवताहरूको समूह तपाईमै प्रवेश गरिरहेका छन् र केही भयभीत भएर हात जोरेर तपाईका गुणहरूको गान गरिरहेका छन्। महर्षि र सिद्धहरूको समुदाय स्वस्तिवाचन अर्थात् कल्याण होस्, यस्तो भनेर सम्पूर्ण स्तोत्रहरूद्वारा तपाईको स्तुति गरिरेका छन्।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, वायुदेव, उष्मपाः- ईश्वरीय उष्मा ग्रहण गर्नेवाला, पितृ तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस र सिद्धहरूको समुदाय सबै आश्चर्यले तपाईलाई हेरिरहेका छन् तर्थात् हेरेर पनि बुझ्न सकिरहेका छैनन् किनकि उनीहरूसँग त्यो दृष्टि नै छैन। श्रीकृष्णले पछि भन्नुभएको थियो कि आसुरी स्वभाव भएका मानिसरू मलाई तुच्छ भनेर सम्बोधित गर्दछन्, सामान्य मानिस जस्तो मान्दछन्, जबकि म परमभावमा परपेश्वर रूपमा स्थित छु। यद्यपि हुँ मानिस-शरीरको आधारवाला। त्यसैको विस्तार यहाँ छ कि उनीहरू आश्चर्यले हेरिरहेका छन्, यथार्थतः सम्झिरहेका छैनन्- हेर्न पाइरहेका छैनन्।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

महाबाहो! (श्रीकृष्ण महाबाहु हुनुहुन्छ र अर्जुन पनि। प्रकृतिबाट पर महान् सत्तामा जसको कार्यक्षेत्र छ, त्यो महाबाहु हो। श्रीकृष्ण महानताको क्षेत्रमा पूर्ण हुनुहुन्छ, अधिकतम सीमामा हुनुहुन्छ। अर्जुन त्यसैले प्रवेशिकामा छ, बाटोमा छ। लक्ष्य बाटोको अर्को टुप्पा नै हो) महाबाहु योगेश्व! तपाईको धेरै मुख र नेत्रहरूवाला, धेरै हात-तिघ्रा र पाउहरूवाला, अनेक उदरहरूवाला तथा धेरै विकराल दाह्रा भएका महान् रूप देखेर सबैलोक व्याकुल भइरहेका छन् तथा म पनि व्याकुल भइरहेको छु। अब अर्जुनलाई केही भय भइरहेको छ कि श्रीकृष्ण यति महान् छन्।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

विश्वमा सर्वत्र अणुरूपले व्याप्त हे विष्णु! आकाशलाई स्पर्श गरिरहेका प्रकाशमान, अनेक रूपहरूले युक्त, फैलाइएको मुख र प्रकाशमान विशाल नेत्रहरूले युक्त तपाईलाई देखेर विशेषरूपले भयभीत अन्तःकरणवाला म धैर्य र मनको समाधानरूपी शान्ति पाइरहेको छैन।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

तपाईको विकराल दाह्रा भएका र कालाग्नि (कालको पनि अग्नि हुन् परमात्मा) झैं बल्दो मुखहरू देखेर म दिशाहरूलाई जान्न सकिरहेको छैन। चारैतिर प्रकाश देखेर दिशाभ्रम भइरहेको छ। तपाईको यो रूप देखेर मलाई सुख पनि प्राप्त भइरहेको छैन। हे देवेश! हे जगन्निवास! तपाई प्रसन्न हुनुहोस्।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

ती सबै धृतराष्ट्रका पुत्रहरू राजाहरूको समुदायसहित तपाईमा प्रवेश गर्दैछन् र भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा त्यो कर्ण (जोसंग अर्जुन धेरै भयभीत थियो, त्यो कर्ण) एवम् हाम्रो पक्षका पनि प्रधान योद्धाहरू समेत सबै-

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।२७।।

ठूलो वेगले तपाईको विकराल दाह्राभएका भयानक मुखहरूमा प्रवेश गरिरहेका छन्। तथा तीमध्ये कतिपय चूर्ण (धूलो) भएको टाउकोसहित तपाईका दाँतहरूका बीचमा अल्झेका देखिएका छन्। तिनीहरू कति वेगले प्रवेश गर्दैछन्? अब उनीहरूको वेगलाई हेरौं-

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

जस्तै नदीहरूको विशाल जल-प्रवाह (आफैंमा विकराल भए पनि) समुद्रतिर दौडछन्, समुद्रमै प्रवेश गर्दछन्, ठीक त्यसैप्रकार ती शूरवीर मानिसहरूमा समुदाय तपाईका प्रज्वलित मुखहरूमा प्रवेश गरिरहेका छन्। अर्थात् उनीहरू आफैंमा शूरवीर छन् तर तपाई समुद्रवत् हुनुहुन्छ। तपाईको समक्ष उनीहरूको बल अत्यल्प छ। उनीहरू किन र कसरी प्रवेश गर्दैछन्? यसको लागि उदाहरण प्रस्तुत छ-

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

जस्तै पुतली नष्ट हुनको लागि प्रज्वलित अग्निमा अतिवेगले प्रवेश

गर्दछन्, त्यस्तै यी सबै प्राणीहरू पनि आफ्नै नाशको लागि तपाईको मुखहरूमा अत्यन्त बढेको वेगले प्रवेश गरिरहेका छन्।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

तपाई ती समस्त लोकहरूलाई प्रज्वलित (बल्दो) मुखहरूद्वारा सबैतिरबाट चाट्दै निलिरहनु भएको छ, आस्वादन गर्दै हुनुहुन्छ। हे व्यापनशील परमात्मन्! तपाईको उग्र प्रभा सम्पूर्ण जगत्लाई आफ्नो तेजले व्याप्त गरेर तताई रहेछ। तात्पर्य यो कि पहिले आसुरी सम्पद् परमतत्वमा विलीन हुन्छ, तत्पश्चात् दैवी सम्पद्को कुनै प्रयोजन रहदैन, यसैले त्यो पनि त्यसै स्वरूपमा विलीन हुन्छ। अर्जुनले देखे कि कौरव पक्ष, त्यसपछि उसको आफ्नै पक्षका योद्धा श्रीकृष्णके मुखमा विलीन हुँदै गइरहेका छन्। उनले सोधे–

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

मलाई भन्नुस् कि भयंकर आकार भएको तपाईको हुनुहुन्छ? हे देवहरूमा श्रेष्ठ! तपाईलाई नमस्कार छ, तपाई प्रसन्न हुनुहोस्। आदिस्वरूप म तपाईलाई राम्ररी जान्न चाहन्छु (जस्तै, तपाई को हुनुहुन्छ? के गर्न चाहनुहुन्छ?); किनकि तपाईको प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टाहरूलाई सम्झिरहेको छैन। यसमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो–

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

अर्जुन! म लोकहरूलाई नाश गर्ने बढेको काल हुँ र यस समय यी संपूर्ण लोकहरूलाई नष्ट गर्नको लागि प्रबृत्त भएको हुँ। प्रतिपक्षीहरूका सेनामा स्थित जति योद्धाहरू छन्, ती सबै तिमी नभए पनि रहँदैनन्, जीवित पनि रहनेछैनन्, यसैले प्रवृत्त भएको छु।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

यसैले अर्जुन! तिमी युद्धको लागि खडा होऊ, यश प्राप्त गर। शत्रुहरूलाई जित, समृद्धिसम्पन्न राज्यलाई भोग। यी सबै शूरवीर मेरोद्वारा अघिनै मारिएका हुन्। सव्यसाचिन्! तिमी केवल निमित्त मात्र बन्।

प्रायः सर्वत्र श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि त्यो परमात्मा न केही स्वयं गर्दछ, न गराउँदछ, न संयोग नै जोर्छ, मोहावृत्त बुद्धिले गर्दा नै मानिस भन्दछन् कि परमात्माले गराउँछ; तर यहाँ उनी स्वयं ताल ठोकेर खडा हुनुहुन्छ कि अर्जुन! कर्ता–धर्ता त म हुँ। मद्वारा इनीहरू अघिनै मारिएका हुन्। तिमी खडा मात्र होउ र यशलाई लेउ। यस्तो यस कारण कि '**सो केवल भगतन हित लागी।**' अर्जुन त्यही अवस्थालाई प्राप्त गरेको थियो कि भगवान् स्वयं ताल ठोकेर खडा हुनुभयो। अनुरागी नै अर्जुन हो। अनुरागीको लागि भगवान् सधैं खडा हुनुहुन्छ, उनीहरूको लागि कर्त्ता हुनुहुन्छ, रथी बन्नुहुन्छ।

यहाँ गीतामा तेस्रो पटक साम्राज्यको प्रकरण आयो। पहिले अर्जुन लड्न चाहँदैनथे। उसले भने कि पृथ्वीको धन–धान्यसम्पन्न अकण्टक साम्राज्य तथा देवताहरूको स्वामीपन अथवा त्रैलोक्यको राज्यमा पनि म त्यस उपायलाई हेर्दिन, जो इन्द्रियहरूलाई सुखाउने मेरो ययस शोकलाई हटाउन सकुन्। जब पिडा बनेकै हुन्छ भने मलाई चाहिंदैन। योगेश्वरले भने– यस युद्धमा हारेपछि देवत्व र जितेपछि महामहिमको स्थिति मिल्नेछ र यहाँ एघारौं अध्यायमा भन्नुहुन्छ कि, यी शत्रुहरू मद्वारा मारिएका छ, तिमी निमित्तमात्र भएर बस, यशलाई प्राप्त गर र समृद्ध राज्यलाई भोग। फेरि त्यही कुरा, जुन कुराबाट

अर्जुन झस्किन्छ, जसबाट उसले शोक समाप्त भएको देख्दैन, के श्रीकृष्ण फेरि पनि त्यही राज्य दिनु हुनेछ? होइन, वस्तुतः विकारहरूको अन्त्यको साथ परमात्मस्वरूपको स्थिति नै वास्तविक समृद्धि हो, जो स्थिर सम्पत्ति हो। जसको कहिले विनाश हुँदैन– राजयोगको परिणाम हो।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

यी द्रोण, भीष्म, जयद्रथ र कर्ण तथा अन्यान्स धेरैजना मद्वारा मारिएका शूरवीर योद्धाहरूलाई तिमी मार, भय नगर, संग्राममा विरोधीहरूलाई तिमी अवश्य जित्नेछौं, यसैले युद्ध गर। यहाँ पनि योगेश्वरले भन्नुभयो– यिनीहरू मद्वारा मारिएका हुन्। यी मारिएकाहरूलाई तिमी मार र स्पष्ट गर्नुभयो कि म कर्त्ता हुँ, जबकि पाँचौं अध्यायको १३, १४ एवं १५ श्लोकमा उहाँले भन्नुभएको थियो– भगवान् अकर्त्ता हुनुहुन्छ। अठारौं अध्यायमा उहाँ भन्नुहुन्छ– शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक कार्य हुनमा पाँच माध्यमहरू छन्– अधिष्ठान, कर्ता, करा, चेष्टा र दैव। जो भन्दछन्– कैवल्य स्वरूप परमात्मा गर्दछ, उनीहरू अविवेकी हुन्, यथार्थ जान्दैनन् अर्थात् भगवान्ले गर्दैन। यस्तो विरोधाभास किन?

वस्तुतः प्रकृति र त्यस परमातम–पुरुषको बीच एउटै सीमारेखा छ। जबसम्म प्रकृतिका परमाणुहरूको दवाव बढ़ी रहन्छ, तबसम्म माया प्रेरणा दिन्छन् र जब साधक त्योभन्दा माथि उठ्छ, ईश्वर, इष्ट अथवा सद्‌गुरुको कार्यक्षेत्रमा प्रवेश गर्छ, तत्पश्चात सद्‌गुरु इष्ट (याद रहोस् कि प्रेरकको स्थानमा सद्‌गुरु, आत्मा, परमात्मा, इष्ट, भगवान् पर्यायवाची हुन्। जो भने पनि भवगान्ले ने भन्छ) हृदयमा रथी हुन्छ, आत्मादेखि जागृत भएर त्यस अनुरागी साधकको स्वयं पथ–संचालन गर्न लाग्दछ।

'पूज्य महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो– "हो, जुन परमात्माको हामीलाई चाहना छ, जुन सतहमा हामी खड़ा छौं, त्यस सतहमा स्वयं ओर्लेर जबसम्म आत्माबाट

जागृत हुँदैन, तबसम्म सही मात्रामा साधनको आरम्भ हुँदैन। त्यस पछाडि जे जति साधकबाट पार लाग्छ, त्यो उनको देन हो। साधक त निमित्त मात्र भएर उनको संकेत र आदेशानुसार हिड्ने मात्र गर्छ। साधकको विजय उनको देन हो। यस्तो अनुरागीको लागि ईश्वर आफ्नो दृष्टिले देख्छ, देखाउँछ र आफ्नो स्वरूपसम्म पुऱ्याउँछ।'' यही श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि मद्वारा मारिएका यी शत्रुहरूलाई मार। निश्चय नै तिम्रो विजय हुनेछ, म तिम्रो समक्ष खडा छु।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

सञ्जयले भने- (जे जति अर्जुनले देखे, ठीक त्यस्तै नै सञ्जयले देखेको छ। अज्ञानले आच्छादित मन नै अन्धो धृतराष्ट्र हो, तर यस्तो मन पनि संयमको माध्यमले राम्ररी देख्दछ, सुन्छ र बुझ्दछ) केशवका यी उपर्युक्त वचनलाई सुनेर किरीटधारी अर्जुन भयभीत भएर काम्दै हात जोडेर, नमस्कार गरेर फेरी श्रीकृष्णसँग यसप्रकार गद्गद् भएको वाणीले नै भने-

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।।३६।।

हे अन्तर्यामिन् हृषीकृश! यो उचित नै छ कि तपाईको कीर्तिले संसार हर्षित हुन्छ र अनुरागलाई प्राप्त गर्छ। तपाईकै महिमाले भयभीत भएको राक्षस दिशाहरूमा भाग्दछन् र सबै सिद्धगणहरूको समुदाय तपाईको महिमालाई देखेर नमस्कार गर्दछन्।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

हे महात्मन् ब्रह्माको पनि आदिकर्त्ता र सबैभन्दा ठूलो तपाईको लागि ती सबै कसरी नमस्कार नगरुन्; किनकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! सत्, असत् र त्यो भन्दा पनि पर अक्षर अर्थात् अक्षयस्वरूप तपाई नै हुनुहुन्छ? अर्जुनले अक्षयस्वरूपको प्रत्यक्ष दर्शन गरेका थिए। केवल बौद्धिक स्तरमा कल्पना गर्ने वा मानिलिनाले मात्र यस्तो स्थिति मिल्दैन जो अक्षय हो। अर्जुनको प्रत्यक्ष दर्शन उसको आन्तरिक अनुभूति हो। उसले सविनय भने–

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

तपाई आदिदेव र सनातन पुरुष हुनुहुन्छ। तपाई यस जगत्का परम आश्रय र जान्ने तथा परमधाम हुनुहुन्छ। हे अनन्तस्वरूप! तपाईबाट यी सम्पूर्ण जगत् व्याप्त छ। तपाई सर्वत्र हुनुहुन्छ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

तपाई नै वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजाका स्वामी ब्रह्मा र ब्रह्माका पनि पिता हुनुहुन्छ। तपाईलाई हजारौं पटक नमस्कार छ। फेरि पनि पटक-पटक नमस्कार छ। अतिशय श्रद्धा र भक्तिको कारण नमन गर्दैजाँदा पनि अर्जुनलाई तृप्ति भइरहेको छैन। उसले भन्दछ–

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

हे अत्यन्त सामर्थ्यशाली! तपाईलाई अघि र पछिबाट पनि नमस्कार छ। हे सर्वात्मन्! तपाईलाई चारैतिरबाट नमस्कार छ, किनकि हे अत्यन्त पराक्रमशाली! तपाईले सबैतिरबाट संसारलाई व्याप्त गर्नुभएको छ, यसैले तपाई नै सर्वरूप र सर्वत्र हुनुहुन्छ। यसप्रकार पटक-पटक नमस्कार गरेर भयभीत अर्जुन आफ्नु भूलहरूको लागि क्षमायाचना गर्दछ-

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।

तपाईको यस प्रभावलाई न जानेर तपाईलाई सखा, मित्र मानेर मद्वारा प्रेम अथवा प्रमादले पनि हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा- यसप्रकार जे जति पनि हठपूर्वक भनिएको छ तथा-

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

हे अच्युत! जो तपाईलाई हाँसोको लागि विहार, शय्या, आसन तथा भोजनादिहरूमा एक्लै अथवा ती मानिसहरूको समक्ष पनि अपमानित हुनु भएको छ, त्यो सबै अपराध अचिन्त्य प्रभाव तपाईसँग म क्षमा गराउँछु। कसरी क्षम गर्ने?-

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

तपाई यस चराचर जगत्का पिता, गुरुभन्दा पनि ठूला गुरु र अति पूजनीय हुनुहुन्छ। जसको कुनै प्रतिमा छैन, यस्ता अप्रतिम प्रभाव! तपाईको समान तीनैवटै लोकहरूमा अर्को कोही छैन, फेरि बढी कसरी हुनेछ? तपाई सखा पनि होइन, सखा त समकक्ष हुन्छ।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

तपाई चराचरका पिता हुनुहुन्छ, यसैले म आफ्नो शरीरलाई राम्ररी तपाईका पाऊँमा राखेर प्रणाम गरेर, स्तुति गर्ने योग्य तपाई ईश्वरलाई प्रसन्न हुनको लागि प्रार्थना गर्दछु। हे देव! पिता जसरी पुत्रको, सखा जसरी सखाको र पति जसरी प्रिय स्त्रीको अपराधहरूलाई क्षमा गर्दछन्, त्यस्तै तपाई पनि मेरो अपराधहरूलाई सहन गर्ने योग्य हुनुहुन्छ। अपराध के थियो? मैले कहिले हे यादव! हे सखा! हे कृष्ण! भनेको थिएँ। समाजको समक्ष अथवा एकान्तमा भनेको थिएँ। भोजनको समय अथवा सुत्ने समयमा भनेको थिएँ। के कृष्ण भन्नु अपराध थियो? कालो थिए नै, गोरो कसरी भनियोस्? यादव भन्नु पनि अपराध थिएन, किनकि स्वयं श्रीकृष्ण पनि आफूलाई अर्जुनको सखा मान्दथे। जब कृष्ण भन्नु अपराध नै हो, एक पटक कृष्ण भनेको मा अर्जुन अनन्त बार गिडगिढाएर क्षमायाचना गर्दैछन्, अनि जप कसको गरूँ? नाम कसको लिने?

वस्तुतः चिन्तनको जस्तो विधान स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभएको छ त्यस्तै तपाई गर्नुस्। उहाँले पछाडि भन्नुभयो– '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।**'– अर्जुन! 'ॐ' बस यति नै अक्षय ब्रह्मको परिचायक हो। यसका तिमी जप गर र ध्यान मेरो गर; किनकि त्यस परमभावमा प्रवेश पाएपछि त्यो महापुरुषको पनि त्यही नाम हो, जो त्यस अव्यक्तको परिचायक हो। प्रभाव देखेपछि अर्जुनले थाहा पाए कि यो न त काला न गोरा, न सखा हो न यादव, यो त अक्षय ब्रह्माको स्थितिवाला महात्मा हुन्।

सम्पूर्ण गीतामा योगेश्वर श्रीकृष्णले पाँच पटक 'ओम्'को उच्चारण माथि जोड (बल) दिनुभयो। अब यदि तपाईलाई जप गर्नुछ भने कृष्ण–कृष्ण नभनेर 'ओम्'को नै जप गर्नुस्। प्रायः भाविक मानिस कुनै न कुनै उपाय निकाली हाल्छ। कोही 'ओम्' जपने अधिकार र अनधिकारको चर्चाले भयभीत छ, त कोही महात्माहरूको दुहाई दिन्छन् अथवा कोही श्रीकृष्ण मात्रै होइन, उभन्दा पहिले राधा र गोपीहरूको नाम पनि उहाँको शीघ्र प्रसन्नताको लोभमा जप्छन्। पुरुष श्रद्धामय छ, यसैले उसको यस्तो जप्नु मात्र भावुकता हो। यदि तपाई वास्तवमा भावुक हुनुहुन्छ भने वहाँको आदेशको पालन गर्नुस्। उहाँ अव्यक्तमा स्थित भएर पनि आज तपाईको समक्ष हुनुहुन्न तर उहाँको वाणी तपाई समक्ष छ। वहाँको आज्ञाको पालन गर्नुस् अन्यथा तपाई नै बताउनुस् कि गीतामा तपाईको के स्थान छ? हो यति अवश्य छ कि '**अध्येष्यते च य इमं श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।**' जसले अध्ययन गर्दछ, सुन्दछ, त्यो ज्ञान तथा यज्ञलाई जान्दछ, शुभलोकलाई पाउँछ। अतः अध्ययन अवश्य गर्नुस्।

प्राण–अपानको चिन्तनमा 'कृष्ण' नामको क्रम पकडमा आउदैनन्। धेरै मानिसरू मात्र भावुकतावश केवल 'राधे–राधे' भन्न लागेका छन्। आजभोली अधिकारीहरूद्वारा काम न भएमा उसको सम्बन्धिहरूबाट, प्रेमी वा पत्नीसँग 'सोर्स' लगाएर काम गराउने परम्परा छ। मानिसहरू सोच्दछन् कि कदाचित् भगवान्को घरमा पनि यस्तै चल्छ होला अतः उनीहरूले 'कृष्ण' भन्नु बन्द गरेर राधे–राधे भन्न आरम्भ गरे। उनीहरू भन्दछन्– राधे–राधे! श्याम मिला दे। राधा एक पटक विछोड भएपछि आफै श्यामसंग भेट्न सकिनन् उनी तपाईलाई कसरी मिलाउन सक्छिन। अन्य कसैको भनाई नमानेर त्यो श्रीकृष्णको आदेशलाई तपाईले अक्षरशः मानी ओम्को जप गर्नुस्। हो, यहाँसम्म उचित छ कि राधा हाम्रो आदर्श हुन्, त्यतिकै लगनबाट हामीलाई पनि लाग्नु पर्छ। यदि पाउनु छ भने राधा जस्ती विरहिनी बन्नुपर्छ।

अगाडि पनि अर्जुनले 'कृष्ण' भने। 'कृष्ण' उनको प्रचलित नाम थियो। यस्तै अनेकौं नाम थिए, जस्तै 'गोपाल', तर धेरै साधक गुरु–गुरु वा गुरुको प्रचलित नाम भावुकतावश जप्न चाहन्छन्; तर प्राप्तिपश्चात् प्रत्येक महापुरुषको त्यही नाम हो, जुन अव्यक्तमा त्यो स्थित छ। धेरै शिष्यले प्रश्न गर्दछन्–

"गुरुदेव! जब ध्यान तपाईको गर्दछु तब पुरानो नाम 'ओम्' इत्यादि किन जप्ने, 'गुरु-गुरु' अथवा कृष्ण-कृष्ण किन न भनौं।" तर यहाँ योगेश्वरले स्पष्ट गर्नुभयो कि, अव्यक्त स्वरूपमा विलयका साथै महापुरुषको पनि त्यही नाम छ, जसमा त्यो स्थित छ। 'कृष्ण' सम्बोधन थियो, जप्ने नाम होइन।

योगेश्वर श्रीकृष्णसँग अर्जुनले आफ्नो अपराधको लागि क्षमायाचना गरे, उहाँलाई स्वाभविक रूपमा आउनको लागि प्रार्थना गरे। श्रीकृष्णले मान्नु भयो, सहज हुनुभयो अर्थात् उसलाई क्षमा पनि गरिदिनुभयो। उसले निवेदन गरे-

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अहिलेसम्म अर्जुनको समक्ष योगेश्वर विश्वरूपमा हुनुहुन्छ। अतः ऊ भन्दछ कि पहिले नदेखेको तपाईको यस आश्चर्यमय रूपलाई देखेर हर्षित भइरहेको छु तथा मेरो मन भयले अतिव्याकुल पनि भइरहेको छ। पहिले त सखा सम्झन्थें, धनुर्विद्यामा कदाचित् आफूलाई केही अगाडी नै पाउँदथे। तर अब प्रभाव देखेर डर भइरहेको छ। पछिल्लो अध्यायमा प्रभाव सुनेर उसले आफूलाई ज्ञानी मान्दथे। ज्ञानीलाई कति पनि भय हुँदैन? वस्तुतः प्रत्यक्ष दर्शनको प्रभाव नै विलक्षण हुन्छ। सबै कुरा सुनेर र मानेर पछि हिडेर सबैथोक जान्न बाँकी नै रहन्छ। ऊ भन्दछ- पहले नहेरेको तपाईको यस्तो रूप देखेर म हर्षित भइरहेको छु। मेरो मन भयले व्याकुल पनि भइरहेको छ। अतः हे देव! तपाई प्रसन्न हुनुस्। हे देवेश! हे जगन्निवास! तपाई आफ्नो त्यहीं रूपलाई देखाउनुस्। कस्तो रूप?-

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

म तपाईलाई त्यस्तै अर्थात् पहिले जस्तै टाउकामा मुकुट धारण गरेको, हातमा गदा र चक्र लिएको हेर्न चाहन्छु। यसैले हे विश्वरूप! हे सहस्त्रबाहु! तपाई आफ्नो त्यही चतुर्भुज स्वरूपमा आउनुस्। कस्तो रूप हेर्न चाहे? चतुर्भुज रूप। अब देख्नुछ कि चतुर्भुज रूप के हो?

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

यसप्रकार अर्जुनको प्रार्थना सुनेर श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! मैले अनुग्रहपूर्वक आफ्नो योगशक्तिको प्रभावले आफ्नो परम तेजोमय, सबैको आदि र सीमारहित विश्वरूप तिमीलाई देखाएँ जसलाई तिमीबाहेक अरू कसैले पहिले देखेनन्।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

अर्जुन! यस मानव–लोकमा यसप्रकार विश्वरूपवाला म न वेदले, न यज्ञले, न अध्ययनले, न दानले, न क्रियाले, न उग्र तपले र न तिमीबाहेक अरुद्वारा देखिन संभव छु, अर्थात् तिमीबाहेक यो रूप अरू कसैले हेर्न वा देख्न सक्दैनन्। तब त गीता तपाईको लागि बेकार छ। भगवद्दर्शनका योग्यताहरू अर्जुनसम्म सीमित रह्यो, जबकि पछाडि भनिसकनु भएको छ कि अर्जुन! राग, भय र क्रोधबाटरहित अनन्य मनले मेरो शरण भएका धेरै मानिस ज्ञानरूपी तपबाट पवित्र भएर साक्षात् मेरो स्वरूपलाई प्राप्त भइसकेका छन्। यहाँ भन्नुहुन्छ– तिमीबाहेक न कसैले देख्न सकेका न भविष्यमा देख्न सकिनेछ। अतः अर्जुन को हुन्? के कुनै पिण्डधारी हुन्, कुनै शरीरधारी हुन्? होइन, वस्तुतः अनुराग नै अर्जुन हो। अनुरागविहीन पुरुषले न कहिले देख्न

सकेका छन् र न भविष्यमा देख्नसक्लान्। सबैतिरबाट चित्त समेटेर एकमात्र इष्टको अनुरूप राग नै अनुराग हो। अनुरागीका लागि नै प्राप्तिको विधान छ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

यसप्रकार मेरो यस विकराल रूपलाई देखेर तिमीलाई व्याकुलता नहोस् र मूढभाव पनि न होस् कि आँत्तिएर अलग होऊ। अब तिमी भयरहित र प्रीतियुक्त मनले मेरो त्यही रूपलाई अर्थात चतुर्भुज रूपलाई फेरि हेर।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

सञ्जयले भने- सर्वत्र वास गर्ने देव ती वासुदेवले अर्जुनलाई यसप्रकार भनेर फेरि त्यस्तै आफ्नो रूप देखाउनुभयो। फेरि महात्मा श्रीकृष्णले 'सौम्यवपुः' अर्थात् प्रसन्न भएर भयभीत अर्जुनलाई धैर्य दिनुभयो। अर्जुनले भने-

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

जनार्दन! तपाईको यस अत्यन्त शान्त मानिसरूपलाई देखेर अब म प्रसन्नचित्त भएँ आफ्नो स्वभावलाई प्राप्त गरेको छु। अर्जुनले भनेका थिए कि, भगवन्! अब तपाई त्यही चतुर्भुज स्वरूपको दर्शन गराउनुस्। योगेश्वरले गराउनु पनि भयो; तर अर्जुनले जब देखे तब के पाए? **'मानुषं रूपं'**- मानिसको रूपलाई देखे। वस्तुतः प्राप्तिको पश्चात् महापुरुष नै चतुर्भुज र अनन्तभुज कहलाउनु हुन्छ। दुई भुजावाला महापुरुष त अनुरागीको समक्ष

बस्नुभएकै छ; तर अन्यत्र कतैबाट कसैले स्मरण गर्छ भने त्यही महापुरुष त्यस स्मरणकर्त्ताबाट जागृत (रथी) भएर त्यसको पनि मार्ग-दर्शन गर्नुहुन्छ। भुजा कार्यको प्रतीक हो। वहाँ भित्र पनि कार्य गर्दछ, बाहिर पनि, यो नै चतुर्भुज स्वरूप हो। उनको हातमा शंख, चक्र, गदा र पद्म क्रमशः वास्तविक लक्ष्यघोष, साधन-चक्रको प्रवर्तन, इन्द्रियहरूको दमन र निर्मल-निर्लेप कार्यक्षमताको प्रतीक मात्र हो। यही कारण छ कि चतुर्भुज रूपमा उनलाई देखेर पनि अर्जुनले उनलाई मानिसरूपमै पाए। चतुर्भुज महापुरुषको शरीर र स्वरूपबाट कार्य गर्ने विधि-विशेषको नाम हो, न कि चार हातवाला कुनै श्रीकृष्ण हुनुहुन्थ्यो।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

महात्मा श्रीकृष्णले भन्नुभयो- अर्जुन! मेरो यस्तो रूप देख्न अतिदुर्लभ छ, जस्तो कि तिमिले देखेका छौ, किनकि देवता पनि सधैं यस रूपको दर्शनको इच्छा राख्दछन्। वस्तुतः सबै मानिस सन्तलाई चिन्न सक्दैनन्। 'पूज्य सत्संगी महाराज' अन्तःप्रेरणा भएको पूर्ण महापुरुष हुनुहुन्थ्यो; तर मानिसहरू वहाँलाई वौलाहा संझन्दै रहे। कुनै-कुनै पुण्यात्मालाई आकाशवाणी भयो कि वहाँ सद्‌गुरु हुनुहुन्छ। मात्र उनीहरूले उनलाई हृदयले समात्ने उनको स्वरूपलाई पाए र आफ्नो गतिलाई पाए। यही श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि जसको हृदयमा दैवी सम्पद् जागृत छ, ती देवता पनि सधैं यस रूपको दर्शनको आकांक्षा राख्दछन्। अनि के यज्ञ, दान अथवा वेदाध्ययनबाट तपाईलाई हेर्न सकिन्छ? त्यो महात्मा भन्नुहुन्छ-

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

न वेदले, न तपले, न दानले र न यज्ञले म यसप्रकार देखिनमा सुलभ छु, जसरी तिमीले देख्यौं। तब के तपाईलाई देख्नका लागि कुनै उपाय छैन? त्यो महात्मा भन्नुहुन्छ, एउटा उपाय छ-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।५४।।

हे श्रेष्ठ तपीवाला अर्जुन! अनन्य भक्तिद्वारा अर्थात् मबाहेक अरू कुनै देवताको स्मरण नगर्दै, अनन्य श्रद्धाले म यसप्रकार प्रत्यक्ष देखिनको लागि, तत्वबाट साक्षात् जान्नको लागि तथा प्रवेश गर्नको लागि पनि सुलभ छु अर्थात् त्यसको प्राप्तिको एकमात्र सुगम माध्यम अनन्य भक्ति हो। अन्त्यमा ज्ञान पनि अनन्य भक्तिमा परिण हुन्छ, जस्तो कि पछिल्लो अध्याय सातमा द्रष्टव्य छ। पछाडि वहाँले भन्नुभयो कि तिमीबाहेक न अरू कसैले देखेको छ न भविष्यमा देख्नेछ, जबकि यहाँ भन्नुहुन्छ कि अनन्य भक्तिले न केवल मलाई देख्न सक्छ, अपितु साक्षात् जान्नु र ममा प्रवेश पनि पाउन सक्छ, अर्थात् अर्जुन अनन्य भक्तको नाम हो, एउटा अवस्थाको नाम हो। अनुराग नै अर्जुन हो। अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

हे अर्जुन! जो पुरुष मद्वारा निर्दिष्ट कर्म अर्थात् नियत कर्म यज्ञार्थ कर्म गर्दछ, '**मत्परमः**' मेरो परायण भएर गर्दछ, जो मेरो अनन्य भक्त छ, '**सङ्गवर्जितः**'– तर सँग–दोषमा रहेर त्यो कर्म हुनसक्दैन। अतः संग–दोषबाट रहित भएर सम्पूर्ण भूतप्राणीहरूमा वैर–भावले रहित छ, त्यो मलाई प्राप्त हुन्छ। तब के अर्जुनले युद्ध गरे? प्रण गरेर के उनले जयद्रथादिलाई मारे? '**निर्वैरः सर्वभूतेषु**'– यदि उसले मार्छ भने भगवान्‌लाई देख्न पाउँदैन, जबकि अर्जुनले देखेका छन्। यसबाट सिद्ध हुन्छ कि गीतामा एउटा पनि यस्ता श्लोक छैन, जो बाहिरी मार–काटको समर्थन गरोस्। जो निर्दिष्ट कर्म यज्ञको प्रक्रियाको आचरण गर्नेछ, जो अनन्य भावले उनीबाहेक कसैको स्मरणसम्म गर्दैन, जो संग–दोषबाट अलग रहन्छ भने युद्ध कस्तो? जब तपाईसँग कोही छैन भने तपाई कोसँग युद्ध गर्नुहुन्छ? सम्पूर्ण भूतप्राणीहरूमा जो बैर–भावबाट रहित छ, मनले पनि कसैलाई सताउने कल्पना पनि गर्दैन, त्यही मलाई प्राप्त हुन्छ, अनि के अर्जुनले युद्ध गरे? कहिले होइन।

वस्तुतः सँग-दोषबाट अलग रहेर जब तपाई अनन्य चिन्तनमा लाग्नु हुन्छ, निर्धारित यज्ञको क्रियामा प्रवृत्त हुनुहुन्छ, त्यस समय परिपंथी राग-द्वेष, काम-क्रोध इत्यादि दुर्जय शत्रु बाधाको रूपमा प्रत्यक्ष नै छैन्। उनको पार पाउनु नै युद्ध हो।

निष्कर्ष-

यस अध्यायको आरम्भमा अर्जुनले भने- भगवन्! तपाईको विभूतिहरूलाई मैले विस्तारपूर्वक सुने, जसबाट मेरो मोह नष्टभयो, अज्ञानको शमनभयो; तर जस्तो तपाईले बताउनुभयो कि म सर्वत्र छु, त्यसलाई म प्रत्यक्ष देख्न चाहन्छु। यदि मद्वारा देख्न सम्भव छ भने कृपया त्यही स्वरूप देखाउनुस्। अर्जुन प्रिय सखा थिए, अन्नय सेवा थिए, अतएव योगेश्वर श्रीकृष्णले केही प्रतिवाद नगरेर तुरुन्तै देखाउन प्रारम्भ गर्नुभयो कि अब मभित्र खडा भएका सप्तर्षि र त्यसभन्दा पनि पूर्व हुनेवाला ऋषिहरूलाई हेर, ब्रह्मा र विष्णुलाई हेर। सर्वत्र फैलिएको मेरो तेजलाई हेर। मेरो शरीरमा एक स्थानमा खडा भएका चराचर जगत्लाई हेर; तर अर्जुन आँखा मल्दै रहे। यसैप्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण दुई-तीन श्लोकसम्म अनवरत देखाउनुभयो, तर अर्जुनले केही देख्न पाएन। सबै विभूतिहरू योगेश्वरमा त्यस समय पनि थिए, तर अर्जुनलाई वहाँ सामान्य मानिस जस्तै देखिइरहेका थिए। तब यसप्रकार देखाउँदा-देखाउँदै योगेश्वर श्रीकृष्ण एक्कासी रोकिनु हुन्छ र भन्नुहुन्छ- अर्जुन! यी आँखाहरूद्वारा तिमीले मलाई देख्न सक्दैनौं, आफ्नो बुद्धिले तिमी मलाई चिन्न सक्दैनौं। अब म तिमीलाई त्यो दृष्टि दिन्छु, जसले तिमी मलाई देख्न सक्नेछौ। भगवान् त सामुन्नेमा नै उभिनु भएको थियो। अर्जुनले देखे, वास्तवमा देखे। देखेपछि क्षुद्र त्रुटिहरूको लागि क्षमायाचना गर्न लागे, जो वास्तवमा त्रुटि थिएन। उदाहरणको लागि- भगवन्! कुनैबेला मैले तपाईलाई कृष्ण, यादव र कुनैबेला सखा भनेको थिएँ, यसको लागि तपाई मलाई क्षमा गर्नुस्। श्रीकृष्णले क्षमा पनि गर्नुभयो, किनकि अर्जुनको प्रार्थना स्वीकार गरेर वहाँ सौम्य स्वरूपमा आउनु भयो, धैर्य धारण गराउनुभयो।

वस्तुतः कृष्ण भन्नु अपराध थिएन। वहाँ श्याम वर्णको ने हुनुहुन्थ्यो, गोरो कसरी भनिन्थे। यदुवंशमा जन्म भएकै थियो। श्रीकृष्ण स्वयं आफूलाई सखा मान्नु हुन्थ्यो। वास्तवमा प्रत्येक साधक 'महापुरुषलाई' पहिले यस्ते संझन्छ। कोही वहाँलाई रूप र आकारद्वारा संबोधित गर्दछ, कोही वहाँलाई वृत्तिबाट संबोधन गर्दछ र कोही वहाँलाई आफ्नै समकक्ष मान्दछ। वहाँको यथार्थ स्वरूपलाई बुझ्न सक्दैन। वहाँको अचिन्त्य स्वरूपलाई अर्जुनले बुझे र थाहा पाए कि वहाँ न श्याम-वर्ण न गोरे हुनुहुन्छ। न कुनै कुलका, न कसैका मित्र नै, वहाँको समान कोही छँदैछैन, अनि सखा कस्तो? बराबरी कसरी, यो त अचिन्त्य स्वरूप हो। जसलाई वहाँ स्वयं देखाउनु हुन्छ, त्यही मानिस वहाँलाई देख्न पाउँछ। अतः अर्जुनले आफ्नो प्रारम्भिक भूलको लागि क्षामायाचना गरे।

प्रश्न उठ्छ कि जब कृष्ण भन्नु अपराध हो, तब वहाँको नाम जप्ने कसरी? जसलाई योगेश्वर श्रीकृष्णले जप्नको लागि स्वयं जोड (बल) दिनुभयो, जप्ने जुनविधि बताउनुभयो, त्यही विधिबाट तपाई चिन्तन-स्मरण गर्नुस्। त्यो हो- '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।**'- 'ओम्' अक्षय ब्रह्माको पर्याय हो। '**ओ अहम् स ओम्**'- जो व्याप्त छ, त्यो सत्ता ममा लुकेको छ- यही हो ॐको आशय। तपाई यसको जप गर्नुस् र ध्यान मेरो गर्नुस्। रूप आफ्नो, नाम ॐ बताउनुभयो।

अर्जुनले प्रार्थना गरे कि चतुर्भुज रूपमा दर्शन दिनुस्। श्रीकृष्णले त्यही सौम्य स्वरूप धारण गर्नुभयो। अर्जुनले भने- भगवन् ! तपाईको यस सौम्य मानव स्वरूपलाई देखेर अब म प्रकृतिस्थ भएँ। माँगेको थियो चतुर्भुजरूप, देखाउनुभयो 'मानुषं रूपं'। वास्तवमा शाश्वतमा प्रवेशवाला योगी शरीरले यहाँ बसेको छ, बाहिर दुबैहातले कार्य गर्दछ र साथै अन्तरात्माबाट जागृत भएर जहाँबाट पनि जो भाविक स्मरण गर्दछन्, एकसाथ सर्वत्र उसको हृदयबाट जागृत भएर प्रेरकको रूपमा कार्य गर्दछ। हात उनको कार्यको प्रतीक हो- यही नै चतुर्भुज हो।

श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! तिमीबाहेक मेरो यस रूपलाई न कसैले देखेका छन् र न भविष्यमा कोही देख्नेछन्। तब गीता हाम्रोलागि व्यर्थ छ। तर होइन, योगेश्वर भन्नुहुन्छ– एउटा उपाय छ। जो मेरो अनन्य भक्त छ, मबाहेक जो अरू कसैको स्मरण न गरेर निरन्तर मेरो नै चिन्तन गर्नेवाला छ, त्यसको अनन्य भक्तिद्वारा म प्रत्यक्ष देख्नलाई (जस्तो तिमीले देखेका छौ), तत्वले जान्न र प्रवेश गर्नेलाई पनि सुलभ छु। अर्थात् अर्जुन अनन्य भक्त थिए। भक्तिको परिमार्जित रूप हो अनुराग, इष्टको अनुरूप लगाव। '**मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।**'– अनुरागविहीन पुरुषले न कहिले पाएकोछ, न कहिले पाउनेछ। अनुराग छैन भने कोही लाखौ योग गरोस्, तप गारोस्, दान गरोस् 'त्यो' प्राप्त हुँदैन। अतः इष्टको अनुरूप राग अथवा अनन्य भक्ति नितान्त आवश्यक छ।

अन्त्यमा श्रीकृष्णले भन्नुभयो – अर्जुन! मद्वारा निर्दिष्ट कर्मलाई गर, मेरो अनन्य भक्त भएर गर, मेरो शरण परेर गर; तर सँग–दोषबाट अलग भएर। संग–दोषमा यो कर्म हुनै सक्दैन। अतः सँग–दोष यस कर्मको सम्पादित हुनुमा बाधक छ। जो बैर–भावले रहित छ, त्यसैले मलाई प्राप्त गर्दछ। जब सँग–दोष छैन, जहाँ हामीलाई छोडेर अर्को कोही छँदैछैन, वैरत्वको मानसिक सँकल्प पनि छैन, अनि युद्ध कस्तो? बाहिर संसारमा लडार्य–झगडा भइरहन्छन्; तर विजय जित्नेलाई पनि मिल्दैन। दुर्जय संसाररूपी शत्रुलाई असँगरूपी शस्त्रले काटेर परममा प्रवेश पाउनु नै वास्तविक विजय हो, जसका पछि हार छैन।

यस अध्यायमा पहिले त योगेश्वर श्रीकृष्णले अर्जुनलाई दृष्टि प्रदान गर्नुभयो, फेरि आफ्नो विश्वरूपको दर्शन गराउनुभयो। अतः–

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

यसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको सम्वादमा 'विश्वरूप-दर्शनयोग' नामक एघारौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'विश्वरूप-दर्शनयोग' नामक एघारौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ द्वादशोऽध्यायः ।।

बाह्रौं अध्याय

एघारौं अध्यायको अन्त्यमा श्रीकृष्णले पटक-पटक जोड (बल) दिनुभएको थियो कि अर्जुन! मेरो यस्तो स्वरूप जसलाई तिमिले देख्यौं, तिमी बाहेक पहिले कसैले देखेको छैन, न भविष्यमा कसैले देख्नेछ। म न तपले, न यज्ञले, न दानले देख्नको लागि सुलभ छु; तर अनन्य भक्तिद्वारा अर्थात् मेरो बाहेक अन्यत्र कहीं श्रद्धा जान नपाओस्, निरन्तर तिमीले तैल धारावत् मेरो चिन्तनद्वारा, ठीक यसै प्रकार जस्तो तिमीले देख्यौं, म प्रत्यक्ष देखिनको लागि, तत्वद्वारा साक्षात् जान्नको लागि र प्रवेश गर्नको लागि पनि सुलभ छु। अतः अर्जुन! सधैंमरि मेरो नै चिन्तन गर, भक्त बन। अर्जुन! तिमी मद्वारा निर्धारित गरिएको कर्म गर। 'मत्परमः'- मेरो परायण भएर गर। अनन्य भक्ति नै त्यसको प्राप्तिको माध्यम हो। यसमा अर्जुनको प्रश्न स्वाभाविक थियो कि जसले अव्यक्त अक्षरको उपासना गर्दछ र जसले सगुण तपाईंको उपासना गर्दछ- यी दुबैमा श्रेष्ठ को हुन्?

यहाँ यो प्रश्नलाई अर्जुनले तेस्रो पटक उठाए। अध्याय तीनमा उसले भनेको थियो कि भगवन्! यदि निष्काम कर्मयोगभन्दा सांख्ययोग तपाईंलाई श्रेष्ठ मान्य छ, भने तपाईं मलाई भयंकर कर्महरूमा किन लगाउनु हुन्छ? यसमा श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो- अर्जुन! निष्काम कर्ममार्ग राम्रो लागोस् वा ज्ञानमार्ग, दुबै दृष्टिहरूमा कर्म त गर्नै पर्दछ। यसो भए पनि जो इन्द्रियहरूलाई हठले रोकेर मनले विषयहरूलाई स्मरण गर्दछ त्यो दम्भाचारी हो, ज्ञानी होइन। अतः अर्जुन! तिमी कर्म गर। कस्तो कर्म? 'नियतं कुरु कर्म त्वं'- निर्धारित गरेको कर्म गर। निर्धारित कर्म के हो? अनि भन्नुभयो- यज्ञको प्रक्रिया नै

एकमात्र कर्म हो। यज्ञको विधि बताउनुभयो- जो आराधना-चिन्तनको विधि-विशेष हो, परममा प्रवेश दिलाउने प्रक्रिया हो। जब निष्काम कर्म-मार्ग र ज्ञान-मार्ग दुबैमा कर्म गर्नैपर्छ, यज्ञार्थ कर्म गर्नुपर्छ, क्रिया एउटै छ भने अन्तर कस्तो? भक्त कर्महरूलाई समर्पण गरेर, इष्टको आश्रित भएर यज्ञार्थ कर्ममा प्रवृत्त हुन्छ, अर्को सांख्ययोगी आफ्नो शक्तिलाई सम्झेर (आफ्नै भरमा) त्यसै कर्ममा प्रवृत्त हुन्छ। पूरा श्रम गर्दछ।

अध्याय पाँचमा अर्जुनले पुनः प्रश्न गरे- भगवन् ! तपाईं कहिले सांख्य-माध्यमले कर्म गर्नेको प्रशंसा गर्नुहुन्छ, अनि कहिले समर्पण-माध्यमले निष्काम कर्मयोगको प्रशंसा गर्नुहुन्छ- यी दुबैमा श्रेष्ठ कुन् हो? यहाँसम्म अर्जुनले बुझिसकेका थिए कि कर्म दुबै दृष्टिले गर्नुपर्छ तापनि दुबैमा श्रेष्ठ मार्ग उसले रोज्न चाहन्छ। श्रीकृष्णले भन्नुभयो- अर्जुन! दुबै दृष्टिहरूले कर्ममा प्रवृत्त हुनेवाला मलाई नै प्राप्त गर्दछन्, तर सांख्यमार्गभन्दा निष्काम कर्ममार्ग श्रेष्ठ छ। निष्काम कर्मयोगको अनुष्ठान नगरीकन न कोही योगी हुन्छ न ज्ञानी। सांख्ययोग दुष्कर छ, त्यसमा धेरै अप्ठेराहरू छन्।

यहाँ तेस्रो पटक अर्जुनले यही प्रश्न राखे कि, भगवान! तपाईंमा अनन्य भक्तिले लाग्ने र अव्यक्त अक्षरको उपासनामा (सांख्यमार्गले) लाग्ने यी दुबैमा श्रेष्ठ को हुन्?

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

'एवं' अर्थात् यसप्रकार अहिले तपाईंले जुन विधि बताउनुभयो, ठीक यसै विधि अनुसार अनन्य भक्तिले जो तपाईंको शरण लिएर, तपाईंसँग निरन्तर संयुक्त भएर तपाईंको राम्रो ढंगले उपासना गर्दछ र अर्को जो तपाईंको शरण नलिएर स्वतन्त्र रूपमा आफ्नै भरमा त्यही अक्षय र अव्यक्त स्वरूपको उपासना गर्दछ, जसमा तपाईं पनि स्थित हुनुहुन्छ, यी दुबै प्रकारको भक्तहरूमा बढी उत्तम योगवेत्ता को हुन्? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो-

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अर्जुन! ममा मन एकाग्र गरेर, निरन्तर मबाट संयुक्त भएको जो भक्तजन परमसित सम्बन्ध राख्ने श्रेष्ठ श्रद्धाले युक्त भएर मलाई भज्दछन्, उनीहरू मलाई योगीहरूमा पनि अति उत्तम योगी मान्य हुन्छ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

जो पुरुष इन्द्रियहरूको समुदायलाई राम्ररी संयमित गरेर, मन-बुद्धिको चिन्तनबाट अत्यन्त पर सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप, सधैं एकरस रहने, नित्य, अचल, अव्यक्त, आकाररहित र अविनाशी ब्रह्मको उपासना गर्दछ, सम्पूर्ण भूतहरूको हितमा लागेका र सबैमा समान भाववाला त्यो योगी पनि मलाई नै प्राप्त गर्दछ। ब्रह्मको उपर्युक्त विशेषण मबाट भिन्न छैन; तर ब्रह्म-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

ती अव्यक्त परमात्मामा आसक्त भएको चित्तवाला पुरुषहरूलाई साधनामा क्लेश विशेष छ; किनकि देहाभिमानीहरूबाट अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त गरिन्छ। जबसम्म शरीरको भान छ, तबसम्म अव्यक्तको प्राप्ति दुष्कर छ।

योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्गुरु हुनुहुन्थ्यो। अव्यक्त परमात्मा उनमा व्यक्त थियो। वहाँ भन्नुहुन्छ कि, महापुरुषको शरण नलिएर जो साधक आफ्नो शक्तिलाई सम्झन्दै अगाडि बढ्छ कि म यस अवस्थामा छु, अगाडी त्यस अवस्थामा जानेछु, म आफ्नो अव्यक्त शरीरलाई प्राप्त गर्नेछु, त्यो मेरो रूप हुनेछ, म त्यही हुँ- यसप्रकार सोच्दै, प्राप्तिको प्रतीक्षा नगरेर आफ्नो शरीरलाई

नै 'सोऽहं' भन्न लाग्छ। यही यस मार्गमा सबभन्दा ठूलो बाधक हो। त्यो 'दुःखालयम् अशाश्वतम्' मा नै घूम-फिर गरी रहन्छ। तर जो मेरो शरण लिएर अगाडि बढ्छ, त्यो-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

जो मेरो परायण भएर सम्पूर्ण कर्महरू अर्थात् आराधनालाई ममा अर्पण गरेर अनन्य भावले योग अर्थात् आराधना-प्रक्रिया द्वारा निरन्तर चिन्तन गर्दै मलाई भज्दछ-

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

ममा मात्र चित्त लगाउने ती भक्तहरूको लागि म चाँडै नै मृत्युरूपी संसारबाट उद्धार गर्ने हुन्छु। यसप्रकार चित्त लगाउनेको प्रेरणा र विधिमा योगेश्वर प्रकाश पार्नुहुन्छ-

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

यसैले अर्जुन! तिमी ममा मन लगाऊ, ममा बुद्धि लगाऊ। यस उपरान्त तिमी ममा नै निवास गर्नेछौं, यसमा केही पनि संशय छैन। मन र बुद्धि पनि लगाउन सकेन भने (अर्जुनले पछाडि भनेको पनि थियो कि मनलाई रोक्नु त म वायु जस्तै दुष्कर सम्झन्छु) यसमा योगेश्वर भन्नुहुन्छ-

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।९।।

यदि तिमी मनलाई ममा अचल स्थापित गर्नमा समर्थ छैनौ भने हे अर्जुन! योगको अभ्यासद्वारा मलाई प्राप्त गर्ने इच्छा गर। (जहाँ पनि चित्त जाओस् त्यहाँबाट घिसारेर उसलाई आराधना, चिन्तन-क्रियामा लगाउनेको नाम अभ्यास हो) यदि यो पनि गर्न सक्दैनौं भने-

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

यदि तिमी अभ्यासमा पनि असमर्थछौ भने मात्र मेरो लागि कर्म गर अर्थात् आराधना गर्नमा तत्पर होऊ। यसप्रकार मेरो प्राप्तिको लागि कर्म गर्दै तिमी मेरो प्राप्तिरूपी सिद्धिलाई नै प्राप्त गर्नेछौ अर्थात् अभ्यास पनि संभव नभएन साधना-पथमा लागि मात्र रहनु।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

यदि यसलाई पनि गर्नमा असमर्थ छौ भने सम्पूर्ण कर्मको फललाई त्यागेर अर्थात् लाभ-हानिको चिन्ता छोडेर 'मद्योग'को आश्रित भएर अर्थात् समर्पणको साथ आत्मवान् महापुरुषको शरणमा जाऊ। वहाँबाट प्रेरित भएर कर्म स्वतः हुन थाल्छ। समर्पणको साथ कर्मफलको त्यागको महत्व बताउँदै योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

मात्र चित्तलाई रोक्ने अभ्यासभन्दा ज्ञान-मार्गले कर्ममा प्रवृत्त हुनु श्रेष्ठ हो। ज्ञानमाध्यमले कर्मलाई कार्यरूप दिनुभन्दा ध्यान श्रेष्ठ हो; किनकि ध्यानमा इष्ट रहन्छ। ध्यानभन्दा पनि सम्पूर्ण कर्महरूको फलत्याग श्रेष्ठ हो; किनकि इष्ट प्रति समर्पणको साथै योगमा दृष्टि राख्दै कर्म-फलको त्याग गर्नाले त्यसको योगक्षेमको जिम्मेवारी इष्टको हुन्छ। यसैले यस त्यागबाट त्यो तत्काल परमशान्ति प्राप्त गर्दछ।

अहिलेसम्म योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि अव्यक्तको उपासना गर्नेवाला ज्ञानमार्गीभन्दा समर्पणको साथ कर्म गर्नेवाला निष्काम कर्मयोगी श्रेष्ठ हुन्। दुबै एउटै कर्म गर्दछ; तर ज्ञानमार्गीको पथमा व्यवधान बढी रहन्छ। त्यसको लाभ-हानिको जिम्मेवारी त्यसैमा रहन्छ, जबकि समर्पित भक्तको

जिम्मेवारी महापुरुषमा हुन्छ। यसैले त्यो कर्मफलत्यागद्वारा चाँडै नै शान्तिलाई प्राप्त गर्दछ। अब शान्ति-प्राप्त पुरुषको लक्षण बताउनु हुन्छ-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

यसप्रकार शान्तिलाई प्राप्त भएको जो पुरुष सब भूतहरूमा द्वेषभावरहित, सबैको प्रेमी र हेतुरहित दयालु छ र जो ममत्वले रहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखको प्राप्तिमा सम तथा क्षमावान् छ,

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

जो निरन्तर योगको पराकाष्ठासँग संयुक्त छ, लाभ तथा हानिमा सन्तुष्ट छ, मन तथा इन्द्रियहरूसहित शरीरलाई आफ्नो वशमा गरिराखेको छ, दृढनिश्चयवाला छ, त्यो ममा अर्पित मन-बुद्धिवाला मेरो भक्त मलाई प्रिय छ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

जसबाट कुनै पनि जीव उद्वेगलाई प्राप्त गर्दैन र जो स्वयं पनि कुनै जीवबाट उद्विग्न हुँदैन, हर्ष-सन्ताप-भय र समस्त विक्षोभहरूबाट मुक्त छ, त्यो भक्त मेरो प्रिय हो।

साधकको लागि यो श्लोक अत्यन्त उपयोगी छ। उसले यसरी बस्नु पर्दछ कि त्यसद्वारा कसैको मनलाई ठेस नलागोस्। यति त साधक गर्न सक्छ, तर अर्का मानिसहरू यस आचरण अनुसार चल्ने छैन। उनीहरू त संसारी नै हुन्। उनीहरू आगो उग्लनेछ, केही न केही भन्नेछन्; तर पथिकले सावधान हुनु पर्दछ कि आफ्नो हृदयमा उनीद्वारा (उनीहरूको आघातद्वारा) पनि उथल-पुथल नहोस्, चिन्तनमा सुरत लागि रहोस्, क्रम नटुटोस्। उदाहरणको लागि तपाईं स्वयं सडकमा नियमानुकूल बायाँ पेटीबाट हिडिरहनुभएको छ, कोही मदिरापान गरेर आउँदैछ, भने उससँग जोगिनु पनि तपाईंको जिम्मेवारी हो।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

जो पुरुष आकाँक्षाहरूद्वारा रहित, सर्वथा पवित्र छ, 'दक्षः' अर्थात् आराधनाको विशेषज्ञ छ (यस्तो होइन कि चोरी गर्छ भने दक्ष हो। श्रीकृष्णको अनुसार कर्म एउटै छ- नियत कर्म आराधना-चिन्तन, त्यसमा जो दक्ष छ) जो पक्ष-विपक्षबाट टाढा छ, दुःखहरूबाट मुक्त छ, सबै आरम्भहरूको त्यागी त्यो मेरो भक्त मलाई प्रिय छ। गर्ने योग्य कुनै क्रिया उसकोद्वारा आरम्भ हुनको लागि बाँकी रहँदैन।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

जो कहिले पनि हर्षित हुँदैन, न द्वेष गर्दछ, न शोक गर्दछ, न कामना गर्दछ, जो शुभ र अशुभ सम्पूर्ण कर्मफलहरूको त्यागी छ, जहाँ कुनै शुभ विलग छैन, अशुभ बाँकी छैन, भक्तिको यस पराकाष्ठाबाट युक्त त्यो पुरुष मेरो प्रिय हो।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।१८।।

जो पुरुष शत्रु र मित्रमा, मान तथा अपमानमा सम छ, जसको अन्तकरणको वृत्तिहरू सर्वथा शान्त छ, जो जाड़ो-गर्मी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वहमा सम र आसक्तिरहित छ तथा-

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

जो निन्दा तथा स्तुतिलाई समान ठान्दछ, मननशीलताको चरम सीमामा पुगेर जसको मनसहित इन्द्रियहरू शान्तभइसकेका छन्, कुनै पनि प्रकारले पनि शरीर-निर्वाह हुनुमा सधैं सन्तुष्ट छ, जो आफ्नो निवास-स्थानमा ममताबाट रहित छ, भक्तिको पराकाष्ठामा पुगेको त्यो स्थिरबुद्धि पुरुष मलाई छ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

जो मेरो परायण भएर हार्दिक श्रद्धायुक्त पुरुष यस उपर्युक्त धर्ममय अमृतको राम्ररी सेवन गर्दछ त्यो भक्त मेरो अतिशय प्रिय छ।

निष्कर्ष–

गत अध्यायको अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो कि अर्जुन! तिमी बाहेक न कसैले पाएको छ, न पाउने छ– जस्तो तिमीले देख्यौ। तर अनन्य भक्ति अथवा अनुरागले जो भज्दछन्, तिनीहरू यसै प्रकारले मलाई देख्न सक्दछन्, तत्वको साथ मलाई जान्न सक्छन् र मभित्र प्रवेश पाउन सक्दछन्। अर्थात् परमात्मा यस्तो सत्ता हो जसलाई पाउन सकिन्छ। अतः अर्जुन! भक्त बन।

अर्जुनले यस अध्यायमा प्रश्न गरे कि भगवन्! अनन्यभावले जो तपाईंको चिन्तन गर्दछ, र अर्को ती, जो अक्षर अव्यक्तको उपासना गर्दछन्, यी दुबैमा उत्तम योगवेत्ता को हुन्? योगेश्वर श्रीकृष्णले बताउनुभयो कि दुबैले मलाई नै प्राप्त गर्दछन्; किनकि म अव्यक्त स्वरूप हुँ। तर जो इन्द्रियहरूलाई वशमा राखेर, मनलाई सबैतिरबाट समेटेर अव्यक्त परमात्मामा आसक्त छन्, तिनको पथमा क्लेश बढी छन्। जबसम्म शरीरको अध्यास छ, तबसम्म अव्यक्त स्वरूपको प्राप्ति दुःखपूर्ण छ; किनकि अव्यक्त स्वरूप त चित्तको निरोध र विलयकालमा प्राप्त हुनेछ। त्यसभन्दा पूर्व उसको शरीर नै बीचमा बाधक बन्न जान्छ। 'मैं हुँ', 'मैं हुँ', 'मलाई पाउनु छ'– भन्दा–भन्दै आफ्नोतिर नै फर्किछन्छ। उसले लरखराउने बढी संभावना हुन्छ। अतः अर्जुन! तिमी सम्पूर्ण कर्महरू ममा समर्पण गर, अनन्य भक्तिले मेरो चन्तन गर। जो मेरो परायण भक्तजन सम्पूर्ण कर्महरूलाई ममा अर्पण गरेर, मानव शरीरधारी मजस्तो सगुण योगीको रूपको ध्यानद्वारा तैलधारावत् निरन्तर चिन्तन गर्दछन्, तिनको म चाँडै नै संसार–सागरबाट उद्धार गर्ने हुन्छ। अतः भक्तिमार्ग श्रेष्ठछ।

अर्जुन! ममा मनलाई लगाऊ। मन नलागे पनि लगाउने अभ्यास गर। जहाँ पनि चित्त जान्छ पुनः घिसारेर त्यसको निरोध गर। यो पनि गर्नमा असमर्थ छौ भने तिमी कर्म गर। कर्म एउटै छ, यज्ञार्थ कर्म! तिमी 'कार्यम् कर्म' गर्दै जाऊ, अर्को न गर। त्यत्तिकै गर, पार लागोस् अथवा न लागोस्। यदि यो पनि गर्न असमर्थ छौ भने स्थितप्रज्ञ, आत्मवान्, तत्वज्ञ महापुरुषको शरणमा सम्पूर्ण कर्मफलहरूको त्याग गर। यस्तो त्याग गरेमा तिमी परमशान्तिलाई प्राप्त गर्नेछौं।

तत्पश्चात् परमशान्ति प्राप्त गरेको भक्तको लक्षण बताउँदै योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो- जो सम्पूर्ण भूतहरूमा द्वेषभावबाटरहित छ, जो करुणाले युक्त र दयालु छ, ममता र अहंकाररहित छ, यस्तो भक्त मेरो प्रिय छ। जो ध्यान-योगमा निरन्तर तत्पर र आत्मवान्, आत्मस्थित छ, यस्तो भक्त मेरो प्रिय हो। जसबाट न कसैलाई उद्वेग प्राप्त हुन्छ र अफू पनि जो कसैद्वारा उद्वेगको प्राप्त हुँदैन, यस्तो भक्त मलाई प्रिय छ। जो शुद्ध छ, दक्ष छ, व्यथाहरूबाट उपराम छ, सर्वारम्भहरूलाई त्यागेर जसले पार पाइसकेको छ, यस्तो भक्त मलाई प्रिय छ। सम्पूर्ण कामनाको त्यागी र शुभाशुभहरूलाई पार पाउने भक्त मलाई प्रिय छ। जो निन्दा र स्तुतिमा समान र मौन छ, मनसहित जसको इन्द्रियहरू शान्त र मौन छन्, जो कुनै प्रकारले पनि शरीर-निर्वाहमा संतुष्ट र बस्ने स्थानमा ममताबाट रहित छ, शरीर-रक्षामा पनि जसको आसक्ति छैन, यस्तो स्थितप्रज्ञ भक्तिमान् पुरुष मलाई प्रिय छ।

यसप्रकार श्लोक एघारौं देखि उन्नाइससम्म योगेश्वर श्रीकृष्णले शान्तिप्राप्त योगयुक्त भक्तको रहनीमा प्रकाश पार्नुभयो, जो साधकहरूको लागि उपादेय छन्। अन्त्यमा निर्णय दिंदै वहाँले भन्नुभयो- 'अर्जुन! जो मेरो परायण भएर, अनन्य श्रद्धालेयुक्त पुरुष यसरी माथि भनिएका धर्ममय अमृतलाई निष्काम भावले राम्ररी आचरणमा ढाल्दछन्, ती भक्त मेरो अतिशय प्रिय हुन्। अतः समर्पणको साथ यस कर्ममा प्रवृत्त हुनु श्रेयतर हो; किनकि त्यसको हानि-लाभको जिम्मेवारी त्यो इष्ट, सद्गुरुले आफैमाथि लिनुहुन्छ। यहाँ श्रीकृष्णले स्वरूपस्थ महापुरुषको लक्षण बताउनुभयो र उसको शरणमा जानलाई भन्नुभयो

र अन्त्यमा आफ्नो शरणमा आउने प्रेरणा दिएर ती महापुरुषहरूको समकक्ष आफूलाई घोषित गर्नुभयो। श्रीकृष्ण एक योगी, महात्मा हुनुहुन्थ्यो।

यस अध्यायमा भक्तिलाई श्रेष्ठ बताउनुभयो, अतः यस अध्यायको नामकरण 'भक्तियोग' युक्तिसंगत छ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

यसप्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको संवादमा 'भक्तियोग' नामक बाह्रौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'भक्तियोग' नामक बाह्रौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।।

तेह्रौं अध्याय

गीताको आरम्भमा नै धृतराष्ट्रको प्रश्न थियो कि, सञ्जय! धर्मक्षेत्रमा तथा कुरुक्षेत्रमा युद्धको इच्छाले एकत्र भएका मेरा र पाण्डु पुत्रहरूले के गरे? अहिलेसम्म यो भनिएन कि त्यो क्षेत्र छ कहाँ? तर जो महापुरुषले जुन क्षेत्रमा युद्ध बतायो, स्वयं नै त्यस क्षेत्रबारे प्रस्तुत अध्यायमा निर्णय दिनुहुन्छ कि त्यो क्षेत्र वस्तुतः कहाँ छ?

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

कौन्तेय! यो शरीर नै एउटा क्षेत्र हो। यसलाई जो राम्ररी जान्दछ, त्यो क्षेत्रज्ञ हो। त्यो उसमा अल्झेको छैन, बरू उसको संचालक हो। यस्तो त्यस तत्वलाई विदित गर्ने महापुरुषहरूले भनेका छन्।

शरीर त एउटै छ, त्यसमा धर्मक्षेत्र र कुरुक्षेत्र यी दुई क्षेत्र कसरी? वस्तुतः यो एउटै शरीरको अन्तरालमा अन्तःकरणका दुई प्रवृत्तिहरू पुरातन छन्। एउटा त परमधर्म परमात्मामा प्रवेश दिलाउने पुण्यमयी प्रवृत्ति दैवी सम्पद् हो र दोस्रो हो आसुरी सम्पद्- दूषित दृष्टिकोणबाट जसको गठन छ, जो नश्वर संसारमा विश्वास दिलाउँछ। जब आसुरी सम्पद्को बाहुल्य हुन्छ, तब यही शरीर 'कुरुक्षेत्र' बन्न जान्छ र यसै शरीरको अन्तरालमा जब दैवी सम्पद्को

बाहुलयता हुन्छ, तब यही शरीर 'धर्मक्षेत्र' कहलाउँछ। यो चढाव-उतार बारम्बार भइरहन्छ, तर तत्वदर्शी महापुरुषको सान्निध्यले जब कोही अनन्य भक्तिद्वारा आराधनामा प्रवृत्त हुन्छ, तब दुबै प्रवृत्तिहरूमा निर्णायक युद्धको सूत्रपात् हुन्छ। क्रमशः दैवी सम्पद्‌को उत्थान र आसुरी सम्पद्‌को शमन हुन्छ। आसुरी सम्पद्‌को सर्वथा शमनको उपरान्त परमको दिग्दर्शनको अवस्था आउँछ। दर्शन भएपछि दैवी सम्पद्‌को आवश्यकता समाप्त हुन्छ। अतः त्यो पनि परमात्मामा स्वतः विलय हुन्छ। भजन गर्ने पुरुष परमात्मामा प्रवेश पाउँछ। एघाह्रौं अध्यायमा अर्जुनले देख्यो कि कौरव-पक्षको अनन्तर पाण्डव-पक्षका योद्धाहरू पनि योगेश्वरमा विलीन हुँदै गइरहेका छन्। यस विलयको पश्चात् पुरुषको जो स्वरूप छ, त्यही क्षेत्रज्ञ हो। अगाडि हेरौं-

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

हे अर्जुन! तिमी सबै क्षेत्रहरूमा क्षेत्रज्ञ मलाई नै जानु अर्थात् म पनि क्षेत्रज्ञ हुँ। 'जो यस क्षेत्रलाई जान्दछ, त्यो क्षेत्रज्ञ हो- त्यसलाई साक्षात् जान्ने महापुरुषले भनेका छन् र श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि म पनि क्षेत्रज्ञ हुँ अर्थात् श्रीकृष्ण पनि योगेश्वर नै थिए। क्षेत्र र क्षेत्रज्ञ अर्थात् विकारसहित प्रकृति र पुरुषलाई तत्वद्वारा जान्नु नै ज्ञान हो। यस्तो मेरो मत छ अर्थात् साक्षात्कारसहित यिनीहरूको जानकारीको नाम ज्ञान हो। मात्र बहसको नाम ज्ञान होइन।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।३।।

त्यो क्षेत्र जस्तो छ, जुन विकारवाला छ, जुन कारणले भएको छ तथा त्यो क्षेत्रज्ञ पनि जो हो र जस्तो प्रभाववाला छ, ती सबै मबाट संक्षेपमा सुन। अर्थात् क्षेत्र विकारवाला छ, कुनै कारणले भएको हो, जबकि क्षेत्रज्ञ मात्र प्रभाववाला छ। म मात्र भन्छु- यस्तो कुरा होइन, ऋषि पनि भन्नुहुन्छ-

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

यो क्षेत्र र क्षेत्रज्ञको तत्व ऋषिहरूद्वारा धेरै प्रकारले गायन गरिएको छ तथा विभिन्न प्रकारले वेदहरूको मन्त्रद्वारा विभाजित गरेर पनि भनिएको छ तथा विशेषरूपले निश्चित गरेको युक्ति-युक्त ब्रह्मसूत्रको वाकयहरूद्वारा पनि त्यही भनिएको छ। अर्थात् वेदान्त, महर्षि, ब्रह्मसूत्र र म एउटा कुरा भन्न गइरहेका छौं। श्रीकृष्ण पनि त्यही कुरा भन्नुहुन्छ, जुन कुरा यिनीहरू सबैले भनेका छन्। के शरीर (क्षेत्र) यतिनै छ, जति देखिन्छन्? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।

अर्जुन! पंच महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), अहंकार, बुद्धि र चित्तको नाम नलिएर त्यसलाई अव्यक्त परा प्रकृति भनियो अर्थात् मूल प्रकृतिमा प्रकाश पारिएको छ, जसमा परा प्रकृति पनि सम्मिलित छन्, उपर्युक्त आठवटा अष्टधा मूल प्रकृति हुन्) तथा दश इन्द्रियहरू (आँखा, कान, नाक, त्वचा, जिभ्रो, रसना, हाथ, खुट्टा, उपस्थ तथा गुदा), एक मन र पाँच इन्द्रियहरूका विषय (रूप, रस, गन्ध, शब्द र स्पर्श) तथा-

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख र सबैको समूह स्थूल शरीरको यो पिण्ड, चेतना र धैर्य, यसप्रकार यो क्षेत्र विकारहरू सहित संक्षेपमा भनिइयो। संक्षेपमा यो नै क्षेत्रको स्वरूप हो, जसमा रोपेको राम्रो वा नराम्रो बीउ संस्कारहरूका रूपमा उम्रन्छ। शरीर नै क्षेत्र हो। शरीरमा गारा-मसाला कुन वस्तुको हो? अनि यही पाँच तत्व, दस इन्द्रियहरू, एक मन इत्यादि, जस्तो लक्षणहरूमा गणना गराइयो। यी सबैका सामूहिक संघात पिण्ड शरीर हो। जबसम्म यी विकारहरू रहनेछन्, तबसम्म यो पिण्ड पनि विद्यमान रहनेछन्। यस कारण कि यो विकारहरूबाट बनेको छ। अब त्यस क्षेत्रज्ञको स्वरूपलाई हेरौं, जो यस क्षेत्रमा लिप्त होइन बरू त्यसबाट निवृत्त छ।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

हे अर्जुन! मान-अपमानको अभाव, दम्भाचरणको अभाव, अहिंसा (अर्थात् आफ्नो तथा अरू कसैको पनि आत्मालाई कष्ट नदिनु अहिंसा हो। अहिंसाको अर्थ यति मात्र होइन कि कमिलालाई नमार्नु। श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि आफ्नो आत्मालाई अधोगतिमा नपुऱ्याउनु। त्यसलाई अधोगतिमा पुऱ्याउनु हिंसा हो र त्यसको उत्थान नै शुद्ध अहिंसा हो। यस्तो पुरुष अरू आत्माहरूको उत्थानहेतु पनि उन्मुख रहन्छ। यसको आरम्भ कसैलाई पनि ठेस नपुऱ्याउनाले हुन्छ। यो उसैको एउटा अंग-प्रत्यंग हो।) अतः अहिंसा, क्षमाभाव, मन-वाणीको सरलता, आचार्योपासना अर्थात् श्रद्धा-भक्तिसहित सद्‌गुरुको सेवा र उनको उपासना, पवित्रता, अन्तःकरणको स्थिरता, मन र इन्द्रियहरूसहित शरीरको निग्रह र-

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

यस लोक र परलोकको देखे-सुनेका भोगहरूमा आसक्तिको अभाव, अहंको अभाव, जन्म-मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग र भोग आदिमा दुःख-दोषको बारमबार चिन्तन्,

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।९।।

पुत्र, स्त्री, धन र गृहादिमा आसक्तिको अभाव, प्रिय तथा अप्रियको प्राप्तिको चित्त सधैं सम रहनु (क्षेत्रज्ञको साधना स्त्री-पुत्रादि, गृहस्थीको परिस्थितिहरूबाट नै आरम्भ हुन्छ) र-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१०।।

ममा (श्रीकृष्ण एउटा योगी थिए अर्थात् यस्तो कुनै महापुरुषमा) अनन्य योगले अर्थात् योगबाहेक अरू केही पनि स्मरण नगर्दै, अव्यभिचारिणी भक्ति

(इष्टबाहेक कुनै चिन्तन नआउनु), एकान्त स्थानको सेवन, मानिसहरूको समूहमा रहने आसक्ति नहुनु तथा-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

आत्माको आधिपत्य ज्ञानमा एकरस स्थिति र तत्वज्ञानको अर्थस्वरूप परमात्माको साक्षात्कार- यो सबै ज्ञान हो र यसबाट जो विपरीत छ, त्यो सबै अज्ञान हो- यस्तो भनिएको छ। त्यस परमतत्व परमात्माको साक्षात्कारको साथै मिल्ने जानकारीको नाम ज्ञान हो (अध्याय चारमा वहाँले भन्नुभयो कि यज्ञको पूर्तिमा यज्ञले जसलाई बाँकी छोड्दछ, त्यस ज्ञानामृतको पान गर्ने सनातन ब्रह्ममा प्रवेश पाउँछ। अतः ब्रह्मको साक्षात्कारको साथै मिल्ने जानकारी ज्ञान हो। यहाँ पनि त्यही भन्नुहुन्छ कि तत्वस्वरूप परमात्माको साक्षात्कारको नाम ज्ञान हो) यसको विपरीत सबै अज्ञान हुन्। अमानित्व इत्यादि उपर्युक्त लक्षण यस ज्ञानका पूरक हुन्। यो प्रश्न पूरा भयो।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

अर्जुन! जो जान्नेयोग्य छ तथा जसलाई जानेर मरणधर्मा मानिस अमृततत्वलाई प्राप्त गर्दछ, त्यसलाई राम्ररी भन्नेछु। त्यो आदिरहित परब्रह्मलाई न सत् भनिन्छ न असत् नै भनिन्छ; किनकि जबसम्म त्यो अलग छ तबसम्म त्यो सत् हो र जब मानिस त्यसैमा समाहित भइसक्यो, तब कसले कसलाई भनोस्। एउटै रहन्छ, अर्काको आभास पनि हुँदैन। यस्तो स्थितिबाट ब्रह्म न सत् हो न असत्; जबकि जो स्वयं सहज छ, त्यही हो।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

त्यो ब्रह्म सबैतिरबाट हात-खुट्टावाला, सबैतिरबाट आँखा-टाउको र मुख भएको तथा सबैतिरबाट श्रोत्र, सुन्नेवाला हुनुहुन्छ; किनकि वहाँ संसारमा सबैलाई व्याप्त गरेर स्थित हुनुहुन्छ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

वहाँ सम्पूर्ण इन्द्रियहरूको विषयहरूलाई जान्ने हुनुहुन्छ, तैपनि सबै इन्द्रियहरूबाट रहित हुनुहुन्छ। वहाँ आसक्तिरहित, गुणहरूबाट अतीत भएर पनि सबैलाई धारण र पोषण गर्ने र सबै गुणहरूलाई भोग्ने हुनुहुन्छ अर्थात् एक-एक गरेर सबै गुणहरूलाई आफूमा लय गर्नुहुन्छ। जस्तै श्रीकृष्णले भनिसक्नु भएको छ कि यज्ञ र तपहरूलाई भोग्ने म हुँ। अन्त्यमा सम्पूर्ण गुण ममा विलय हुन्छन्।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१५।।

त्यो ब्रह्म सबै जीवधारीहरूको बाहिर-भित्र परिपूर्ण छ। चर र अचररूप पनि त्यही हो। सूक्ष्म हुनाले त्यो देखा पर्दैन, अविज्ञेय हो, मन-इन्द्रियहरूबाट पर छ तथा अति नजिक र टाढा पनि त्यही छ।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

अविभाज्य भएर पनि त्यो सम्पूर्ण चराचर भूतहरूमा अलग-अलगझैं प्रतीत हुन्छ। त्यो जाननेयोग्य परमात्मा समस्त भूतहरूलाई उत्पन्न गर्ने, भरण र पोषण गर्ने र अन्त्यमा संहार गर्नेवाला हो। यहाँ बाहिरी र आन्तरिक दुबै भावहरूतिर सङ्केत गरिएको छ। जस्तै बाहिर जन्म र भित्र जागृति, बाहिर पालन र भित्र योगक्षेमको निर्वाह, बाहिर शरीरको परिवर्तन र भित्र सर्वस्वको विलय अर्थात् भूतहरूको उत्पत्ति हुने कारण लय र त्यस लयको साथ आफ्नो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ। यी सबै त्यही ब्रह्मका लक्षण हुन्।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

त्यो ज्ञेय ब्रह्म ज्योतिहरूको पनि ज्योति हो, तमभन्दा अति पर भनिन्छ। त्यो पूर्ण ज्ञानस्वरूपी हो, पूर्ण ज्ञाता हो, जान्ने योग्य छ र ज्ञानद्वारा नै प्राप्त

हुनेवाला हो। साक्षात्कारको साथै मिल्ने जानकारीको नाम ज्ञान हो। यस्तो जानकारीद्वारा नै त्यस ब्रह्मको प्राप्ति हुनु संभव छ। त्यो सबैको हृदयमा स्थित छ, उसको निवास स्थान हृदय हो। अन्यत्र खोजेमा त्यो मिल्दैन। अतः हृदयमा ध्यान तथा योगाचरणद्वारा नै त्यस ब्रह्मको प्राप्तिको विधान हो।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

हे अर्जुन! बस यतिकै क्षेत्र, ज्ञान तथा जान्नेयोग्य परमात्माको स्वरूप संक्षेपमा भनिएको छ। यसलाई जानेर मेरो भक्त मेरो साक्षात् स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ।

अहिलेसम्म योगेश्वर श्रीकृष्णले जसलाई क्षेत्र भन्नुभएको थियो, त्यसैलाई प्रकृति र जसलाई क्षेत्रज्ञ भन्नुभएको थियो, त्यसैलाई अब पुरुष शब्दबाट इंगित गर्नुहुन्छ–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।१९।।

यो प्रकृति र पुरुष दुबैलाई अनादि जान तथा सम्पूर्ण विकार त्रिगुणमयी प्रकृतिबाट नै उत्पन्न भएको जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२०।।

कार्य र करण (जसद्वारा कार्य गरिन्छ विवेक, वैराग्य इत्यादि तथा अशुभ कार्य हुनमा काम, क्रोध इत्यादि करण हुन्) लाई उत्पन्न गर्नमा हेतु प्रकृति भनिन्छ र यो पुरुष सुख–दुःखलाई भोग्नमा कारण मानिन्छ। प्रश्न उठ्छ कि के त्यो भोग्दै रहनेछ वा यसबाट कुनै बेला छुटकारा पनि मिल्नेछ? जब प्रकृति–पुरुष दुबै अनादि हुन् भने कोही यसबाट कसरी मुक्त हुनेछ? यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

प्रकृतिको माझमा खडा भएको पुरुष नै प्रकृतिबाट उत्पन्न गुणहरूका कार्यरूप पदार्थहरूलाई भोग्दछ र यी गुणहरूको सँग (संगत)नै यस जीवात्माको राम्रो तथा नराम्रो योनिहरूमा जन्मलिने कारण हो। यो कारण अर्थात् प्रकृतिको गुणहरूको सँग (आसक्ति) समाप्त भएपछि मात्र जन्म-मृत्युबाट मुक्ति मिल्छ। अब त्यस पुरुषमा प्रकाश पार्नुहुन्छ कि त्यो कुन प्रकारले प्रकृतिमा उभिएको छ?-

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

त्यो पुरुष उपद्रष्टा, हृदय-देशमा धेरै नै नजिक, हात-खुट्टा-मन जति तपाईंको समीप छ त्यसभन्दा पनि बढी नजिक द्रष्टाको रूपमा स्थित छ। त्यसको प्रकाशनमा तपाईं राम्रो गर्नुस्, नराम्रो गर्नुस्, उसलाई कुनै प्रयोजन छैन। त्यो साक्षीको रूपमा खडा छ। साधनाका सही क्रम पकडमा आएपछि पथिक केही माथि उठ्यो, उतिर अघिसऱ्यो भने द्रष्टा पुरुषको क्रम बदलिन्छ, त्यो '**अनुमन्ता**'- अनुमति प्रदान गर्न लाग्छ, अनुभव दिन लाग्छ। साधनाद्वारा अझ समीप गएमा त्यो पुरुष '**भर्ता**' बनेर भरण-पोषण गर्न थाल्छन्। जसमा तपाइको योगक्षेमको पनि व्यवस्था गरिदिन्छन्। साधना अझ सुक्ष्म भइसकेपछि त्यहि '**भोक्ता**' हुनजान्छ। '**भोक्तारं यज्ञ तपसाम्**'- यज्ञ, तप जे जति पार लाग्छ, सबैलाई त्यो पुरुषले ग्रहण गर्दछ र जब ग्रहण गर्दछ त्यस पछाडिको अवस्थामा '**महेश्वरः**'- महान् ईश्वरको रूपमा परिणत हुन्छ। त्यो प्रकृतिको स्वामी हुन्छ; तर अहिले कतै प्रकृति जीवित छ त्यसैले उसको मालिक हो। यसभन्दा पनि उन्नत अवस्थामा त्यही पुरुष '**परमात्मेति चाप्युक्तो**'- जब परमबाट संयुक्त हुन्छ तब परमात्मा भन्ने गरिन्छ। यसप्रकार शरीरमा रहेर पनि यो पुरुष आत्मा 'परः' नै छ, सर्वथा यस प्रकृतिबाट पर नै छ। फरक यति छ कि आरम्भमा यो द्रष्टाको रूपमा थियो, क्रमशः उत्थान हुँदा-हुँदै परमको स्पर्श गरेर परमात्माको रूपमा परिणत हुन्छ।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

यसप्रकार पुरुष र गुणहरूसहित प्रकृतिलाई जो मानिस साक्षात्कारको साथ विदित गरिलिन्छ, त्यो सबै प्रकारले व्यवहृत हुँदै पनि फेरि जन्मदैन अर्थात् उसको पुनर्जन्म हुँदैन। यो नै मुक्ति हो। अहिलेसम्म योगेश्वर श्रीकृष्णले ब्रह्म र प्रकृतिको प्रत्यक्ष जानकारीको साथ प्राप्त हुने परमगति अर्थात् उसको पुनर्जन्मबाट निवृत्तिमा प्रकाश पार्नुभयो र अब वहाँ त्यस योगमा जोड (बल) दिनुहुन्छ, जसको प्रक्रिया आराधना हो; किनकि यस कर्मलाई कार्यरूप नदिइकन कसैले पनि पाउँदैन।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

हे अर्जुन! त्यस **'आत्मानम्'**- परमात्मालाई कतिपय मानिस त **'आत्मना'**- आफ्नै अन्तर्चिन्तनले ध्यानद्वारा **'आत्मनि'**- हृदय-देशमा देख्दछन्। कतिपय मानिस सांख्ययोगद्वारा (अर्थात् आफ्नै शक्तिलाई सम्झदै त्यही कर्ममा प्रवृत्त हुन्छन्) र अरू धेरैले उसलाई निष्काम कर्मयोगद्वारा देख्दछन्। समर्पणको साथै त्यही नियत (तोकिएको) कर्ममा प्रवृत्त हुन्छन्। प्रस्तुत श्लोकमा मुख्य साधन हो ध्यान, त्यस ध्यानमा प्रवृत्त हुनको लागि सांख्ययोग र निष्काम कर्मयोग दुई धाराहरू छन्।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

तर अरू, जसलाई साधनाको ज्ञान छैन, त्यो यसप्रकार नजान्दै **'अन्येभ्यः'**- अर्को जो तत्वलाई जान्ने महापुरुष छन्, उद्वारा सुनेर नै उपासना गर्दछन् र ती सुनेनेको परायण भएका पुरुष पनि मृत्युरूपी संसार-सागरबाट निःसन्देह पार हुन्छन्। अतः केही पनि पार लाग्दैन भने सत्संग गर्नुस्। सन्तहरूको संगतमा रहुन्।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२६।।

हे अर्जुन! यावन्मात्र जे जति स्थावर-जंगम वस्तुहरू उत्पन्न हुन्छन् ती

सम्पूर्णलाई तिमी क्षेत्र र क्षेत्रज्ञको संयोगबाट नै उत्पन्न भएको जान। प्राप्ति कहिले हुन्छ? यसमा योगेश्वर भन्नुहुन्छ–

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

जो पुरुष विशेषरूपबाट नष्ट हुँदै गरेको चराचर सबै भूतहरूमा नाशरहित परमेश्वरलाई समभावबाट स्थित देख्छ, त्यही नै यथार्थ देख्छ। अर्थात् त्यस प्रकृतिको विशेषरूपबाट नष्ट भएपछि नै त्यो परमात्मास्वरूप हो, यसभन्दा पहिले होइन। यसैमा पछिल्लो अध्याय आठमा पनि भन्नुभएको थियो– '**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।**'– भूतहरूको त्यो भाव, जो (राम्रो अथवा नराम्रो) जति पनि (संस्कार) संरचना गर्दछन्, उसको समाप्त हुनु नै कर्मको पराकाष्ठा हो। त्यस समय कर्म पूर्ण हुन्छ। त्यही यहाँ पनि भन्नुहुन्छ कि जो चराचर भूतहरूलाई नष्ट हुँदै गरेको र परमेश्वरलाई समभावले स्थित देख्छ, त्यो नै सही देख्छ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

किनकि त्यो पुरुष सर्वत्र समभावबाट स्थित परमेश्वरलाई समान (जस्तो छ त्यस्तो नै समान) देख्दै आफैद्वारा स्वयंलाई नष्ट गर्दैन। किनकि जस्तो थियो त्यस्तै उसले देख्यो, यसैले त्यो परमगतिलाई प्राप्त गर्दछ। प्राप्तिवाला पुरुषको लक्षण बताउनु हुन्छ–

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्महरूलाई सबैतिरबाट प्रकृतिद्वारा नै गरिएको देख्छ अर्थात् जबसम्म प्रकृति छ, तबसम्म कर्म हुने देख्छ तथा आत्मालाई अकर्त्ता देख्छ, त्यसले यथार्थ देख्छ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।३०।।

जुन कालमा मानिस भूतहरूको भिन्न-भिन्न भावहरूमा एउटा परमात्मालाई प्रवाहित त देख्छ तथा त्यस परमात्माबाट नै सम्पूर्ण भूतहरूको विस्तार देख्छ, त्यस समय त्यो ब्रह्मलाई प्राप्त गर्दछ। जुन समय यो अवस्था आयो, त्यही समय त्यो ब्रह्मलाई प्राप्त गर्दछ। यी लक्षण पनि स्थितप्रज्ञ महापुरुषकै हो।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

कौन्तेय! अनादि हुनाले र गुणातीत हुनाले यो अविनाशी परमात्मा शरीरमा स्थित भएर पनि वास्तवमा न गर्दछ, न लिप्त नै हुन्छ। कसरी?–

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

जसरी सर्वत्र व्याप्त भएको आकाश सूक्ष्म भएको कारणले लिप्त हुँदैन, ठीक त्यस्तै नै सर्वत्र शरीरमा स्थित भए पनि आत्मा गुणातीत भएको करण शरीरको गुणहरूबाट लिप्त हुँदैन। अगाडि भन्नुहुन्छ–

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

अर्जुन! जसरी एउटै सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डलाई प्रकाशित गर्दछ, त्यसै प्रकार एउटै आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रलाई प्रकाशित गर्दछ। अन्त्यमा निर्णय दिनुहुन्छ–

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

यसप्रकार क्षेत्र र क्षेत्रज्ञको भेदलाई तथा विकारसहित प्रकृतिबाट मुक्त हुने उपायलाई जो ज्ञानरूपी आँखाद्वारा देख्छन्, ती महात्माजन परब्रह्म परमात्मालाई प्राप्त गर्दछन्। अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञलाई देख्ने आँखा ज्ञान हो र ज्ञान साक्षात्कारको नै पर्याय हो।

निष्कर्ष–

गीताको आरम्भमा धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्रको नाम त लिइयो तर त्यो क्षेत्र वस्तुतः कहाँ छ? त्यो ठाउँ बताउनु बाँकी थियो, जसलाई स्वयं शास्त्रकारले प्रस्तुत अध्यायमा स्पष्ट गरे– कौन्तेय! यो शरीर नै एउटा क्षेत्र हो। जो यसलाई जान्दछ, त्यो क्षेत्रज्ञ हो। त्यो यसमा अल्झेको छैन, बरू निर्लेप छ। यसको संचालक हो। अर्जुन! सम्पूर्ण क्षेत्रहरूमा म पनि क्षेत्रज्ञ हुँ– अरू महापुरुषसँग आफ्नो तुलना गर्नुभयो। यसबाट स्पष्ट हुन्छ कि श्रीकृष्ण पनि एउटा योगी थिए, किनकि जो जान्दछ, त्यो क्षेत्रज्ञ हो– यस्तो महापुरुषहरूले भनेका छन्। म पनि क्षेत्रज्ञ हुँ अर्थात् अरू महापुरुषहरू जस्तै म पनि हुँ।

वहाँले क्षेत्र जस्तो छ, जुन विकारहरू छ, क्षेत्रज्ञ जुन प्रभाव छ, त्यसमा प्रकाश पार्नुभयो। म नै भन्छु, यस्तो कुरा होइन, महर्षिहरूले पनि यही भनेका छन्। वेदका छन्दहरूमा पनि त्यसैलाई विभाजित गरेर दर्शाइएका छन्। ब्रह्मसूत्रमा पनि त्यही पाइन्छ।

शरीर (जो क्षेत्र हो) के यति नै छ, जति देखिन्छ? यसको हुनुको पछाडी जसको ठूलो हात छ, तिनलाई गनाउँदै बताउनुभयो कि अष्टधा मूल प्रकृति, अव्यक्त प्रकृति दश इन्द्रियहरू र मन, इन्द्रियहरूका पाँचै विषय, आशा, तृष्णा र वासना; यस प्रकार यी विकारहरूको सामूहिक मिश्रण नै यो शरीर हो। जबसम्म यी रहनेछन्, तबसम्म शरीर कुनै न कुनै रूपमा रहनेछ। यही क्षेत्र हो, जसमा रोपेको राम्रो–नराम्रो बीउ संस्काररूपमा उम्रन्छ। जो यसको पार पाउँछ, त्यो क्षेत्रज्ञ हो। क्षेत्रज्ञको स्वरूप बताउँदै वहाँले ईश्वरीय गुणधर्महरूमाथि प्रकाश पार्नुभयो र भन्नुभयो कि क्षेत्रज्ञ यस क्षेत्रको प्रकाशक हो।

वहाँले बताउनुभयो कि साधनाको पूर्तिकालमा परमतत्व परमात्माको प्रत्यक्ष दर्शन नै ज्ञान हो। ज्ञानको अर्थ हो साक्षात्कार। यस बाहेक जे जति छ सबै अज्ञान हो। जान्ने योग्य वस्तु हो– परात्पर ब्रह्म। त्यो न सत् हो, न असत्। उनी यी दुबैबाट पर छन्। त्यसलाई जान्नको लागि मानिसहरू हृदयमा ध्यान गर्दछन्, बाहिर मूर्ति राखेर होइन। धेरेजसो मानिसहरू सांख्य माध्यमले ध्यान

गर्छन्, अनि बाँकि निष्काम कर्मयोग, समर्पणका साथै त्यसको प्राप्तिको लागि त्यही निर्धारित कर्म आराधनाको आचरण गर्दछन्। जो उसको विधि जान्दैनन्, ती मानिसहरू तत्त्वस्थित महापुरुषद्वारा सुनेर आचरण गर्दछन्। ती पनि परम कल्याणलाई प्राप्त गर्दछन्। अतः केही पनि बुझ्न सकेन भने त्यसको ज्ञाता महापुरुषको सत्संग आवश्यक छ।

स्थितप्रज्ञ महापुरुषको लक्षण बताउँदै योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि जस्तै आकाश सर्वत्र सम रहेर पनि निर्लेप छ, जस्तै सूर्य प्रकाश गर्दै पनि निर्लेप छ, ठीक त्यसै प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष सर्वत्र सम ईश्वरलाई जस्तै छ त्यस्तै नै देख्ने क्षमता भएको पुरुष क्षेत्रबाट अथवा प्रकृतिबाट सर्वथा निर्लेप हुन्छ। अन्त्यमा वहाँले निर्णय दिनुभयो कि क्षेत्र र क्षेत्रज्ञको जानकारी ज्ञानरूपी आँखाद्वारा नै सम्भव छ। ज्ञान, जस्तो कि पछाडि बताउनु भएको थियो, त्यस परमात्माको प्रत्यक्ष दर्शनको साथ प्राप्त हुने जानकारी हो। शास्त्रहरूलाई धेरै रटेर दोहोर्‍याउनु ज्ञान होइन, बरू अध्ययन तथा महापुरुषहरूबाट त्यस कर्मलाई सम्झेर, त्यस कर्ममा हिडेर मनसहित इन्द्रियहरूको निरोध र त्यस निरोधको पनि विलयकालमा परमतत्वलाई देख्नासाथ जुन अनुभूति हुन्छ, त्यही अनुभूतिको नाम ज्ञान हो। क्रिया आवश्यक छ। यस अध्यायमा मुख्यतः क्षेत्रज्ञको विस्तारपूर्वक वर्णन गरिएको छ। वस्तुतः क्षेत्रको स्वरूप व्यापक छ। शरीर भन्नु त सरल छ तर शरीरको सम्बन्ध कहाँसम्म छ? समग्र ब्रह्माण्ड मूल प्रकृतिको विस्तार हो। अनन्त अन्तरिक्षहरूसम्म तपाईंको शरीरको विस्तार छ। त्यसबाट तपाईंको जीवन ऊर्जस्वित छ, त्यो बिना तपाईं जीवित रहन सक्नु हुन्न। यो भूमण्डल, विश्व जगत्, देश-प्रदेश र तपाईंको यो देखिने शरीर त्यस प्रकृतिको एउटा टुक्रा पनि होइन। यसप्रकार क्षेत्रको नै यस अध्यायमा विस्तारपूर्वक वर्णन छ, अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

यस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको सम्वादमा 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागयोग' नामक तेह्रौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभागयोग' नामक तेह्रौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।।

चौधौं अध्याय

पछिल्लो अनेकौं अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले ज्ञानको स्वरूप स्पष्ट गर्नुभयो। अध्याय ४/१९मा वहाँले बताउनुभयो कि जुन पुरुषद्वारा सम्पूर्णताबाट आरम्भ गरिएको निर्धारित कर्मको आचरण क्रमशः उत्थान हुँदा-हुँदै यति सूक्ष्म हुनगयो कि कामना र सङ्कल्पको सर्वथा शमन भयो, त्यस समय जसलाई ऊ जान्न चाहन्छ, त्यसको प्रत्यक्ष अनुभूति हुन्छ, त्यही अनुभूतिको नाम ज्ञान हो। तेह्रौं अध्यायमा ज्ञानलाई परिभाषित गर्नुभयो, '**अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।**'- आत्मज्ञानमा एकरस स्थिति र तत्त्वको अर्थस्वरूप परमात्माको प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान हो। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको भेदलाई विदित गर्नु नै ज्ञान हो। ज्ञानको अर्थ शास्त्रार्थ होइन, शास्त्रहरूलाई यादगर्नु ज्ञान होइन। अध्यासको त्यो अवस्था ज्ञान हो, जहाँ त्यो तत्त्व विदित हुन्छ। परमात्माको साक्षात्कारको साथ मिल्ने अनुभूतिको नाम ज्ञान हो, यसको विपरीत सबै कुरा अज्ञान हुन्।

यसरी सबै कुरा बताईसके पछि पनि प्रस्तुत अध्याय चौधमा योगेश्रर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि, अर्जुन! ती ज्ञानहरूमा पनि परम उत्तम ज्ञानलाई म फेरि पनि तिम्रो लागि भन्नेछु। योगेश्रर त्यसैको पुनरावृत्ति गर्दै हुनुहुन्छ; किनकि '**शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय।**' राम्ररी चिन्तन गरिएको शास्त्रलाई पनि पटक-पटक हेर्नु पर्दछ। यति मात्र होइन, जसो-जसो तपाईं साधन-पथमा अग्रसर हुनुहुनेछ, जसो-जसो त्यस इष्टमा प्रवेश पाउँदै जानेछ, त्यसो-त्यसो ब्रह्मबाट नयाँ-नयाँ अनुभूतिहरू प्राप्त हुनेछ। यो जानकारी सद्गुरु महापुरुषले नै दिनुहुन्छ, यसैले श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- म फेरि भन्नेछु।

सुरति (स्मृति) यस्तो पटल हो, जसमा संस्कारहरूको अंकन सधैं भई रहन्छ। यदि पथिकलाई इष्टमा प्रवेश दिने जानकारी धमिलो हुन्छ तब त्यस स्मृति-पटलमा प्रकृति अंकित हुनलाग्छ जो विनाशको कारण हो। यसैले पूर्तिपर्यन्त साधकले इष्ट-सम्बन्धी जानकारी दोहोऱ्याउँदै रहनुपर्छ। आज स्मृति जीवन्त छ, तर अगाडिका अवस्थाहरूमा प्रवेश पाउनासाथ यो अवस्था रहने छैन। यसैले 'पूज्य महाराजज्यू' भन्ने गर्नुहुन्थ्यो कि- 'ब्रह्मविद्याको चिन्तन प्रत्येक दिन गर, एक माला प्रत्येक दिन धुमाऊ, जो चिन्तनले घुमाइन्छ, बाहिरको माला होइन।'

यो त साधकको लागि हो, तर जो वास्तविक सद्‌गुरु हुन्छ, वहाँ सधैं त्यस पथिकको पछि लागि रहन्छ, भित्र उसको आत्माबाट जागृत भएर तथा बाहिर आफ्नो क्रिया-कलापहरूबाट उसलाई अभिनव परिस्थितिहरूबाट अवगत गराउँदै रहन्छ। योगेश्वर श्रीकृष्ण पनि महापुरुष हुनुहुन्थ्यो। अर्जुन शिष्यको स्थानमा छ, उसले भगवान्‌सँग सम्हालनको लागि प्रार्थना गरेका थिए। यसैले योगेश्वर श्रीकृष्णको कथन छ कि ज्ञानहरूमा पनि अति उत्तम ज्ञान म पुनः तिम्रो लागि भन्नेछु।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

अर्जुन! ज्ञानहरूमा पनि अति उत्तम ज्ञान परमज्ञानलाई म फेरि पनि तिम्रो लागि भन्नेछु (जसलाई पछाडि भनिसकेको छु), जसलाई जानेर सबै मुनिजन यस संसारबाट मुक्त भएर परमसिद्धि प्राप्त गर्दछन् (त्यसपछि कुनै पनि वस्तु पाउन बाँकी रहँदैन)।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

यस ज्ञानलाई '**उपाश्रित्य**'- यस ज्ञानको नजिकबाट आश्रय लिएर, क्रियाबाट हिडेर नजिक पुगेर मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गरेका मानिसहरू सृष्टिको

आदिमा पुनः जन्म लिंदैन र प्रलय-कालमा अर्थात् शरीरान्त हुने समयमा व्याकुल हुँदैन, किनकि महापुरुषको शरीरको अन्त्य त त्यही दिन हुन्छ, जब त्यो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ। त्यसपछि उसको शरीर बस्ने एउटा घर मात्र रहन जान्छ। पुनर्जन्मको स्थान कहाँ छ, जहाँ मानिस जन्म लिन्छन्? यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

हे अर्जुन! मेरो 'महद्ब्रह्म' अर्थात् अष्टधा मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतहरूको योनि हो र त्यसमा म चेतनरूपी बीज स्थापित गर्दछु, त्यस जड-चेतनको संयोगबाट सबै भूतहरूको उत्पत्ति हुन्छ।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

कौन्तेय! सबै योनिहरूमा जति शरीर उत्पन्न हुन्छन्, ती सबैको '**योनिः**'– गर्भधारणा गर्ने आमा, आठ भेदहरू भएको मूल प्रकृति हो र म नै बीउ स्थापन गर्ने पिता हुँ। अरू कोही न माता हो न पिता। जबसम्म जड-चेतनको संयोग रहने छ, जन्म हुँदै रहने छ, निमित्त त कुनै न कुनै बन्दै रहने छन्। चेतन आत्मा जड प्रकृतिमा किन बाँधिन्छ? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ–

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

महाबाहु अर्जुन! सत्वगुण, रजोगुण र तमोगुण प्रकृतिबाट उत्पन्न भएका तीनै गुणले नै यस अविनाशी जीवात्मालाई शरीरमा बाँध्दछन्। कसरी?–

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

निष्पाप अर्जुन! ती तीनवटै गुणहरूमा प्रकाश गर्ने निर्विकार सत्वगुण त '**निर्मलत्वात्**'– निर्मल भएको हुनाले सुख र ज्ञानको आसक्तिबाट आत्मालाई

शरीरमा बाँध्दछ। सत्वगुसण पनि बन्धन नै हो। फरक यति छ कि सुख एकमात्र परमात्मा हो र ज्ञान साक्षात्कारको नाम हो। सत्वगुणी तबसम्म बाँधिएको छ, जबसम्म परमात्माको साक्षात्कार हुँदैन।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

हे अर्जुन! रागको जिउँदै र जाग्दो स्वरूप रजोगुण हो। यसलाई तिमी '**कर्मसंगेन**'- कामना र आसक्तिबाट उत्पन्न भएको जान। त्यो जीवात्मालाई कर्म र त्यसको फलको आसक्तिमा बाँध्दछ। त्यो कर्मको प्रवृत्ति दिन्छ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।।

अर्जुन! समस्त शरीरधारीहरूलाई मोहित पार्ने तमोगुणलाई तिमी अज्ञानबाट उत्पन्न भएको जान। त्यो यस आत्मालाई प्रमाद अर्थात् व्यर्थको चेष्टा, आलस्य (भोलि गरौंला) र निद्राद्वारा बाँध्दछ। निद्राको अर्थ यो होइन कि तमोगुणी बढी सुत्छन्। शरीर सुत्छ, यस्तो कुरा होइन। '**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**' जगत् नै रात्रि हो। तमोगुणी व्यक्ति यस जगत्‌रूपी निशामा रात-दिन व्यस्त रहन्छ, प्रकाश स्वरूपतिर अचेत रहन्छ। यही तमोगुणी निद्रा हो। जो यसमा अल्झन्छ, सुत्छ। अब तीनवटै गुणहरूको बन्धनको सामूहिक स्वरूप बताउनु हुन्छ-

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।९।।

अर्जुन! सत्वगुण सुखमा लगाउँछ, शाश्वत परमसुखको धारामा लगाउँछ, रजोगुण कर्ममा प्रवृत्त गर्दछ र तमोगुण ज्ञानलाई आच्छादित गरेर प्रमादमा अर्थात् अन्तःकरणको व्यर्थ चेष्टाहरूमा लगाउँछ। जब गुण एउटै स्थानमा, एउटै हृदयमा छ भने बेग्ला-बेग्लै विभक्त कसरी हुन्छन्? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण बताउनु हुन्छ-

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

हे अर्जुन! रजोगुण र तमोगुणलाई दबाएर सत्वगुण बढ्छ, त्यस्तै सत्वगुण र तमोगुणलाई दबाएर रजोगुण बढ्छ। तथा यसैप्रकार रजोगुण र सत्वगुणलाई दबाएर तमोगुण बढ्छ। यसलाई कसरी जान्न सकिन्छ कि कहिले र कुन गुण कार्य गरिरहेको छ?

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

जुन कालमा यस शरीर तथा अन्तःकरण र सम्पूर्ण इन्द्रियहरूमा ईश्वरीय प्रकाश र बोधशक्ति उत्पन्न हुन्छ, त्यस समय यस्तो जान्नु पर्दछ कि सत्वगुण विशेष वृद्धिलाई प्राप्त भएको छ तथा–

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

हे अर्जुन! रजोगुणको विशेष वृद्धि भएमा लोभ, कार्यमा प्रवृत्त हुने चेष्टा, कर्महरूको आरम्भ, अशान्ति अर्थात् मनको चंचलता, विषय–भोगको लालसा– यी सबै उत्पन्न हुन्छन्। अब तमोगुणको वृद्धिमा के हुन्छ?–

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अर्जुन! तमोगुण बढेमा '**अप्रकाशः**'–(प्रकाश परमात्माको द्योतक हो) ईश्वरीय प्रकाशतिर नबढ्ने स्वभाव, '**कार्यम् कर्म**'– जो गर्नेयोग्य प्रक्रिया–विशेष हो त्यसमा अप्रवृत्ति, अन्तःकरणमा व्यर्थको चेष्टाहरूको प्रवाह र संसारमा मुग्ध गर्ने प्रवृत्तिहरू– यी सबै उत्पन्न हुन्छन्। यी गुणहरूको जानकारीबाट के लाभ छ?–

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

जब यो जीवात्मा सत्वगुणको वृद्धिकालमा मृत्यु प्राप्त हुन्छ, शरीर-त्याग गर्दछ, तब उत्तम कर्म गर्नेलाई मलरहित दिव्यलोकहरू प्राप्त हुन्छ तथा-

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

रजोगुणको वृद्धि भएको बेला मृत्युलाई प्राप्त हुनेवाला, कर्महरूको आसक्तिभएका मनुष्यहरूमा जन्म लिन्छ तथा तमोगुणको वृद्धिमा मरेको पुरुष मूढयोनिहरूमा जन्म लिन्छ, जसमा कीरा-फट्याङ्ग्रापर्यन्त योनिहरूको विस्तार छ। अतः गुणहरूमा पनि मानिसहरू सात्विक गुणवाला हुनु पर्छ। प्रकृतिको यो बैंकले तपाईंको अर्जित गुणहरूलाई मृत्युको उपरान्त पनि तपाईंलाई सुरक्षित फर्काइदिन्छ। अब हेरौं यसको परिणाम-

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

सात्विक कर्मको फल सात्विक, निर्मल, सुख, ज्ञान र वैराग्य आदि भनिएको छ। राजस कर्मको फल दुःख र तामस कर्मको फल अज्ञान हो। तथा-

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

सत्वगुणबाट ज्ञान उत्पन्न हुन्छ (ईश्वरीय अनुभूतिको नाम ज्ञान हो), ईश्वरीय अनुभूतिको प्रवाह हुन्छ। रजोगुणबाट निःसन्देह लोभ उत्पन्न हुन्छ तथा तमोगुणबाट प्रमाद, मोह, आलस्य (अज्ञान) नै उत्पन्न हुन्छ। यी उत्पन्न भएर कस्तो गति दिन्छन्?-

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

सत्वगुणमा स्थित भएको पुरुष 'ऊर्ध्वमूलम्'- त्यस मूल परमात्मातिर

प्रवाहित हुन्छ, निर्मल लोकहरूमा जान्छ। रजोगुणमा स्थित राजस पुरुष मध्यम श्रेणीका मानिस हुन्छन्, जोसँग न 'सात्त्विकं'- विवेक-वैराग्य नै हुन्छ र न अधम कीरा-फट्याङ्ग्रा योनिहरूमा जान्छन्, बरू पुनर्जन्म प्राप्त गर्दछन् र निन्दित तमोगुणमा प्रवृत्त भएका तामस पुरुष 'अधोगति' अर्थात् पशु-पक्षी, कीरा-फट्याङ्ग्रा आदि अधम योनिहरू प्राप्त गर्दछन्। यसप्रकार तीनवटै गुणहरू कुनै न कुनै रूपमा योनिकै कारण हुन्। जो पुरुष गुणलाई पार गर्दछ, ऊ जन्म-बन्धनबाट मुक्त हुन्छ र मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ। यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

जुन कालमा द्रष्टा आत्मा तीनवटै गुणहरू बाहेक अरू कसैलाई कर्त्ता देख्दैन र तीनवटै गुणहरूबाट अत्यन्त पर परमतत्वलाई 'वेत्ति'- विदित गरिलिन्छ, त्यस समय त्यो पुरुष मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ। यो बौद्धिक मान्यता होइन कि गुण गुणहरूमा कार्यरत हुन्छन्। साधना गर्दा-गर्दै एउटा यस्तो अवस्था आउँछ, जहाँ त्यस परमबाट अनुभूति हुन्छ कि गुणहरू बाहेक अरू कुनै कर्ता देखिंदैन, त्यस समय पुरुष तीनवटै गुणहरूबाट अतीत हुन्छ। यो कल्पित मान्यता होइन। यसैमा वहाँ अगाडि भन्नुहुन्छ-

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

पुरुष यी स्थूल शरीरहरूको उत्पत्तिको कारणरूप तीनवटै गुणहरूबाट अतीत भएर जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था र सबै प्रकारका दुःखहरूबाट विशेष रूपले मुक्त भएर अमृत-तत्त्वको पान गर्दछ। यसमाथि अर्जुनले प्रश्न गरे-

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

प्रभो! यी तीनवटै गुणहरूबाट अतीत भएको पुरुष कुन-कुन लक्षणहरूले युक्त हुन्छ र कुन प्रकारका आचरणवाला हुन्छ तथा मानिस कुन उपायबाट यी तीनवटै गुणहरूबाट अतीत हुन्छ?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।२२।।

अर्जुनका उपर्युक्त तीनवटै प्रश्नहरूको उत्तर दिंदै योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो- अर्जुन! जुन पुरुष सत्त्वगुणको कार्यरूप ईश्वरीय प्रकाश, रजोगुणको कार्यरूप प्रवृत्ति र तमोगुणको कार्यरूप मोहलाई न त प्रवृत्त भएमा नराम्रो मान्दछन् र न निवृत्त भएमा उसको आकांक्षा नै गर्दछन्। तथा-

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।

जो यसप्रकार उदासीन भएको गुणहरूद्वारा विचलित गर्न हुदैनन्, गुण-गुणमा नै कार्यरत हुन्छन्, यस्तो यथार्थतः जान्नेहरू त्यस स्थितिबाट चलायमान हुँदैन, तब मात्र त्यो गुणहरूबाट अतीत हुन्छ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

जो निरन्तर स्वयंमा अर्थात् आत्मभावमा स्थित छ, सुख र दुःखमा सम छ, माटो-ढुङ्गा र स्वर्णमा पनि समान भाव राख्दछ, धैर्यवान् छ, जो प्रिय र अप्रियलाई बराबर सम्झन्छ, आफ्नो निन्दा तथा स्तुतिमा पनि समान भाव भएको छ, र-

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

जो मान र अपमानमा सम छ, मित्र र शत्रु-पक्षमा सम छ, त्यो सम्पूर्ण आरम्भहरूबाट रहित भएको पुरुष गुणातीत भनिन्छ।

श्लोक बाइसदेखि पचीससम्म गुणहरबाट अतीत पुरुषको लक्षण र आचरण बताउनुभयो कि त्यो चलायमान हुँदैन, गुणहरूद्वारा विचलित गर्न सकिंदैन, स्थिर रहन्छ। अब प्रस्तुत छ गुणहरूबाट अतीत हुने विधि–

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्तिद्वारा अर्थात् इष्टबाहेक अरू सांसारिक स्मरणहरूबाट सर्वथा रहित भएर योगद्वारा अर्थात् त्यही नियत कर्मद्वारा मलाई निरन्तर भज्दछ त्यो यी तीनवटै गुणहरूको राम्ररी परब्रह्मसँग एक हुने योग्य हुन्छ, जसको नाम कल्प हो। ब्रह्मसँग एकीभाव हुनु नै वास्तविक कल्प हो। अनन्य भावबाट नियत कर्मको आचरण नगरीकन कोही पनि गुणहरूबाट अतीत हुँदैन। अन्त्यमा योगेश्वर निर्णय दिनुहुन्छ–

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

हे अर्जुन! त्यस अविनाशी ब्रह्मको (जोसँग त्यो कल्प गर्दछ, जसमा त्यो गुणातीत एकीभावबाट प्रवेश गर्दछ), अमृतको, शाश्वत धर्मको र त्यस अखण्ड एकरस आनन्दको म नै आश्रय हुँ अर्थात् परमात्मस्थित सद्‌गुरु नै यी सबैका आश्रय हुन्। श्रीकृष्ण एउटा योगेश्वर थिए। अब यदि तपाईंलाई अव्यक्त, अविनाशी, ब्रह्म, शाश्वत धर्म, अखण्ड, एकरस आनन्दको आवश्यकता छ भने कुनै तत्त्वस्थित, अव्यक्तस्थित महापुरुषको शरण लिनुस्। उनीद्वारा नै यो संभव छ।

निष्कर्ष–

यस अध्यायको आरम्भमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! ज्ञानहरूमा पनि अति उत्तम परमज्ञानलाई म फेरि पनि तिम्रो लागि भन्नेछु, जसलाई जानेर मुनिजन उपासनाद्वारा मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछन्; फेरि सृष्टिको आदिमा उनीहरू जन्म लिंदैनन्; तर शरीरको निधन त हुनु नै छ। त्यस समय ऊ व्यथित हुँदैन। उनले वास्तवमा शरीरलाई त त्यसै दिन त्यागी दिन्छ,

जुन दिन स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछ। प्राप्ति जीवित अवस्थामा हुन्छ, तर शरीरको अन्त्य हुने बेलामा पनि ऊ व्यथित हुँदैन।

प्रकृतिबाट नै उत्पन्न भएको रज, सत्व र तम- तीनवटै गुणहरू यस जीवात्मालाई शरीरमा बाँध्दछन्। दुई गुणहरूलाई थिचेर तेस्रो गुण बढाउन सकिन्छ। गुण परिवर्तनशील छन्। प्रकृति जो अनादि छ, नष्ट हुँदैन; बरू गुणहरूको प्रभावलाई टार्न सकिन्छ। गुणले मनमा प्रभाव पार्दछन्। जब सत्वगुणको वृद्धि हुन्छ, तब ईश्वरीय प्रकाश र बोधशक्ति रहन्छ। रजोगुण रागात्मक हो। त्यस समय कर्मको लोभ रहन्छ, आसक्ति रहन्छ र अन्तःकरणमा तमोगुण कार्यरूप लिएमा आलस्य-प्रमादले चारैतिरबाट घेर्दछन्। सत्त्वको वृद्धिमा मृत्यु प्राप्त पुरुष माथिको निर्मल लोकहरूमा जन्म लिन्छन्। रजोगुणको वृद्धिमा प्राप्त भएको मानिस मानव-योनिमा नै फर्केर आउँछन्। तमोगुणको वृद्धिकालमा मानिस शरीर त्यागेर (पशु-पक्षी, कीरा-फट्याङ्ग्रा आदि) अधम योनि प्राप्त गर्दछन्। यसैले मानिसलाई क्रमशः उन्नत गुण सात्विकतिर बढ्नु पर्दछ। वस्तुतः तीनवटै गुणहरू कुनै न कुनै योनिकै कारण हुन्। गुण नै आत्मालाई शरीरमा बाँध्दछन्। यसैले गुणहरूबाट अतीत हुनु पर्दछ। उनीहरू जसबाट मुक्त हुन्छन्, त्यसको स्वरूप बताउँदै योगेश्वरले भन्नुभयो- अष्टधा मूल प्रकृति गर्भ धारण गर्ने माता हो र म नै बीजरूप पिता हुँ, अरू न कोही माता न पिता छ। जबसम्म यो क्रम रहनेछ, तबसम्म चराचर जगत्मा निमित्त रूपले कोही न कोही माता-पिता बन्दै रहनेछन्; तर वस्तुतः प्रकृति नै माता हो, म नै पिता हुँ।

यसमाथि अर्जुनले तीन प्रश्न गरे कि- गुणातीत पुरुषको लक्षण के हो? आचरण के हुन्? र कुन उपायबाट मानिस यी तीनवटै गुणहरूबाट अतीत हुन्छ? यसप्रकार योगेश्वर श्रीकृष्णले गुणातीत पुरुषको लक्षण र आचरण बताउनुभयो र अन्त्यमा गुणातीत हुने उपाय पनि बताउनुभयो- जो पुरुष अव्यभिचारी भक्ति र योगद्वारा निरन्तर मलाई भज्दछन्, ती तीनवटै गुणहरूबाट अतीत हुनजान्छन्। अरू कसैको चिन्तन नगर्दै, निरन्तर इष्टको चिन्तन गर्नु अव्यभिचारी भक्ति हो। जो संसारको संयोग-वियोगबाट सर्वथा रहित छ, त्यसैको नाम योग हो, त्यसलाई कार्य-रूप दिने प्रणालीको नाम 'कर्म' हो।

यज्ञ जसद्वारा सम्पन्न हुन्छ, त्यो क्रिया-कलाप कर्म हो। अव्यभिचारी भक्तिद्वारा त्यस नियत कर्मको आचरणबाट नै पुरुष तीनवटै गुणहरूबाट अतीत हुन्छ र अतीत भएर ब्रह्मसँग एकीभावको लागि, पूर्ण कल्पलाई प्राप्त हुनको निम्ति योग्य हुन्छ। गुण जुन मनमाथि प्रभाव पर्दछ, त्यसको विलय हुनासाथ ब्रह्मसँग एकीभाव हुन्छ, यही वास्तविक कल्प हो। अतः भजन नगरीकन कोही गुणहरूबाट अतीत हुँदैन।

अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्ण निर्णय दिनुहुन्छ कि त्यो गुणातीत पुरुष जुन ब्रह्मसँग एकीभावमा स्थित हुन्छ, त्यस ब्रह्मको, अमृत तत्त्वको, शाश्वत धर्मको र अखण्ड एकरस आनन्दको म नै आश्रय हुँ अर्थात् प्रधान कर्त्ता हुँ। अब त श्रीकृष्ण गइसक्नुभयो, अब त्यो आश्रय पनि गइसक्यो, तब त यो बडो संशयको कुरा छ। त्यो आश्रय अब कहाँ मिल्नेछ? तर होइन, श्रीकृष्णले आफ्नो परिचय दिनुभयो। वहाँ एक योगी हुनुहुन्थ्यो, स्वरूपस्थ महापुरुष हुनुहुन्थ्यो। '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**'- अर्जुनले भनेका थिए- म तपाईंको शिष्य हुँ, तपाईंको शरणमा हुँ, मलाई सम्हाल्नुस्। ठाउँ-ठाउँमा श्रीकृष्णले आफ्नो परिचय दिनुभयो। स्थितिप्रज्ञ महापुरुषको लक्षण बताउनु भयो र उहाँसँग आफ्नो तुलना गर्नुभयो। अतः स्पष्ट छ कि श्रीकृष्ण एक महात्मा, योगी हुनुहुन्थ्यो। अब यदि तपाईंलाई अखण्ड, एकरस आनन्द, शाश्वत धर्म अथवा अमृततत्त्वको आवश्यकता छ भने यी सबैको प्राप्तिको स्रोत एकमात्र सद्‌गुरु हुनुहुन्छ। सोझै पुस्तक पढेर कसैले वहाँलाई पाउन सक्दैनन्। जब त्यही महापुरुष आत्माबाट अभिन्न भएर रथी हुन्छ, तब विस्तारै-विस्तारै अनुरागीलाई संचालित गर्दै उसको स्वरूपसम्म, जसमा वहाँ स्वयं प्रतिष्ठित हुनुहुन्छ, पुऱ्याउनु हुन्छ। वहाँ नै एकमात्र माध्यम हुनुहुन्छ। यसप्रकार योगेश्वर श्रीकृष्णले आफूलाई सबैको आश्रय बताउँदै यस चौधौं अध्यायको समापन गर्नुभयो, जसमा गुणहरूको विस्तारपूर्वक वर्णन छ। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

यसप्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको संवादमा 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौधौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

यसप्रकार श्रीमत परमहंस परमानन्दका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौधौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।।

पंध्रौं अध्याय

महापुरुषहरूले संसारलाई विभिन्न दृष्टान्तहरूबाट सम्झाउने प्रयास गर्नुभएको छ। कसैले यसलाई भवाटवी भने, कसैले संसार-सागर भने। अवस्था-भेदबाट यसैलाई भवनदी र भवकूप पनि भनियो र कहिले यसको तुलना गो-पदबाट गरियो अर्थात् जति इन्द्रियहरूको आयतन छ, त्यति नै संसार छ र अन्त्यमा यस्तो पनि अवस्था आयो कि (**'नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।'**) भव-सिन्धु पनि सुक्यो। के संसारमा यस्ता समुद्रहरू छ? योगेश्वर श्रीकृष्णले पनि संसारलाई समुद्र र रुखको संज्ञा दिनुभयो। अध्याय बाह्रमा वहाँले भन्नुभयो- जो मेरो अनन्य भक्त छन्, उनको संसार-समुद्रबाट चाँडै नै उद्धार गर्नेवाला हुन्छु। यहाँ प्रस्तुत अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- संसार एउटा वृक्ष हो, यसलाई काटेर नै योगीजन त्यस परमपदलाई खोज्दछन्। हेरौं-

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

अर्जुन! **'ऊर्ध्वमूलम्'**- माथिको परमात्मा नै जसको मूल हो, **'अधःशाखम्'**- तल प्रकृति नै जसका शाखाहरू हुन्, यस्तो संसाररूपी पीपलको रुखलाई अविनाशी भनिन्छ। (वृक्ष त अ-श्वः अर्थात् भोलिसम्म पनि रहनेवाला छैन, जुसुकै बेला पनि कट्छ; तर छ अविनाशी) श्रीकृष्णको अनुसार अविनाशी दुइवोटा छन्- एउटा संसाररूपी रुख अविनाशी र अर्को त्यसभन्दा पनि पर- परम अविनाशी। वेद यस अविनाशी संसार-विपटको पात भनिएको छ। जो पुरुष यस संसाररूपी रुखलाई देख्दै विदित गरिलिन्छ, त्यो वेदको ज्ञाता हो।

जसले यस संसार-वृक्षलाई जानेको छ, त्यसले वेदलाई जानेको छ, न कि ग्रन्थ पढ्नेले। पुस्तक पढ्नाले त उता बढ्ने प्रेरणा मात्र मिल्छ। पातहरूको स्थानमा वेदको के आवश्यकता छ? वस्तुतः पुरुष भौंतारिदै-भौंतारिदै जुन अन्तिम कोपिला अर्थात् अन्तिम जन्म लिन्छ, त्यहींबाट वेदको ती छन्द (जो कल्याणको सृजन गर्दछन्) त्यहींबाट प्रेरणा दिन्छन्, त्यसको उपयोग छ। त्यहींबाट भौंतारिनु समाप्त हुन्छ। त्यो स्वरूपतिर फर्कन्छ। तथा-

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

यस संसार-वृक्षका तीनवटै गुणहरूद्वारा बढेको विषय र भोगरूप कोपिलावाला शाखाहरू तल र माथि सर्वत्र फैलिएको छन्। तलतिर कीरा-फट्याङ्ग्रासम्म र माथि देवभावदेखि लिएर ब्रह्मासम्म सर्वत्र फैलिएको छन् तथा मात्र मानिस-योनिमा कर्महरूको अनुसार बाधिने छन्। अन्य सबै योनिहरू भोग भोग्नको लागि छन्। मनुस्य योनि नै कर्म अनुसार बन्धन तयार गर्दछ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

तर यस संसार-वृक्षको रूप, जस्तो भनिएको छ, त्यस्तो यहाँ पाइदैन; किनकि न त यसको आदि छ, न अन्त छ र न राम्रो प्रकारले यसको स्थिति छ (किनकि यो परिवर्तनशील छ)। यस सुदृढ मूलभएको संसाररूपी रुखलाई दृढ '**असंगशस्त्रेण**'- असँग अर्थात् वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा काटेर, (संसाररूपी रूखलाई काट्नु छ। यस्तो होइन कि पीपलको जरामा परमात्मा बस्नुहुन्छ वा पीपलको पात वेद हो र रुखलाई आरती गर्न लागनु रुखका।)

यस संसार-रुखको मूल त स्वयं परमात्मा नै बीजरूपबाट प्रसारित छ, के त्यो पनि काटिनेछ? दृढ वैराग्यद्वारा यस प्रकृतिको सम्बन्ध-विच्छेद हुन्छ, यहि काट्नु हो। काटेर गर्ने के?

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

दृढ वैराग्यद्वारा संसार काटेपछि त्यस परमपद परमेश्वरलाई राम्ररी खोज्नु पर्दछ, जसमा एक पटक गइसकेको मानिस फेरि फर्केर यस संसारमा आउँदैनन् अर्थात् पूर्ण निवृत्ति प्राप्त गरिलिन्छन्। तर त्यसको खोज कुन प्रकारले संभव छ? योगेश्वर भन्नुहुन्छ– यसको लागि समर्पण आवश्यक छ। जुन परमेश्वरबाट पुरातन संसार-वृक्षको प्रवृत्ति विस्तारलाई प्राप्त भएको छ, त्यही आदिपुरुष परमात्माको म शरण हुँ (त्यसको शरण नपरीकन वृक्ष मेटिन्न)। अब शरणमा गएको वैराग्यमा स्थित पुरुषले कसरी बुझोस् कि रुख काटियो? त्यसको पहिचान के हो? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ–

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

उपर्युक्त प्रकारको समर्पणले जसको मोह र मान नष्ट भएको छ, आसक्तिरूपी सँगदोष जसले जितेका छन्, '**अध्यात्मनित्या**'– परमात्माको स्वरूपमा जसको निरन्तर स्थिति छ, जसका कामनाहरू विशेषरूपबाट निवृत्त भइसकेका छन् र सुख-दुःखको द्वन्द्वबाट विमुक्त भएको ज्ञानीजन त्यस अविनाशी परमपदलाई प्राप्त गर्दछन्। जबसम्म त्यो अवस्था आउँदैन, तबसम्म संसारवृक्ष काटिंदैन। यहाँसम्म वैराग्यको आवश्यकता रहन्छ। त्यस परमपदको के स्वरूप हो, जसलाई पाउँछन्?–

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

त्यस परमपदलाई न सूर्य, न चंद्रमा र न अग्नि नै प्रकाशित गर्न सक्छन्। जुन परमपदलाई प्राप्त गरेर मानिस फेरि संसारमा आउँदैन, त्यही मेरो परमधाम

हो अर्थात् जसको पुनर्जन्म हुँदैन। यस पदको प्राप्तिमा सबैको समान अधिकार छ। यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ–

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

'जीवलोके' अर्थात् यस शरीरमा (शरीर नै लोक हो) यो जीवात्मा मेरो नै सनातन अंश हो र त्यही यी त्रिगुणमयी मायामा स्थित भएको मनसहित पाँचै इन्द्रियहरूलाई आकर्षित गर्दछ। त्यो कसरी?–

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

जसरी वायु गन्धको स्थानबाट गन्धलाई ग्रहण गरी लिएर जान्छ– ठीक त्यसै प्रकार शरीरको स्वामी जीवात्मा जुन पहिलेको शरीरलाई त्याग्दछ, त्यसबाट मन र पाँच ज्ञानेन्द्रियहरूको कार्य–कलापहरूलाई ग्रहण गरेर (आकर्षित गरेर साथ लिएर) फेरि जुन शरीरलाई प्राप्त हुन्छ, त्यसमा जान्छ। (जब अघिल्लो शरीर तत्काल निश्चित छ तब पिठोको पिण्ड बनाएर कसलाई पुऱ्याउनु हुन्छ? लिन्छ कसले? यसैले श्रीकृष्णले अर्जुनलाई भन्नुभएको थियो कि यो अज्ञान तिमीलाई कहाँबाट उत्पन्न भयो कि पिण्डोदक क्रिया लुप्त हुनेछ।) त्यहाँ गएर के गर्दछ? मनसहित छः इन्द्रियहरू कुन–कुन हुन्?

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

त्यस शरीरमा स्थित भएर यो जीवात्मा कान, आँखा, त्वचा, जिब्रो, नासिका र मनको आश्रय लिएर अर्थात यी सबैको सहायताले विषयहरूको सेवन गर्दछ। तर यस्तो देखिंदैन, सबैले वहाँलाई देख्न पाउँदैनन्, यसमा श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ–

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

शरीर छोडेर गइरहेको, शरीरमा स्थित भएको, विषयहरूलाई भोग्दै गएका अथवा तीनवटै गुणहरूले युक्त भएको जीवात्मालाई विशेष मूढ अज्ञानीले

जान्दैन। मात्र ज्ञानरूपी आँखा भएका मानिसहरू मात्र उसलाई जान्दछन्, देख्दछन्, ठीक यस्तै नै छ। अब त्यो दृष्टि कसरी मिलोस्? अघि हेरौं–

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

योगीजन आफ्नो हृदयमा, चित्तलाई सबैतिरबाट समेटेर यस आत्मालाई यत्न गर्दै प्रत्यक्ष देख्छन्; तर अकृतार्थ आत्मावाला अर्थात् मलिन अन्तःकरण भएका अज्ञानीजन यत्न गर्दा–गर्दै पनि यस आत्मालाई जान्दैनन् (किनकि त्यसको अन्तःकरण बाहिरी प्रवृत्तिहरूमा अहिले छरिएको छ)। चित्तलाई सबैतिरबाट समेटेर अन्तरात्मामा यत्न गर्ने भाविकजन नै उसलाई पाउन योग्य हुन्छ। अतःकरणबाट सतत् स्मरण आवश्यक छ। अब ती महापुरुषहरूको स्वरूपमा जुन विभूतिहरू पाइन्छन्, (जुन पछाडि बताई पनि सक्नु भएको छ) त्यसमा प्रकाश पार्नुहुन्छ–

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जो तेज सूर्यमा स्थित भएर सम्पूर्ण जगत्लाई प्रकाशित गर्दछ, जो तेज चन्द्रमामा स्थित छ र जो तेज अग्निमा छ, यसलाई तिमी मलाई नै जान। अब त्यस महापुरुषको कार्य बताउनु हुन्छ–

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

म नै पृथ्वीमा प्रवेश गरेर आफ्नो शक्तिबाट सबै भूतहरूलाई धारण गर्दछु र चन्द्रमामा रसस्वरूप भएर सम्पूर्ण वनस्पतिहरूलाई पुष्ट गर्दछु।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

म नै प्राणिहरूको शरीरमा अग्निरूपले स्थित भएर प्राण र अपानबाट युक्त भएको चार प्रकारका अन्नहरूलाई पचाउँछु।

अध्याय चारमा स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण इन्द्रियाग्नि, संयमाग्नि, योगाग्नि, प्राण–अपानाग्नि, ब्रह्माग्नि इत्यादि तेह्र–चौध अग्निहरूको उल्लेख गर्नुभयो, जसमा

सबैको परिणाम ज्ञान हो। ज्ञान नै अग्नि हो। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– यस्तो अग्निस्वरूप भएर प्राण र अपानबाट युक्त चार विधिहरूबाट (जप सधैं श्वास-प्रश्वासबाट हुन्छ, उसका चार विधिहरू–बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती र परा हुन्– यी चारै विधिहरूबाट) तैयार हुने अन्नहरूलाई म नै पचाउँछु।

श्रीकृष्णको अनुसार, ब्रह्म नै एकमात्र अन्न हो, जसबाट आत्मा पूर्ण तृप्त हुन्छ फेरि कहिलै अतृप्त हुँदैन। शरीरको पोषक प्रचलित अन्नलाई योगेश्वरले आहारको संज्ञा दिनुभएको छ (युक्ताहार...)। वास्तविक अन्न परमात्मा हो। बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती र पराको चार विधिहरूबाट निस्केर नै त्यो अन्न परिपक्व हुन्छ। यसैलाई अनेकौं महापुरुषले नाम, रूप, लीला र धाम भनेका छन्। पहिले नामको जप हुन्छ। क्रमशः हृदय-देशमा इष्टको स्वरूप प्रकट हुनलाग्छ। तत्पश्चात् उसको लीलाको बोध हुन्छ कि ती ईश्वर कुन प्रकारले कण-कणमा व्याप्त छ, कुन प्रकार सर्वत्र कार्य गर्दछ? यसप्रकार हृदय-देशमा क्रिया-कलापहरूको दर्शन नै लीला हो (बाहिरको रामलीला, रासलीला होइन) र त्यस ईश्वरीय लीलाको प्रत्यक्ष अनुभूति गर्दै जब मूल लीलाधारीको स्पर्श मिल्दछ, तब धामको स्थिति आउँछ। त्यसलाई जानेर साधक त्यसैमा प्रतिष्ठित हुन्छ। त्यसमा प्रतिष्ठित हुनु र परावाणीको परिपक्वावस्थामा परब्रह्मको स्पर्श गरेर त्यसमा स्थित हुनु, दुबै साथ-साथै हुन्छ।

यसप्रकार प्राण र अपान अर्थात् श्वास र प्रश्वाससँग युक्त भएर चार विधिहरूबाट अर्थात् बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती र क्रमशः उत्थान हुँदा-हुँदै पराको पूर्तिकालमा त्यो 'अन्न'– ब्रह्म परिपक्व हुन्छ, मिल्छ पनि, पच्दछ पनि र पात्र पनि परिपक्व नै छ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

म नै सबै प्राणिहरूको हृदयमा अन्तर्यामी रूपमा स्थित छु। मबाट नै स्वरूपको स्मृति (सुरति, जो तत्त्व परमात्मा विस्मृत छ, त्यसको स्मरण हुनु) हुन्छ, (प्राप्तिकालको चित्रण हो) स्मृतिको साथ नै ज्ञान (साक्षात्कार) र

'अपोहनं' अर्थात् बाधाहरूको शमन म इष्टबाट नै हुन्छ। सबै वेदद्वारा म नै जान्ने योग्य छु। वेदान्तको कर्त्ता अर्थात् 'वेदस्य अन्तः सः वेदान्त' (अलग थियो यसैले त जानकारी भयो, जब जान्नासाथ त्यही स्वरूपमा प्रतिष्ठित हुन गयो, अनि को कसलाई जानोस्) वेदको अन्तिम स्थितिको कर्त्ता म हुँ र 'वेदवित्' पनि म नै हुँ अर्थात् वेदको ज्ञाता। अध्यायको आरम्भमा वहाँले भन्नुभएको थियो कि संसार रुख हो। माथि परमात्मा मूल र तल प्रकृतिसम्म शाखाहरू हुन्। जो यस मूलबाट प्रकृतिलाई विभाजन गरेर जान्दछ, मूलबाट जान्दछ, त्यो वेदवित् हो। यहाँ भन्नुहुन्छ कि म वेदवित् हुँ, त्यसलाई जो जान्दछु। श्रीकृष्णले आफूलाई त्यसको तुलनामा उभ्याउनु भयो कि त्यो वेदवित् हो, 'म वेदवित् हुँ।' श्रीकृष्ण पनि एक तत्वज्ञ महापुरुष, योगीहरूको पनि परमयोगी हुनुहुन्थ्यो। यहाँ यो प्रश्न पूरा भयो। अब बताउनु हुन्छ कि संसारमा पुरुषको स्वरूप दुई प्रकारका छन्–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

अर्जुन! यस संसारमा '**क्षर**'– क्षय हुने, परिवर्तनशील र '**अक्षर**'– अक्षय, अपरिवर्तनशील यस्तै दुई प्रकारका पुरुषहरू छन्। तिनीहरूमा सम्पूर्ण भूतप्राणीहरूको शरीर त नाशवान् छन्, क्षर पुरुष हुन्। आज छ भने भोलि रहने छैन र यो कूटस्थ पुरुषलाई अविनाशी भनिन्छ। साधनद्वारा मनसहित इन्द्रियहरूको निरोध अर्थात् जसको इन्द्रिय-समूह कूटस्थ छ, त्यही अक्षर कहलाउँछ। अब तपाईं स्त्री हुनुहुन्छ अथवा पुरुष, यदि शरीर र शरीरजन्मको कारण संस्कारहरूको क्रम लागिरहेको छ भने तपाईं क्षर पुरुष हुनुहुन्छ र जब मनसहित इन्द्रियहरू कूटस्थ हुन्छन् तब त्यही अक्षर पुरुष मनाउँछ तर यो पनि पुरुषको अवस्था-विशेष नै हो। यी दुबैभन्दा पर पनि एउटा अरू पुरुष छ–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

ती दुबैभन्दा अति उत्तम पुरुष त अरू नै छ, जो तीवटै लोकहरूमा प्रवेश गरेर सबैको धारण-पोषण गर्दछ र अविनाशी, परमात्मा, ईश्वर– यस्तो भनिएको छ। परमात्मा, अव्यक्त, अविनाशी, पुरुषोत्तम इत्यादि उसको परिचायक

शब्द हुन्, वस्तुत: यो अरू नै छ अर्थात् अनिर्वचनीय छ। यो क्षर र अक्षरभन्दा पर महापुरुषको अन्तिम अवस्था हो, जसलाई परमात्मा इत्यादि शब्दहरूबाट इंगित गरिएको छ तर त्यो अरू नै हो अर्थात् अनिर्वचनीय हो। त्यही स्थितिमा योगेश्वर श्रीकृष्ण आफ्नो पनि परिचय दिनुहुन्छ। यथा–

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

म उपर्युक्त नाशवान्, परिवर्तनशील क्षेत्रबाट सर्वथा अतीत छु र अक्षर, अविनाशी कूटस्थ पुरुषभन्दा पनि उत्तम छु। यसैले लोक र वेदमा पुरुषोत्तम नामले प्रसिद्ध छु।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

हे भारत! जस्तो कि माथि भनिएको छ– यसप्रकार जो ज्ञानी पुरुष म पुरुषोत्तमलाई साक्षात् जान्दछ, त्यो सर्वज्ञ पुरुष सबै प्रकारले म परमात्मालाई नै भज्दछ। त्यो मबाट विलग टाढा छैन।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

हे निष्पाप अर्जुन! यसप्रकार यो अति गोपनीय शास्त्र मद्वारा भनियो। यसलाई तत्त्वबाट जानेर मानिस पूर्णज्ञाता र कृतार्थ हुन्छ। अतः योगेश्वर श्रीकृष्णको यो वाणी स्वयंमा पूर्ण शास्त्र हो।

श्रीकृष्णको यो रहस्य अत्यन्त गुप्त थियो। वहाँले मात्र अनुरागीहरूलाई बताउनु भयो। यो अधिकारीको लागि थियो, सबैको लागि होइन; तर जब यही रहस्य (शास्त्र) लेख्नमा आउँछ, सबैको सामुने पुस्तक रहन्छ, यसैले लाग्छ कि श्रीकृष्णले सबैलाई भन्नुभयो; तर वस्तुतः यो अधिकारीको लागि नै हो। श्रीकृष्णको यो स्वरूप सबैको लागि थिएन। कोही वहाँलाई राजा, कोही दूत त कोही यादव नै मान्दथे, तर अधिकारी अर्जुनसित वहाँले कुनै दुराव राख्नु भएन। उनले पाए कि वहाँ परमसत्य पुरुषोत्तम हुनुहुन्छ। दुराव राखेको भए उनको कल्याण नै हुने थिएन।

यही विशेषता प्राप्तिवाला प्रत्येक महापुरुषमा पाइयो। 'रामकृष्ण परमहंसदेव' एक पटक धेरै प्रसन्न हुनुहुन्थ्यो। भक्तले सोध्यो- 'आज तपाईं धेरै प्रसन्न हुनुहुन्छ।' भन्नुभयो- 'आज म 'त्यो' परमहंस भएँ।' उनको समकालीन कोही राम्रो महापुरुष परमहंस थिए, उनलाई संकेत गर्नुभयो। केही समय पछि वहाँ मन-क्रम-वचनबाट विरक्तिको आशाले आफ्ना पछि लागेका साधकहरूसँग भने- हेर, अब तिमीहरू शङ्का नगर। म त्यही राम हुँ जो त्रेतामा भएका थिए, त्यही कृष्ण हुँ जो द्वापरमा भएका थिए। म उनीहरूको पवित्र आत्मा हुँ, त्यही स्वरूप हुँ। यदि पाउनु छ भने मलाई हेर।

ठीक यसैप्रकार 'पूज्य गुरु महाराज' पनि सबैको सामन्ने भन्ने गर्नुहुन्थ्यो- 'हो, म भगवान्को दूत छु। जो साँच्चैं कै सन्त छ, त्यो भगवान्को दूत हो, मद्वारा नै वहाँको संदेश प्राप्त हुन्छ।' ईसाले भने- 'म भगवान् को पुत्र हुँ, मेरो नजीक आऊ- यसैले कि ईश्वरको पुत्र कहलाउँछौ।' अतः सबै पुत्र हुन सक्छन्। हो, यो कुरा भिन्न छ कि नजीक आउनुको तात्पर्य त्यहाँसम्मको साधनालाई, साधना-क्रममा हिंडेर पुरा गर्नुछ। मुहम्मद साहेबले भने- 'म अल्लाहको रसूल हुँ, संदेशवाहक हुँ।' पूज्य महाराजज्यू सबैसँग यति मात्र भन्नुहुन्थ्यो- न कुनै विचारको खण्डन, न मण्डन। तर जो विरक्तिमा पछि लागेका थिए, उनीहरूलाई भन्नुहुन्थ्यो- "मात्र मेरो स्वरूपलाई हेर। यदि तिमीलाई त्यस परमतत्त्वको चाहना छ भने मलाई हेर, शङ्का नगर।" धेरैले शङ्का गरे, उनीहरूलाई अनुभवमा देखाएर, हप्काएर, ती बाहिरी विचारहरूबाट हटाएर, जसमा योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार (अध्याय २/४०-४३) अनन्त पूजा-पद्धतिहरू छन्, आफ्नो स्वरूपमा लगाउनुभयो। वहाँ अद्यावधि महापुरुषको रूपमा अवस्थित हुनुहुन्छ। यसप्रकार श्रीकृष्णको आफ्नो स्थिति गोपनीय त छँदै थियो, तर आफ्नो अनन्य भक्त पूर्ण अधिकारी अनुरागी अर्जुनको प्रति वहाँले त्यसलाई प्रकाशित गर्नुभयो। प्रत्येक भक्तको लागि सम्भव छ, महापुरुष लाखौं मानिसहरूलाई त्यस बाटोमा डोऱ्याउनु हुन्छ।

निष्कर्ष-

यस अध्यायको आरम्भमा योगेश्वर श्रीकृष्णले बताउनुभयो कि संसार एउटा रुख हो। पीपल-जस्तै रुख हो। पीपल एउटा उदाहरण मात्र हो। माथि

यसको मूल परमात्मा र तल प्रकृतिसम्म यसको शाखा–प्रशाखाहरू हुन्। जो यस रुखलाई मूलसहित विदित (ज्ञात) गरिलिन्छ, त्यो वेदको ज्ञाता हो। यस संसार–रुखका शाखाहरू माथि र तल सर्वत्र व्याप्त छन् र '**मूलानि**'– त्यसको जराको जाल पनि माथि र तल सर्वत्र व्याप्त छन्; किनकि त्यो मूल ईश्वर हो र त्यही बीजरूपबाट प्रत्येक जीव–हृदयमा निवास गर्दछ।

पौराणिक आख्यान छ– एक पटक कमलमाथि बसेका ब्रह्माज्यूले विचार गर्नुभयो कि मेरो उद्‌गम के हो? जहाँबाट वहाँको जन्म भएको थियो, त्यस कमल–नालमा प्रवेश गर्दै गए। अनवरत हिड्दै गरे, तर आफ्नो उद्गम देख्न सकेनन्। पछि आत्तिएर उनी त्यही कमलको आसनमा बसे। चित्तको निरोध गर्नमा लागे र ध्यानद्वारा उनले आफ्नो मूल उद्‌गम पाए, परमतत्त्वको साक्षात्कार गरे, स्तुति गरे। परमस्वरूपबाट नै आदेश मिल्यो कि– म त सर्वत्र छु, तर मेरो प्राप्तिको स्थान मात्र हृदय हो। हृदय–देशमा जो ध्यान गर्दछ, त्यो मलाई प्राप्त गर्दछ।

ब्रह्मा एउटा प्रतीक हो। योग–साधनाको एउटा परिपक्व अवस्थामा यस स्थितिको जागृति छ। ईश्वरतिर उन्मुख ब्रह्मविद्याबाट संयुक्त बुद्धि नै ब्रह्मा हो। कमल पानीमा भए पनि निर्मल र निर्लेप रहन्छ। बुद्धि जबसम्म यता–उता खोज्दछ, तबसम्म पाउँदैन र जब त्यही बुद्धि निर्मलताको आसनमा आसीन भएर मनसहित इन्द्रियहरूलाई समेटेर हृदय–देशमा निरोध गरिलिन्छ, त्यस निरोधको पनि विलीनीकरणको अवस्थामा आफ्नै हृदयमा परमात्मालाई पाउँछ।

यहाँ पनि योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार संसार रुख हो, जसको मूल सर्वत्र छ र शाखाहरू पनि सर्वत्र छन्। '**कर्मानुबन्धीनी मनुष्यलोके**'– कर्मको अनुसार मात्र मानिस–योनिमा बन्धन तैयार गर्दछ, बाँध्दछ। अरू योनिहरू त यीनै कर्महरूको अनुसार भोग भोग्दछन्। अतः दृढ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा यस संसाररूपी पीपल रुखलाई तिमी काट र त्यस परमपदलाई खोज, जसमा जानुभएका महर्षि पुनर्जन्मको प्राप्त हुँदैनन्।

कसरी जानौं कि संसार रुख काटियो? योगेश्वर भन्नुहुन्छ– जो मान र मोहबाट सर्वथा रहित छ, जसले संगदोष जितिसकेको छ, जसका कामनाहरू निवृत्त भइसकेका छन् र जो द्वन्द्वबाट मुक्त छ, त्यो पुरुष त्यस परमतत्वलाई

प्राप्त गर्दछ। त्यस परमपदलाई न सूर्य, न चन्द्रमा र न अग्नि नै प्रकाशित गर्न पाउँछ, त्यो स्वयं प्रकाशरूप हो। जसमा एक पटक प्रवेश गरिसकेपछि पुनः फर्केर आउँदैन, त्यो मेरो परमधाम हो, जसलाई पाउने अधिकार सबैलाई छ; किनकि यो जीवात्मा मेरो नै शुद्ध अंश हो।

शरीरको त्याग गर्ने बेलामा जीवात्मा मन र पाँचै इन्द्रिहरूको कार्य-कलापहरूलाई लिए नयाँ शरीर धारण गर्दछ। संस्कार सात्विक छन् भने सात्विक स्तरमा पुग्दछ, राजसी हो भने मध्यम स्थानमा र तामसी भएमा जघन्य योनिहरूसम्म पुग्दछ तथा इन्द्रियहरूको अधिष्ठाता मनको माध्यमबाट विषयहरूलाई देख्छ र भोग्दछ। यो देखिंदैन, यसलाई देख्ने दृष्टि ज्ञान हो। केही रट्नुको नाम ज्ञान होइन। योगीजन हृदयमा चित्तलाई समेटेर प्रयत्न गर्दै यसलाई देख्न पाउँछन्, अतः ज्ञान साधनगम्य छ; अध्ययनबाट उसको प्रति रुझान उत्पन्न हुन्छ। संशययुक्त, अकृतात्मा मानिसहरू प्रयत्न गरेर पनि उसलाई पाउन सक्दैन।

यहाँ प्राप्तिगर्ने स्थानको चित्रण छ। अतः त्यस अवस्थाको विभूतिहरूको प्रवाह स्वाभाविक छ। त्यसमा प्रकाश पार्दै योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि सूर्य र चन्द्रमामा म नै प्रकाश हुँ, अग्निमा म नै तेज हुँ। म नै प्रचण्ड अग्निहरूबाट चार विधिहरूले परिपक्व हुने अन्नलाई पचाउँछु। श्रीकृष्णको शब्दमा अन्न एकमात्र ब्रह्म हो, (**'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।'- तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुबल्ली, २/१**) जसलाई प्राप्त गरेर आत्मा तृप्त हुन्छ। बैखरीदेखि परा पर्यन्त पूर्ण परिपक्क भै पच्छ, त्यो मात्र पनि हराउँछ। यस अन्नलाई म नै पचाउँछु, अर्थात् सद्गुरु जबसम्म रथी हुँदैन, तबसम्म यो उपलब्धि हुँदैन।

यसमा जोड (बल) दिनुहुँदै श्रीकृष्ण पुनः भन्नुहुन्छ- सम्पूर्ण प्राणीहरूको अन्तर्देशमा स्थित भएर म नै स्मृति दिलाउँछु। जो स्वरूप विस्मृत थियो, त्यसको स्मृति दिलाउँछु। स्मृतिको साथ प्राप्तहुने ज्ञान पनि म नै हुँ। त्यसमा आउने बाधाहरूको निदान पनि मबाटै हुन्छ। म नै जान्ने योग्य छु र विदित भएपछि जानकारीको अन्तकर्ता पनि म नै हुँ। कसले कसलाई जानोस्? म वेदवित् हुँ। अध्यायको प्रारम्भमा भन्नुभएको थियो- जो संसार-वृक्षलाई मूलसहित जान्दछ, त्यो वेदविद् हो; तर त्यसलाई काट्नेवाला नै जान्दछ। यहाँ भन्नुहुन्छ म नै वेदवित हुँ। त्यस वेदवितहरू मध्ये आफ्नो पनि गणना गर्नुहुन्छ।

अतः श्रीकृष्ण पनि यहाँ वेदवित्- पुरुषोत्तम हुनुहुन्छ, जसलाई पाउने अधिकार मानवमात्रलाई छ।

अन्त्यमा वहाँले बताउनुभयो कि लोकमा दुई प्रकारका पुरुषहरू छन्। भूतादिहरूको सम्पूर्ण शरीर क्षर हो, मनको कूटस्थ अवस्थामा यही पुरुष अक्षर हो; तर हो द्वन्द्वात्मक, र यसभन्दा पनि पर जो परमात्मा परमेश्वर, अव्यक्त र अविनाशी भनिन्छ, त्यो वस्तुतः अरू नै हो। यो क्षर-अक्षरबाट परको अवस्था हो, यही परमस्थिति हो, यससंग संगत गर्दै भन्नुहुन्छ कि म पनि क्षर-अक्षरबाट पर त्यही हूँ, यसैले मानिसहरू मलाई पुरुषोत्तम भन्दछन्। यसप्रकार जो उत्तम पुरुषलाई जान्दछन्, ती ज्ञानी भक्तजन सधैं, सबैतिरबाट मलाई नै भज्दछन्। उनीहरूको जानकारीमा अन्तर छैन। अर्जुन! यो अत्यन्त गोपनीय रहस्य मैले तिम्रो लागि भनें। प्राप्तिवाला महापुरुष सबैको समक्ष भन्दैनन्, तर अधिकारीबाट दुराव (भेदभाव) पनि राख्नुहुन्न। दुराव (भेदभाव) गरेमा पाउँछन् कसरी?

यस अध्यायमा आत्मालाई तीन स्थितिहरूको चित्रण क्षर, अक्षर र अति उत्तम पुरुषको रूपमा स्पष्ट गरिएको छ, जस्तो कि यो भन्दा पहिले अन्य अध्यायमा छैन। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

यस प्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको सम्वादमा 'पुरुषोत्तम योग' नामक पन्ध्रौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'पुरुषोत्तम योग' नाम पन्ध्रौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ षोडशोऽध्यायः ।।

सोह्रौं अध्याय

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णले प्रश्न प्रस्तुत गर्ने आफ्नो विशिष्ट शैली छ। पहिले वहाँ प्रकरणको विशेषताहरूको उल्लेख गर्नुहुन्छ, जसबाट पुरुष त्यसतिर आकर्षित हुनसकोस्, त्यसपछि वहाँ त्यस प्रकरणलाई स्पष्ट पार्नुहुन्छ। उदाहरणको लागि कर्मलाई लिउँ। वहाँले दोस्रो अध्यायमा नै प्रेरणा दिनुभयो कि, अर्जुन! कर्म गर। तेस्रो अध्यायमा वहाँले इशारा गर्नुभयो कि निर्धारित कर्म गर। निर्धारित कर्म के हो? तब बताउनुभयो कि यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। फेरि वहाँले यज्ञको स्वरूप नबताएर पहिले बताउनुभयो कि यज्ञ आयो कहाँबाट र त्यसले दिन्छ के। चौथो अध्यायमा तेह्र-चौध विधिहरूबाट यज्ञको स्वरूप स्पष्ट गर्नुभयो, जसलाई गर्नु कर्म हो। यहाँ कर्म स्पष्ट हुन्छ, जसको शुद्ध अर्थ हो- योग-चिन्तन, आराधना, जो मन र इन्द्रियहरूको क्रियाबाट सम्पन्न हुन्छ।

यसप्रकार वहाँले अध्याय नौमा दैवी र आसुरी सम्पद्को नाम लिनुभयो। त्यसका विशेषताहरूमाथि जोड (बल) दिनुभयो कि- अर्जुन! आसुरी स्वभाववाला मलाई तुच्छ भनेर सम्बोधित गर्दछ। हुनत म पनि मनुष्य-शरीरको आधारवाला छु, किनकि मनुष्य-शरीरमा नै मलाई यस्तो स्थिति मिलेको छ, तर आसुरी स्वभाववाला, मूढ स्वभाववाला मलाई भज्दैनन्। जबकि दैवी सम्पद्ले युक्त भक्तजन अनन्य श्रद्धाबाट मेरो उपासना गर्दछन्। तर यी सम्पत्तिहरूको स्वरूप, त्यसको गठन अहिलेसम्म बताउनु भएन। अब अध्याय सोह्रमा योगेश्वर त्यसको स्वरूप स्पष्ट गर्दै हुनुहुन्छ, जसमा प्रस्तुत छ पहिले दैवी सम्पद्को लक्षण-

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

भयको सर्वथा अभाव, अन्तःकरणको शुद्धता, तत्वज्ञानको लागि ध्यानमा दृढ स्थिति अथवा निरन्तर लगन, सर्वस्वको समर्पण, इन्द्रियहरूको राम्रो प्रकारले दमन, यज्ञको आचरण (जस्तो स्वयं श्रीकृष्णले अध्याय चारमा बताउनु भएको छ), संयमाग्निमा हवन, इन्द्रियाग्निमा हवन, प्राण–अपानमा हवन र अन्तमा ज्ञानाग्निमा हवन अर्थात् आराधनाको प्रक्रिया, जो मात्र मन र इन्द्रियहरूको अन्तःकियाले सम्पन्न हुन्छ; तिल, जौ, वेदी इत्यादि सामग्रीहरूले हुने यज्ञको यस गीतोक्त यज्ञसित कुनै सम्बन्ध छैन। श्रीकृष्णले यस्तो कुनै कर्मकाण्डलाई यज्ञ मानेन। स्वाध्याय अर्थात् स्व–स्वरूपतिर अग्रसर गराउने अध्ययन, तप अर्थात् मनसहित इन्द्रियहरूलाई इष्टको अनुरूप ढाल्नु तथा **'आर्जवम्'**– शरीर र इन्द्रियहरूसहित अन्तःकरणको सरलता,

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

अहिंसा अर्थात् आत्माको उद्धार (आत्मालाई अधोगतिमा पुऱ्याउनु नै हिंसा हो। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– यदि म सावधान भएर कर्ममा अग्रसर भएन भने यी सम्पूर्ण प्रजाको हनन गर्ने र वर्णसंकरको कर्ता हुनेछु। आत्माको शुद्ध वर्ण हो परमात्मा, त्यसको प्रकृतिमा भट्कनु वर्णसंकर हो, आत्माको हिंसा हो र आत्माको उद्धार नै अहिंसा हो।), सत्य (सत्यको अर्थ यथार्थ र प्रिय भाषण होइन। तपाईं भन्नुहुन्छ– यो वस्त्र मेरो हो, के तपाईं साँचो बोल्नुहुन्छ? यसभन्दा ठूलो झूठो अरू के हुनेछ? जब शरीर तपाईंको होइन, नश्वर हो, तब यसलाई ढाक्ने वस्त्र कहिले तपाईंको हो? वस्तुतः सत्यको स्वरूप योगेश्वरले स्वयं बताउनु भयो– अर्जुन! सत्य वस्तुको तीनै कालहरूमा कहिलै पनि अभाव छैन। यो आत्मा नै सत्य हो, यही परम सत्य हो– यस सत्यमाथि दृष्टि राख्नु), क्रोध नहुनु, सर्वस्वको समर्पण, शुभारम्भ कर्मफलहरूको त्याग, चित्तको चंचलताको सर्वथा अभाव, लक्ष्यको विपरीत निन्दित कार्यहरू नगर्नु, सम्पूर्ण प्राणीहरूमा दयाभाव, इन्द्रियहरूको विषयसँग संयोग भएमा पनि त्यसमा आसक्तिको अभाव, कोमलता, आफ्नो लक्ष्यबाट विमुख हुनुमा लज्जा, व्यर्थका चेष्टाहरूको अभाव तथा–

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

तेज (जो एकमात्र ईश्वरमा छ, त्यसको तेजबाट जो कार्य गर्दछ। महात्मा बुद्धको दृष्टि पर्नासाथ अंगुलिमालको विचार-परिवर्तन भयो। यो त्यस तेजकै परिणाम थियो, जसबाट कल्याणको सृजन हुन्छ, जो बुद्धमा थियो), क्षमा, धैर्य, शुद्धि, कसैमा शत्रुभाव नहुनु, आफैंमा पूज्यताको भावको सर्वथा अभाव- यो सबै त हे अर्जुन! दैवी सम्पद् प्राप्त पुरुषका लक्षण हुन्। यसप्रकार जम्मा छब्बीस लक्षणहरू बताउनु भयो, जो सबै साधनामा परिपक्व अवस्था भएका पुरुषमा सम्भव छ र आंशिक रूपमा तपाईंमा पनि निश्चित छ तथा आसुरी सम्पद्बाट आप्लावित (परिपूर्ण) मानिसहरूमा पनि यी गुणहरू छन् तर प्रसुप्त रहन्छन्, त्यसैले त घोर पापीलाई पनि कल्याणको अधिकार छ। अब आसुरी सम्पद्को प्रमुख लक्षण बताउनु हुन्छ-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

हे पार्थ! पाखण्ड, घमण्ड, अभियान, क्रोध, कठोर वाणी र अज्ञान- यी सबै आसुरी सम्पद्प्राप्त पुरुषका लक्षण हुन्। दुबै सम्पदाहरूको कार्य के हो?-

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

यी दुबै प्रकारका सम्पद्हरूमा दैवी सम्पद् त '**विमोक्षाय**'- विशेष मोक्षको लागि हो र आसुरी सम्पद् बन्धनको लागि मानिएको छ। हे अर्जुन! तिमी शोक नगर; किनकि दैवी सम्पद्लाई प्राप्त गरेका छौ। विशेष मुक्तिलाई प्राप्त गर्नेछौ अर्थात् मलाई प्राप्त गर्नेछौ। ती सम्पदाहरू कहाँ रहन्छन्?-

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

हे अर्जुन! यस लोकमा भूतहरूको स्वभाव दुई प्रकारका हुन्छन्- देवहरूको जस्तो र असुरहरूको जस्तो। जब हृदयमा दैवी सम्पद्ले कार्यरूप लिन्छ, तब मानिस नै देवता हुन्छ र जब आसुरी सम्पद्को बाहुल्यता हुन्छ, तब मानिस नै असुर हुन्छ। सृष्टिमा यी दुईमात्र जातिहरू हुन्। त्यो चाहे अरबमा जन्मेको होस् वा आस्ट्रेलियामा, कतै पनि जन्मेको किन न होस्- उक्त दुईमध्ये एउटा अवश्य हुन्छ। अहिलेसम्म देवहरूको स्वभाव नै विस्तारपूर्वक भनियो,

अब असुरहरूको स्वभाव मबाट विस्तारपूर्वक सुन–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

हे अर्जुन! असुर व्यक्ति 'कार्यम् कर्म'बाट प्रवृत्त हुने र अकर्त्तव्य कार्यबाट निवृत्त हुनु पनि जान्दैनन्। यसैले उनीहरूमा न शुद्धि रहन्छ न आचरण, न सत्य नै रहन्छ। ती पुरुषहरूको विचार कस्तो हुन्छ?–

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

ती आसुरी प्रकृतिका मानिसहरू भन्दछन् कि जगत् आश्रयरहित छ, सर्वथा झूठो हो र बिना ईश्वरको स्वयं स्त्री–पुरुषको संयोगबाट उत्पन्न भएको हो। यसैले मात्र भोगहरूलाई भोग्नको लागि हो, यसको अतिरिक्त अरू के छ र?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

यस मिथ्या दृष्टिकोणको अवलम्बनबाट जसको स्वभाव नष्ट भएको छ, ती मन्द–बुद्धि, अपकारी, क्रूरकर्मी मानिस मात्र जगत्को नाश गर्नको लागि नै उत्पन्न हुन्छन्।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

ती मानिसहरू दम्भ, मान र मदबाट युक्त भएको, कुनै पनि प्रकारले पूर्ण न हुने कामनाहरूको आश्रय लिएर, अज्ञानबाट मिथ्या सिद्धान्तहरूलाई ग्रहण गरेर, अशुभ तथा भ्रष्ट व्रतहरूले युक्त भएर संसारमा कार्यरत हुन्छन्। तिनीहरू व्रत पनि गर्दछन्; तर भ्रष्ट हुन्छन्।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

उनीहरू अन्तिम श्वाससम्म अनन्त चिन्ताहरू बोकी रहन्छन् र विषयहरूलाई भोग्नमा तत्पर 'बस यतिमै आनन्द छ'– यस्तो मान्दछन्। उनको मान्यता रहन्छ कि जति हुन सकोस् भोग संग्रह गर, यो भन्दा अगाडि केही पनि छैन।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

आशारूपी सयकड़ौं फाँसीहरूबाट (एउटै फाँसीबाट मानिस मर्छन्, यहाँ सयौं फाँसीबाट) बाँधिएका, काम-क्रोध परायण विषय-भोगहरूको पूर्तिको लागि उनीहरू अन्यापूर्वक धनादि धेरै पदार्थहरू संग्रह गर्ने चेष्टा गर्दछन्। अतः धनको लागि उनीहरू रात-दिन असामाजिक पाइला सारी रहन्छन्। अगाडि भन्नुहुन्छ-

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

उनीहरू विचार गर्दछन्- मैले आज यसलाई पाएँ, यस मनोरथलाई प्राप्त गर्नेछु, मसँग यति धन छ र फेरि कुलै बेला यति हुने छ।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

ती शत्रु मद्वारा मारियो र अरू शत्रुहरूलाई पनि म मार्नेछु। म नै ईश्वर र ऐश्वर्यलाई भोग्नेवाला छु। म नै सिद्धिहरूले युक्त, बलवान् र सुखी छु।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

म धेरै धनी र धेरै कुटुम्ब भएको। मेरा जस्तो समान अर्को को छ? म यज्ञ गर्नेछु, म दान दिनेछु, मलाई हर्ष हुनेछ- यसप्रकारले अज्ञानबाट तिनीहरू विशेष मोहित रहन्छन्। के यज्ञ, दान पनि अज्ञान हो? यसमाथि श्लोक १७मा स्पष्ट गर्नु भएको छ। यति भएर पनि उनीहरू चूप लाग्दैनन् बरू अनेकौं भ्रान्तिहरूको शिकार हुन्छन्। यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ-

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनेकौं प्रकारले भ्रमितचित्त भएको, मोहजालमा अल्झेको, विषय-भोगहरूमा अत्यन्त आसक्त ती आसुरी स्वभाव भएका मानिसहरू अपवित्र नरकमा झर्छन्। अगाडि श्रीकृष्ण स्वयं बताउनु हुन्छ कि नरक के हो?

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

आफैलाई श्रेष्ठ मान्ने, धन र मानको मदले युक्त भएर ती घमण्डी मानिसहरू शास्त्रविधिले रहित नाममात्रको यज्ञद्वारा पाखण्डले यजन गर्दछन्। के त्यही यज्ञ गर्दछन्, जस्तो श्रीकृष्णले बताउनुभयो? होइन, त्यस विधिलाई छोडेर गर्दछन् किनकि विधि योगेश्वरले स्वयं बताउनु भयो। (अध्याय ४/२४-३३ तथा अध्याय ६/१०-१७)

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

ती अर्काको निन्दा गर्ने, अहंकार, बल, घमण्ड, कामना र क्रोध परायण भएको पुरुष आफ्नो र अर्काको शरीरमा स्थित म अन्तर्यामी परमात्मासित द्वेष गर्ने हुन्। शास्त्रविधिबाट परमात्माको स्मरण एक यज्ञ हो। जो यस विधिलाई त्यागेर नाममात्रको यज्ञ गर्दछन्, यज्ञको नाममा केही न केही गर्दै रहन्छ, ती आफ्नो र अरूको शरीरमा स्थित म परमात्मासित द्वेष गर्ने हो। मानिस द्वेष गर्दै नै रहन्छन् र जोगिन्छन् पनि, के त्यो पनि बच्न सक्छ? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ- होइन,

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

मसित द्वेष गर्ने ती पापाचारी क्रूरकर्मी नराधमहरूलाई म संसारमा निरन्तर आसुरी योनिहरूमा नै गिराउँछु। जो शास्त्रविधिलाई त्यागेर यजन गर्दछन् ती पापयोनि हुन्, त्यही मानिसहरूमा अधम हुन्, तिनैलाई क्रूरकर्मी भनियो। अरू कोही अधम छैन। पछाडि भनिएको थियो- यस्ता अधमहरूलाई म नरकमा गिराउँछु, त्यसैलाई यहाँ भन्नुहुन्छ कि उनलाई अजस्र आसुरी योनिहरूमा गिराउँछु। यही नरक हो। साधारण जेलको यातना भयंकर हुन्छ र यहाँ अनवरत आसुरी योनिहरूमा झर्ने क्रम कति दुःखद छ। अतः दैवी सम्पद्‌को लागि प्रयत्नशील रहनु पर्दछ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

कौन्तेय! मूर्ख मानिसहरू जन्म-जन्मान्तरसम्म आसुरी योनिलाई प्राप्त गरेर, मलाई प्राप्त नगरेर, पहिलेभन्दा पनि अतिनीच गतिलाई प्राप्त गर्दछन्। जसको नाम नरक हो। अब हेरौं, नरकको उद्‌गम के हो?-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

काम, क्रोध र लोभ यी तीन प्रकारका नरकका मूलद्वार हुन्। यी आत्माको नाश गर्ने, त्यसलाई अधोगतिमा लैजाने हुन्। अतः यी तीनवटालाई त्यागि दिनु पर्दछ। यी तीनबाट माथि नै आसुरी सम्पद् टिकेका छन्। यिनलाई त्यागेर के लाभ?-

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

कौन्तेय! नरकका यी तीनवटै द्वारहरूबाट मुक्त भएको पुरुष आफ्नो परम कल्याणको लागि आचरण गर्न पाउँछ, जसबाट त्यो परमगति अर्थात् मलाई प्राप्त गर्दछ। यी तीनवटै विकारहरूलाई त्यागेपछि नै मानिस नियत कर्म गर्दछ, जसको परिणाम परमश्रेय हो।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

जो पुरुष उपर्युक्त शास्त्रविधिलाई त्यागेर [अर्थात् त्यो शास्त्र कुनै अरू शास्त्र होइन, '**इति गुह्यतमं शास्त्रम्**' (१५/२०) गीता स्वयं पूर्ण शास्त्र हो जसलाई स्वयं श्रीकृष्णले बताउनुभएको छ, त्यस विधिलाई त्यागेर] आफ्नो इच्छाले क्रिया-कलाप गर्दछ, त्यो न सिद्धि प्राप्त गर्दछ, न परमगति र न सुख नै प्राप्त गर्दछ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

यसैले अर्जुन! तिम्रो लागि यस कर्त्तव्य र अकर्त्तव्यको व्यवस्थामा कि म के गरूँ, के नगरूँ?- यसके व्यवस्थामा शास्त्र नै एक प्रमाण हो। यस्तो जानेर शास्त्र-विधिबाट नियत गरिएका कर्म नै तिमीले गर्नुयोग्य छ।

अध्याय तीनमा पनि योगेश्वर श्रीकृष्णले '**नियतं कुरु कर्म त्वं**'- नियत कर्ममा जोड (बल) दिनुभयो र बताउनु भयो कि यज्ञको प्रक्रिया नै त्यो नियत कर्म हो र त्यो यज्ञ आराधनाको विधि-विशेषको चित्रण हो, जो मनको सर्वथा निरोध गरेर शाश्वत ब्रह्ममा प्रवेश दिलाउँछ। यहाँ वहाँले बताउनुभयो कि काम, क्रोध र लोभ नरकका तीन प्रमुख द्वार हुन्। यी तीनवटालाई त्यागेपछि त्यस कर्मको (नियत कर्मको) आरम्भ हुन्छ। जसलाई मैले पटक-पटक भने, जो परमश्रेय-परमकल्याण दिलाउने आचरण हो। बाहिर सांसारिक कार्यहरूमा जो जति व्यस्त छ, त्यति नै बढी काम, क्रोध र लोभ उसको पास सुसज्जित हुन्छ। कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो कि काम, क्रोध र लोभलाई त्यागेपछि मात्र त्यसमा प्रवेश मिल्दछ, कर्म आचरणमा परिणत हुन पाउँछ। जसले यस विधिलाई त्यागेर आफ्नो इच्छाले आचरण गर्दछ, त्यसको लागि सुख-सिद्धि अथवा परमगति केही पनि छैन्। अतः कर्त्तव्य र अकर्त्तव्यको व्यवस्थामा शास्त्र नै एकमात्र प्रमाण छ। अतः शास्त्रविधिको अनुसार नै तिमीले कर्म गर्नु उचित छ र त्यो शास्त्र हो- '**गीता**'।

निष्कर्ष-

यस अध्यायको आरम्भमा योगेश्वर श्रीकृष्णले दैवी सम्पद्को विस्तारपूर्वक वर्णन गर्नुभयो। जसमा ध्यानमा स्थिति, सर्वस्वको समर्पण, अन्तःकरणको शुद्धि, इन्द्रियहरूको दमन, मनको शमन, स्वरूपको स्मरण गराउने अध्ययन, यज्ञको लागि प्रयत्न, मनसहित इन्द्रियहरूलाई तपाउनु, अक्रोध, चित्त शान्त प्रवाहित रहनु इत्यादि छब्सीस लक्षणहरूलाई बताउनुभयो, यी सबै इष्टको नजिक पुगेको योग-साधनामा प्रवृत्त कुनै साधकमा संभव छन्, आंशिक रूपमा सबैमा निहित छन्।

त्यसपछि वहाँले आसुरी सम्पद्मा प्रधान चार-छः विकारहरूको नाम लिनुभयो; जस्तै- अभिमान, दम्भ, कठोरता, अज्ञान इत्यादि र अन्त्यमा निर्णय दिनुभयो कि अर्जुन! दैवी सम्पद् त '**विमोक्षाय**'- पूर्ण निवृत्तिको लागि हो, परमपदको प्राप्तको लागि हो र आसुरी सम्पद् बन्धन र अधोगतिको लागि हो। अर्जुन! तिमी शोक नगर; किनकि तिमीले दैवी सम्पद्लाई प्राप्त गरेका छौ।

यी सम्पदाहरू कहाँ हुन्छन्? वहाँले बताउनु भयो कि यस लोकमा मानिसको स्वभाव दुई प्रकारका हुन्छन्- देवताहरू जस्तो र अर्को असुरहरूको जस्तो। जब दैवी सम्पद्को बाहुल्य हुन्छ, तब मानिस देवताहरू जस्तै हुन्छ र जब आसुरी सम्पद्को बाहुल्य हुन्छ, तब मानिस असुरहरू जस्ते हुन्छ। सृष्टिमा मानिसहरूका मात्र दुई जाति छन्; त्यो कहीं पनि किन न जन्मेको होस्, केही पनि कहलाओस्।

त्यसपछि वहाँले आसुरी स्वभाव हुने मानिसहरूको लक्षणहरूलाई विस्तापूर्वक उल्लेख गर्नुभयो। आसुरी सम्पद् प्राप्त पुरुष कर्त्तव्य कर्ममा प्रवृत्त हुन् जान्दैन र अकर्त्तव्य कार्यबाट पनि निवृत्त हुन् जान्दैन। त्यो कर्ममा जब प्रवृत्त नै भएको छैन भने त्यसमा न सत्य हुन्छ न शुद्धि, न आचरण नै हुन्छ। त्यसको विचारमा जगत् आश्रयरहित, बिना ईश्वरकै स्वतः स्त्री-पुरुषको संयोगबाट उत्पन्न भएको हो। अतः भोग भोग्नको लागि मात्र हो। यसभन्दा अगाडि के छ? यो विचार श्रीकृष्णकालमा पनि थियो, सधैं रहेको छ। मात्र चार्वाकले भनेको छ, यस्तो कुरा होइन। जबसम्म जनमानसमा दैवी-आसुरी सम्पद्को उतार-चढाव छ, तबसम्म रहनेछ। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ, ती मन्दबुद्धिवाला पुरुष सबैको अहित (कल्याणको नाश) गर्नको लागि जगत्मा जन्मलिन्छन्। ती भन्दछन्- मद्वारा यी शत्रुहरू मारिए, उसलाई मारूँला। यसप्रकार अर्जुन! काम, क्रोधको आश्रित ती पुरुष शत्रुहरूलाई मार्दैनन्, बरू आफ्नो र अर्काको शरीरमा स्थित म परमात्मासित द्वेष गर्ने हुन्। अनि के अर्जुनले प्रण गरेर जयद्रथादिलाई मारे? यदि मार्छ भने आसुरी सम्पद्वाला हो, ती परमात्मासित द्वेष गर्ने हो; जबकि अर्जुनलाई श्रीकृष्णले स्पष्ट भन्नुभयो कि तिमीले दैवी सम्पद्लाई प्राप्त गरेका छौं, शोक नगर। यहाँ पनि स्पष्ट भयो कि ईश्वरको निवास सबैको हृदय-देशमा छ। स्मरण रहोस् कि कसैले तिमीलाई सतत् देखिरहेको छ। अतः सधैं शास्त्र-निर्दिष्ट क्रियाको नै आचरण गर्नु पर्दछ अन्यथा दण्ड प्रस्तुत छ।

योगेश्वर श्रीकृष्णले पुनः भन्नुभयो कि आसुरी स्वभाव भएका क्रुर मानिसहरूलाई म बारंबार नरकमा गिराउँछु। नरकको स्वरूप के हो? भन्नुभयो, बाररंबार नीच-अधम योनिहरूमा झर्नु एक अर्कोका पर्याय हुन्। यही नरकको

स्वरूप हो। काम, क्रोध र लोभ नरकका तीन मूलद्वारा हुन्। यी तीनमा नै आसुरी सम्पद् टिकेका छन्। यी तीनलाई त्यागेपछि मात्र त्यस कर्मको आरम्भ हुन्छ, जसलाई मैले बारम्बार भनें। सिद्ध छ कि कर्म कुनै यस्तो वस्तु हो, जसको आरम्भ काम, क्रोध, लोभलाई त्यागेपछि नै प्राप्त हुन्छ। सांसारिक कार्यहरूमा मर्यादित ढंगले सामाजिक व्यवस्थाहरूको निर्वाह गर्नमा जो जति व्यस्त छन्, काम, क्रोध, लोभ उनीहरूमा त्यति नै बढी मात्रामा भरीभराउ पाइन्छ। वस्तुतः यी तीनलाई त्यागेपछि परममा प्रवेश दिलाउने निर्धारित कर्महरूमा प्रवेश मिल्दछ। यसैले म के गरूँ, के न गरूँ- यस कर्तव्य-अकर्तव्यको व्यवस्थामा शास्त्र नै प्रमाण हो। कुन शास्त्र? यही गीता शास्त्र। '**किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।**' यसैले यस शास्त्रद्वारा निर्धारित गरेको कर्म-विशेष (यज्ञार्थ कर्म)लाई नै तिमी गर।

यस अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले दैवी र आसुरी सम्पदाहरूको विस्तारपूर्वक वर्णन गर्नुभयो। उनीहरूको स्थान मानव-हृदय बताउनुभयो। तिनको फल बताउनुभयो। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

यस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण-अर्जुनको सम्वादमा 'दैवासुर सम्पद् विभागयोग' नामक सोह्रौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'दैवासुर सम्पद् विभागयोग' नामक सोह्रौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ सप्तदशोऽध्यायः ।।

सत्रहौं अध्याय

अध्याय सोह्रको अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्णले स्पष्ट भन्नुभयो कि काम, क्रोध र लोभलाई त्यागेपछि नै कर्म आरम्भ हुन्छ, जसलाई मैले बारम्बार भनेको छु। नियतकर्मलाई नगरी न सुख, न सिद्ध, न परमगति नै मिल्छ। यसैले अब तिम्रो लागि कर्त्तव्य र अकर्त्तव्यको अवस्थामा के गरूँ, के न गरूँ?– यसको सम्बन्धमा शास्त्र नै प्रमाण हो। कुनै अरू शास्त्र होइन, बरू "**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदम्।**" (१५/२०) गीता स्वयं शास्त्र हो। अन्य शास्त्र पनि छन् तर यहाँ यही गीता शास्त्रमा दृष्टि राखौं, अर्को शास्त्र न खोजौं। अर्को ठाउँमा खोज्ने हो भने यो क्रमबद्धता मिल्ने छैन। अतः अलमलिने छौं।

यसमाथि अर्जुनले प्रश्न गरे कि, भगवन्! जो मानिस शास्त्रविधिलाई त्यागेर पूर्ण श्रद्धाबाट युक्त भएर, '**यजन्ते**'– यज्ञ गर्दछन्, तिनको गति कस्तो छ? सात्विक छ, राजसी अथवा तामसी छ? किनकि अगाडि अध्यायमा अर्जुनले सुनेका थिए कि सात्विकी, राजसी अथवा तामसी भएपनि जबसम्म गुण विद्यमान छन्, कुनै न कुनै योनिकै कारण हुन्छन्। यसैले प्रस्तुत अध्यायको आरम्भमा नै उनले प्रश्न राखे–

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

हे कृष्ण! जो मानिस शास्त्रविधिलाई छोडेर श्रद्धासहित यज्ञ गर्दछन्, तिनको गति कुन हो? सात्विकी हो, राजसी हो अथवा तामसी? यजनमा देवता, यक्ष, भूत इत्यादि सबै आउँछन्।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

अध्याय दुइमा योगेश्वरले बताउनु भएको थियो कि अर्जुन! यस योगमा निर्धारित क्रिया एउटै छ। अविवेकीहरूको बुद्धि अनन्त शाखाहरू भएका हुन्छन् यसैले उनीहरू अनन्त क्रियाहरूको विस्तार गरिलिन्छन्। देखावटी शोभायुक्त वाणीमा त्यसलाई व्यक्त पनि गर्दछन्। तिनको वाणीको छाप जसको चित्तमा पर्दछ, अर्जुन! उनको बुद्धि पनि नष्ट हुन्छ र केही पनि प्राप्त हुँदैन। ठीक यसैको पुनरावृत्ति यहाँ पनि छ कि जो '**शास्त्रविधिमुत्सृज्य**'- शास्त्रविधिलाई त्यागेर भज्दछन्, तिनको श्रद्धा पनि तीन प्रकारका हुन्छन्।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

हे भारत! सबै मानिसहरूको श्रद्धा उनीहरूको चित्तको वृत्तिहरूको अनुरूप हुन्छन्। यो पुरुष श्रद्धामय छ, यसैले जो पुरुष जस्तो श्रद्धावाला छ, त्यो स्वयं पनि त्यही हो। प्रायः मानिसहरू सोध्छन्- म को हुँ? कोही भन्दछन्- म त आत्मा हुँ। तर होइन, यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- जस्तो श्रद्धा, जस्तो वृत्ति, त्यस्तै पुरुष।

गीता योग-दर्शन हो। महर्षि पतंजलि पनि योगी हुनुहुन्थ्यो। वहाँको 'योगदर्शन' हो। योग के हो? वहाँले बताउनुभयो, "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**" (१/२) चित्तका वृत्तिहरू सर्वथा रोकिनु योग हो। कसैले परिश्रम गरेर रोक्यो भने लाभ के छ? "**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**" (१/३) त्यस समय यो द्रष्टा जीवात्मा आफ्नो शाश्वत स्वरूपमा स्थित हुन्छ। के स्थित हुनुभन्दा पूर्व यो मलिन थियो? पतंजलि भन्नुहुन्छ- '**वृत्तिसारूप्यमितरत्र।**' (१/४) अरू समयमा जस्तो वृत्तिको रूप छ, त्यस्तो नै त्यो द्रष्टा हो। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- यो पुरुष श्रद्धामय हो, श्रद्धाले परिपूर्ण। कहीं न कहीं श्रद्धा

अवश्य हुन्छ र जस्तो श्रद्धावाला छ, त्यो स्वयं पनि त्यही हो। जस्तो वृत्ति, त्यस्तै पुरुष। अब तीनवटै श्रद्धाहरूको विभाजन गर्नुहुन्छ–

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

तीमध्ये सात्विक पुरुष देवताहरूलाई पुज्दछन्, राजसी पुरुष यक्ष र राक्षसहरूलाई पुज्दछन् तथा अरू तामसी पुरुष प्रेत र भूतहरूलाई पुज्दछन्। तिनीहरू पुजनमा अथक परिश्रम पनि गर्दछन्।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

ती मानिस शास्त्र–विधिले रहित घोर कल्पित (कल्पित क्रियाहरू रचेर) तप गर्दछन्। दम्भ र अहंकारले युक्त, कामना र आसक्तिको बलले बाँधिएका–

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

उनीहरू शरीररूपमा स्थित भूत समुदायलाई र अन्तःकरणमा स्थित म अन्तर्यामीलाई पनि कृश गर्ने हुन् अर्थात् दुर्बल गर्ने हुन्। आत्मा प्रकृतिको चिराहरूमा परेर विकारहरूबाट दुर्बल र यज्ञ–साधनाबाट सबल हुन्छ। ती अज्ञानीहरू (अचेतहरूलाई) निश्चत नै तिमी असुर जान अर्थात् ती सबका सब असुर हुन्। प्रश्न पूरा भयो।

शास्त्र–विधिलाई त्यागेर भजने सात्विक पुरुष देवताहरूलाई, राजसी पुरुष यक्ष–राक्षसहरूलाई र तामसी पुरुष भूत–प्रेतहरूलाई पुज्दछन्। पूजा मात्र नै गर्दैनन् घोर तप पनि गर्दछन्; तर अर्जुन! शरीररूपले भूतहरूलाई र अन्तर्यामी रूपमा स्थित म परमात्मालाई दुर्बल पार्ने हुन्। मबाट दूरी उत्पन्न गर्दछन् न कि भज्दछन्। उनलाई तिमी असुर जान अर्थात् देवताहरूलाई पूजने पनि असुर नै हुन्। यसभन्दा बढी कोही के भन्ने छ? अतः जसको यी सबै अंशमात्र हुन्, त्यो मूल एक परमात्माको भजन गरौं। यसमाथि योगेश्वर श्रीकृष्णले पटक–पटक जोड (बल) दिनुभयो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

अर्जुन! जसरी श्रद्धा तीन प्रकारका हुन्छन्, त्यसरी नै सबैको आ-आफ्नो प्रकृति अनुसार भोजन पनि तीन प्रकारका प्रिय हुन्छन् र त्यसरी नै यज्ञ, तप र दान पनि तीन प्रकारका हुन्छन्। उनीहरूको भेद तिमी मबाट सुन। पहिलो प्रस्तुत छ आहार-

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख र प्रीतिलाई बढाउने, रसयुक्त चिल्लो र स्थिर रहनेवाला तथा स्वभावबाट नै हृदयलाई प्रिय लाग्ने भोज्य-पदार्थ सात्विक पुरुषलाई प्रिय हुन्छन्।

योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार स्वभावबाट हृदयलाई प्रिय लाग्ने, बल, आरोग्य, बुद्धि र आयु बढाउने भोज्य पदार्थ नै सात्विक हो। जो भोज्य पदार्थ सात्विक हो, त्यही सात्विक मानिसलाई प्रिय हुन्छ। यसबाट स्पष्ट हुन्छ कि कुनै पनि भोज्य पदार्थ सात्विक, राजसी अथवा तामसी हुँदैन। त्यसको प्रयोग सात्विक, राजसी अथवा तामसी हुने गर्दछ। न दूध सात्विक हो न प्याज राजसी र न लसुन तामसी हो।

जहाँसम्म बल, बुद्धि, आरोग्य र हृदयलाई प्रिय लाग्ने प्रश्न छ भने विश्वभरिमा मानिसहरूलाई आ-आफ्नो प्रकृति, वातावरण र परिस्थितिको अनुकूल विभिन्न खाद्य सामग्रीहरू प्रिय हुन्छन्। जस्तै- बंगाली तथा मद्रासीहरूलाई चामल प्रिय हुन्छ र पंजाबीहरूलाई रोटी। एकातिर अरबवासीहरूलाई दुम्बा, चीनियाँहरूलाई भ्यागुतो त अर्कोतिर ध्रुव जस्तै चिसो प्रदेशहरूमा मासु बिना गुजारा नै हुँदैन। रूस र मंगोलियाका आदिवासीहरू खाद्यमा घोडा प्रयोग गर्दछन्। यूरोपवासी गाई तथा सुँगुर दुबै खान्छन्, तर पनि विद्या, बुद्धिविकास तथा उन्नतिमा अमेरिका र यूरोपवासी प्रथम श्रेणीमा गनिएका छन्।

गीताको अनुसार रसयुक्त चिल्लो र स्थिर रहने भोज्य पदार्थ सात्विक हो। लामो आयु, अनुकूल, बल-बुद्धि बढाउने आरोग्यवर्द्धक पदार्थ सात्विक हो। स्वभावले हृदयलाई प्रिय लाग्ने भोज्य पदार्थ सात्विक हो। अतः कहीं कुनै खाद्य पदार्थलाई घटाउनु-बढाउनु छैन। परिस्थिति, परिवेश तथा देशकालको अनुसार जो भोज्य वस्तु स्वभावले प्रिय लाग्छ र जीवनी शक्ति प्रदान गर्दछ, त्यही सात्विक हो। वस्तु सात्विक, राजसी अथवा तामसी हुँदैन, त्यसको प्रयोग सात्विक, राजसी अथवा तामसी हुन्छ।

यसै अनुकूलनको लागि जो व्यक्ति घर-परिवार त्यागेर ईश्वराराधनमा मात्र लिप्त छन्, संन्यास आश्रममा छन्, उनको लागि मासु-मदिरा त्याज्य छन्; किनकि अनुभवबाट देखिएको छ कि यी पदार्थ आध्यात्मिक मार्गमा विपरीत मनोभाव उत्पन्न गर्दछन्। अतः यसले साधन-पथबाट भ्रष्ट हुने बढी सम्भावना छ। जो एकान्त-देशको सेवन गर्ने विरक्त छन्, उनीहरूको लागि योगेश्वर श्रीकृष्णले अध्याय छःमा आहारको लागि एउटा नियम दिनुभयो कि **'युक्ताहार विहारस्य'**- यसैलाई ध्यानमा राखेर आचरण गर्नु पर्दछ। जो भजनमा सहायक छ त्यही आहार ग्रहण गर्नु पर्दछ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

पिरो, अमिलो, बढ़ी नुनीलो, अत्यन्त तातो, तीखो, रूखो, दाहकारक र दुःख-चिन्ता तथा रोगहरू उत्पन्न गर्ने आहार राजस पुरुषलाई प्रिय हुन्छन्।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

जो भोजन धेरै समय पहिले तयार भएको छ, **'गतरसं'**- रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट (जूठो) र अपवित्र पनि छ, त्यो तामस पुरुषलाई प्रिय हुन्छ। प्रश्न पूरा भयो। अब प्रस्तुत छ 'यज्ञ'-

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

जो यज्ञ '**विधिदृष्ट**'- शास्त्रविधिले निर्धारित गरिएको छ। (जस्तो पहिल्लो अध्याय तीनमा यज्ञको नाम लिइयो, अध्याय चारमा यज्ञको स्वरूप बताउनुभयो कि धेरै योगी प्राणलाई अपानमा, अपानलाई प्राणमा हवन गर्दछन्। प्राण-अपानको गति निरोध गरेर, प्राणहरूको गति स्थिर गरिलिन्छन्, संयमाग्निमा हवन गर्दछन्। यसप्रकार यज्ञको चौध सोपान बताउनुभयो, जो सबै ब्रह्मसम्मको दूरी तय गराउने एउटै क्रियाको उच्च-नीच अवस्थाहरू हुन्। संक्षेपमा यज्ञ चिन्तनको प्रक्रियाको चित्रण हो, जसको फल सनातन ब्रह्ममा प्रवेश हो। जसको विधान यस शास्त्रमा गरिएको छ) त्यसै शास्त्र-विधानमा पुन जोड (बल) दिनुहुन्छ कि, अर्जुन! शास्त्रविधिले तोकेको, जसलाई गर्नु नै कर्त्तव्य हो तथा जो मनको निरोध गर्नेवाला हो, जो फलको इच्छा नराख्ने पुरुषहरूद्वारा गरिन्छ, त्यो यज्ञ सात्विक हो।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

हे अर्जुन! जो यज्ञ मात्र दम्भाचरणको लागि नै हो वा फललाई उद्देश्य बनाएर गरिन्छ, त्यसलाई राजस यज्ञ जान। यो कर्त्ता यज्ञको विधि जान्दछ; तर दम्भाचरण वा फललाई उद्देश्य बनाएर गर्दछ कि फलानो वस्तु मिल्नेछ तथा मानिसहरू देखुन् कि यज्ञ गर्दछ, प्रशंसा गर्नेछ- यस्तो यज्ञकर्त्ता वस्तुतः राजसी हो। अब तामस यज्ञको स्वरूप बताउनु हुन्छ-

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

जो यज्ञ शास्त्रविधिले रहित छ, जो अन्न (परमात्मा)को सृष्टि गर्नमा असमर्थ छ, मनलाई अन्तरालमा निरुद्ध गर्ने क्षमताबाट रहित छ, दक्षिणा अर्थात् सर्वस्वको समर्पणबाट रहित छ तथा जो श्रद्धारहित छ, यस्तो यज्ञ तामस यज्ञ भनिन्छ। यस्तो पुरुष वास्तवमा यज्ञलाई जान्दैन। अब प्रस्तुत छ तप-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

परमदेव परमात्मा, द्वैतमा जय प्राप्त गर्ने द्विज, सद्‌गुरु र ज्ञानीहरूको पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा शरीर–सम्बन्धी तप भनिन्छ। शरीर सधैं वासनाहरूतिर अग्रसर हुन्छ, यसलाई अन्तःकरणको उपर्युक्त वृत्तिहरूको अनुरूप राख्न सक्नु शारीरिक तप हो।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्‌मयं तप उच्यते।।१५।।

उद्वेग उत्पन्न नगर्ने, प्रिय, हितकारक र सत्य–भाषण तथा परमात्मामा प्रवेश दिलाउने शास्त्रहरूको चिन्तनको अभ्यास, नाम–जप यसलाई वाणी–सम्बन्धी तप भनिन्छ। वाणी विषयोन्मुख विचारहरूलाई पनि व्यक्त गर्दै रहन्छ। यसलाई त्यसबाट परम सत्य परमात्माको दिशामा लगाउनु वाणी–सम्बन्धी तप हो। अब मन–सम्बन्धी तप हेरौं–

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

मनको प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन अर्थात् इष्टको अतिरिक्त अरू विषयहरूको स्मरण पनि नहोस्, मनको निरोध, अन्तःकरणको सर्वथा पवित्रता यो मन–सम्बन्धी तप भनिन्छ। उपर्युक्त तीनवटै (शरीर, वाणी र मन) तप मिलाएर एउटा सात्विक तप हो।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्‌क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

फलको इच्छा नगर्दै अर्थात् निष्काम कर्मले युक्त पुरुषहरूद्वारा परम श्रद्धाले गरेको उपर्युक्त तीनवटै तपहरूलाई मिलाएर एउटा सात्विक तप भन्दछन्। अब प्रस्तुत छ राजसी तप–

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

जो तप सत्कार, मान र पूजाको लागि अथवा मात्र पाखण्डले गरिन्छ, त्यो अनिश्चित एवं चंचल फलवाला तप राजस कहलाउँछ।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

जो तप मूर्खतापूर्वक हठले मन, वाणी र शरीरको पीडासहित अथवा अर्काको अनिष्ट गर्नको लागि प्रतिरोधको भावनाले गरिन्छ त्यो तप तामस कहिन्छ।

यसप्रकार सात्विक तपमा शरीर, मन र वाणीलाई मात्र इष्टको अनुरूप ढाल्नु छ। राजस तपमा तपको क्रिया त्यही हो; तर दम्भ, मान-सम्मानको इच्छाले तप्दछन्। प्रायः महात्माहरू घर-बार छोडेर पनि यस विकारको शिकार हुन्छन् र तेस्रो तामसी तप अविधिपूर्वक हुन्छ, अर्कालाई पीडा पुऱ्याउने दृष्टिकोणबाट हुन्छ। अब प्रस्तुत छ दान-

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

'दान दिनु नै कर्त्तव्य हो'- यस भावले जो दान देश (स्थान), काल (समयानुकूल) र सत्य-पात्र प्राप्त भएमा बदलामा उपकारको भावनाले रहित भएर दिइन्छ, त्यो दान सात्विक भनिन्छ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

जो दान क्लेशपूर्वक (जो दान दिन मिल्दैन तर दिनु परिरहेको छ) तथा प्रत्युपकारको भावनाले, 'यो गरेमा त्यो मिल्नेछ' अथवा फललाई उद्देश्य बनाएर दिइन्छ त्यो दान राजस भनिन्छ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जो दान सत्कार नगरीकरन अथवा तिरस्कारपूर्वक झर्को मानेर अयोग्य देश-कालमा अनधिकारीहरूलाई दिइन्छ, त्यो दान तामस भनिन्छ। 'पूज्य महाराजज्यू' भन्नुहुन्थ्यो- 'हो, कुपात्रालाई दान दिएमा दाता नष्ट हुन जान्छ।' ठीक यसै प्रकार श्रीकृष्णको कथन छ- दान दिनु नै कर्त्तव्य हो। देश, काल र पात्र प्राप्त भएमा त्यसको सट्टामा उपकार नचाहने भावनाले उदारतासाथ दिने दान सात्विक हो। कठिनतासाथ निस्किने, सट्टामा फलको भावनाले दिने दान राजस हो र सत्कार बिना झर्को मानेर प्रतिकूल देश-कालमा कुपात्रलाई दिने दान तामस हो, तर हो दान नै; तर जो देह-गेह र सबैको ममत्वलाई त्यागेर एकमात्र इष्टमा नै निर्भर छ भने उसको लागि दानको विधान योभन्दा अझै उन्नत छ र त्यो हो सर्वस्वको समर्पण, सम्पूर्ण वासनाहरूबाट हटेर मनको समर्पण, जस्तो कि श्रीकृष्णले भन्नुभएको छ, '**मय्येव मन आधत्स्व।**' अतः दान नितान्त आवश्यक छ। अब प्रस्तुत छ ॐ, तत् र सत्को स्वरूप-

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

अर्जुन! ॐ, तत् र सत्- यस्तो तीन प्रकारको नाम '**ब्रह्मणः निर्देशः स्मृतः**'- ब्रह्मको निर्देश गर्दछ, स्मृति दिलाउँछ, संकेत गर्दछ र ब्रह्मको परिचायक हो। त्यसैद्वारा '**पुरा**'- पूर्वमा (आरम्भमा) ब्राह्मण, वेद र यज्ञादि रचिएका छन्। अर्थात् ब्रह्मण, यज्ञ र वेद ओम्बाट उत्पन्न हुन्छन्। यी योगजन्य हुन्। ओम्को सतत् चिन्तनले नै यिनीहरूको उत्पत्ति भएको छ, अर्को कुनै तरीका नै छैन।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

यसैले ब्रह्मको कथन गर्ने पुरुषहरूको शास्त्र-विधिद्वारा नियत गरेको यज्ञ, दान र तप क्रियाहरू निरन्तर 'ओम्' यस नामलाई उच्चारण गरेर नै

गरिन्छ, जसबाट त्यो ब्रह्मको स्मरण होस्। अब तत् शब्दको प्रयोग बताउनु हुन्छ–

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

'तत्' अर्थात् त्यो (परमात्मा) नै सर्वत्र छन्, यस भावले फललाई न चाहेर शास्त्रद्वारा निर्दिष्ट नाना प्रकारको यज्ञ, तप र दान क्रियाहरू परम कल्याणको इच्छा गर्ने पुरुषहरूद्वारा गरिन्छ। तत् शब्द परमात्माको प्रति समर्पणसूचक हो। अर्थात् जप त 'ओम्'को गर्नुस्, यज्ञ, दान र तपका क्रियाहरू त्यसमा निर्भर भएर गर्नुस्। अब सत्को प्रयोग-स्थल बताउनु हुन्छ–

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

सत्; योगेश्वरले बताउनु भयो कि सत् के हो? गीताको आरम्भमा नै अर्जुनले प्रश्न उठाएका थिए कि कुलधर्म नै शाश्वत हो, सत्य हो, तब श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! तिमीलाई यस्तो अज्ञान कहाँबाट उत्पन्न भयो? सत् वस्तुको तीनवटै कालमा कहिले पनि अभाव हुँदैन, त्यसलाई समाप्त पनि गर्न सकिंदैन र असत् वस्तुको तीनवटै कालहरूमा अस्तित्व छैन, त्यसलाई रोक्न सकिदैन। वस्तुतः त्यो कुन वस्तु हो, जसको तीनवटै कालमा अभाव छैन र त्यो असत् वस्तु के हो, जसको अस्तित्व छैन? तब भन्नुभयो– यो आत्मा नै सत्य हो र भूतादिहरूका सम्पूर्ण शरीर नाशवान् हुन्। आत्मा सनातन हो, अव्यक्त हो, शाश्वत र अमृतस्वरूप हो। यही परमसत्य हो।

यहाँ भन्नुहुन्छ 'सत्' यस्तो परमात्माको यो नाम '**सद्भावे**'– सत्यको प्रति र साधुभावमा प्रयोग गरिन्छ र हे पार्थ! जब कर्म पूर्णरूपले, राम्रो ढंगले हुन लागेपछि सत् शब्दको प्रयोग गरिन्छ। सत्को अर्थ यो होइन कि यी वस्तुहरू हाम्रो हुन्। जब शरीर नै हाम्रो छैन भने यसको उपभोगमा आउने वस्तुहरू हाम्रो कसरी हुन्छ। यो सत् होइन। सत् को प्रयोग मात्र एउटै दिशामा गरिन्छ– सद्भावमा। आत्मा नै परम सत्य हो। यस सत्यको प्रति भाव होस्,

त्यसलाई साध्नको लागि साधुभाव होस् र त्यसको प्राप्ति गराउने कर्म प्रशस्त किसिमले हुन लागोस्, त्यहीं सत् शब्दको प्रयोग गरिन्छ। यसमा योगेश्वर श्रीकृष्ण अगाडि भन्नुहुन्छ–

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

यज्ञ, तप र दान गरेर जो स्थिति मिल्दछ, त्यो पनि सत् नै हो– यस्तो भनिन्छ। **'तदर्थीयं'**– त्यस परमात्माको प्राप्तिको लागि गरेको कर्म नै सत् हो, यस्तो भनिन्छ। अर्थात् त्यस परमात्माको प्राप्तिवाला कर्म नै सत् हो, यज्ञ–दान–तप यस कर्मका पूरक हुन्। अन्त्यमा निर्णय दिंदै भन्नुहुन्छ कि यी सबैका लागि श्रद्धा आवश्यक छ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

हे पार्थ! श्रद्धा बिना गरेको हवन, दिएको दान, तपाएको तप र जे जति पनि गरिएको कर्म हो, त्यो सबै असत् हुन्– यस्तो भनिएको छ। त्यो न त यस लोकमा र न परलोकमै लाभदायक छ। अतः समर्पणको साथ श्रद्धा नितान्त आवश्यक छ।

निष्कर्ष–

अध्यायको आरम्भमा नै अर्जुनले प्रश्न गरेका थिए कि, भगवन्! जो शास्त्र–विधिलाई त्यागेर र श्रद्धाले युक्त भएर यजन (यज्ञ) गर्दछन् (मानिसहरू भूत–भवानी केहि न केहि पूजिरहेका नै हुन्छन्) भने त्यसको श्रद्धा कस्तो हो? सात्विकी हो, राजसी हो अथवा तामसी? यसमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो, अर्जुन! यो पुरुष श्रद्धाको स्वरूप (पुतला) हो, कहीं न कहीं उसको श्रद्धा हुन्छ नै। यस्तो श्रद्धा त्यस्तै पुरुष, जस्तो वृत्ति त्यस्तै पुरुष। उनको त्यो श्रद्धा सात्विकी, राजसी र तामसी तीन प्रकारका हुन्छन्। सात्विकी श्रद्धालु देवताहरूलाई, राजसी श्रद्धालु यक्ष (जो यश, शौर्य प्रदान गर्छ), राक्षसहरू (जो सुरक्षा दिन सक्छ) को पछि लाग्छन् र तामसी श्रद्धालु भूत–प्रेतहरूलाई

पूज्दछन्। शास्त्रविधिरहित यी पूजाहरूद्वारा यी तीनवटै प्रकारका श्रद्धालु शरीरमा स्थित भूतसमुदाय अर्थात् आफ्नो संकल्प र हृदय-देशमा स्थित म अन्तर्यामीलाई पनि कमजोर गर्दछन्, न कि पूजा गर्दछन्। ती सबैलाई तिमी निश्चत नै असुर जान अर्थात् भूत-प्रेत-यक्ष-राक्षस तथा देवताहरूको पूजा गर्ने असुर हुन्।

देवता-प्रसंगलाई श्रीकृष्णले यहाँ तेस्रो पटक उठाउनु भयो। पहिले अध्याय सातमा वहाँले भन्नुभएको थियो- अर्जुन! कामनाहरूले जसको ज्ञान खोसेको छ, त्यही मूढबुद्धि अरू देवताहरूको पूजा गर्दछन्। अर्को पटक अध्याय नौमा त्यही प्रश्नलाई दोहोऱ्याउँदै भन्नुभयो- जो अन्यान्य देवताहरूलाई पूजा गर्दछ, ऊ पनि मलाई नै पुज्दछ; तर उसको त्यो पुज्नु अविधिपूर्वक अर्थात् शास्त्रमा निर्धारित विधिबाट भिन्न छ, अतः त्यो नष्ट हुन्छ। यहाँ अध्याय सत्रमा तिनलाई आसुरी स्वभाववाला भनेर सम्बोधित गर्नुभयो। श्रीकृष्णको शब्दमा एउटा परमात्माको नै पूजा विधान छ।

त्यसपछि योगेश्वर श्रीकृष्णले चारवटा प्रश्न लिनु भयो- आहार, यज्ञ, तप र दान। आहार तीन प्रकारका हुन्छन्। सात्विक पुरुषलाई आरोग्य प्रदान गर्ने, स्वाभावविक प्रिय लाग्ने, स्निग्ध आहार प्रिय हुन्छ। राजसी पुरुषलाई कडा, तीक्ष्ण, उष्ण, चटपटे र मसालादार, रोगवर्द्धक आहार प्रिय हुन्छ। तामसी पुरुषलाई जूठो, बासी र अपवित्र आहार प्रिय हुन्छ।

शास्त्रविधिले निर्दिष्ट यज्ञ (जो आराधनाका अन्तःक्रियाहरू हुन्), जो मनलाई निरोध गर्दछ, फलको आकाँक्षाले रहित छ त्यो यज्ञ सात्विक हो। दम्भ-प्रदर्शन तथा फलको लागि गरिने त्यही यज्ञ राजसी हो र शास्त्रविधि रहित, मन्त्र, दान तथा बिना श्रद्धा गरेको यज्ञ तामसी हो।

परमदेव परमात्मामा प्रवेश दिलाउने सबै योग्यताहरू जसमा छन्, ती प्राज्ञ सद्गुरुको अर्चना, सेवा र अन्तःकरणबाट अहिंसा, ब्रह्मचर्य र पवित्रताको अनुरूप शरीरलाई तपाउनु शरीरको तप हो। सत्य, प्रिय र हितकर बोल्नु वाणीका तप हुन् र मनलाई कर्ममा प्रवृत्त राख्नु, इष्टबाहेक अरू विषयहरूको चिन्तनमा मनलाई मौन राख्नु मन-सम्बन्धी तपहरू हुन्। मन, वाणी र

शरीर तीनवटै मिलाएर यसतिर लगाउनु सात्विक तप हो। राजसी तपमा कामनाहरूको साथ त्यसैलाई गरिन्छ, जबकि तामसी तप शास्त्रविधिले रहित स्वेच्छाचार हो।

कर्त्तव्य मानेर, देश-काल र पात्रको विचार गरेर, श्रद्धापूर्वक दिइएको दान सात्विक हो। कुनै लाभको लोभमा कष्टपूर्वक दिइने दान राजसी हो र झस्केर, कुपात्रलाई दिइने दान तामसी हो।

ॐ, तत् र सत्को स्वरूप बताउँदै योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो- यी नामहरूले परमात्माको स्मृति दिलाउँछन्। शास्त्रविधिबाट निर्धारित तप, दान र यज्ञ आरम्भ गर्नमा ओम्को प्रयोग हुन्छ र पूर्तिमा नै ओम् पिण्ड छोड्छ। तत्को अर्थ हो- त्यो परमात्मा। त्यसको प्रति समर्पित भएर नै त्यो कर्म हुन्छ र जब कर्म धारावाही हुन लाग्दछ, तब सत्को प्रयोग हुन्छ। भजन नै सत् हो। सत्को प्रति भाव र साधु भावमा नै सत्को प्रयोग गरिन्छ। परमात्माको प्राप्ति गराउने कर्म, यज्ञ, दान र तपको परिणाममा पनि सत्को प्रयोग हुन्छ र परमात्मामा प्रवेश गराउने कर्म निश्चयपूर्वक सत् हो, तर यी सबैको साथ श्रद्धा आवश्यक छ। श्रद्धाले रहित भएर गरेको कर्म, दिइएको दान, तपाएको तप न यस जन्ममा लाभकारी हुन्छ न अगाडिको जन्ममा नै हुन्छ। श्रद्धा अपरिहार्य छ।

सम्पूर्ण अध्यायमा श्रद्धामा प्रकाश पारियो र अन्त्यमा ॐ, तत् र सत् माथि विशद् व्याख्या प्रस्तुत गरियो, जो गीताको श्लोकहरूमा पहिलो पटक आएको छ। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

यसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको संवादमा 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रय विभाग योग' नामक सत्रौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः।।

।। अथ अष्टादशोऽध्यायः ।।

अठारौं अध्याय

यो गीताको अन्तिम अध्याय हो, जसको पूर्वार्द्धमा योगेश्वर श्रीकृष्णद्वारा प्रस्तुत अनेकौं प्रश्नहरूको समाधान छ तथा उत्तरार्द्धमा गीताको उपसंहार छ कि गीताबाट लाभ के छ? सत्रौं अध्यायमा आहार, तप, यज्ञ, दान तथा श्रद्धाको विभागसहित स्वरूप वर्णन गरियो, त्यसै सन्दर्भमा त्यागको प्रकार बाँकी छन्। मानिस जे जति गर्दछ, त्यसमा कारण के छ? कसले गराउँदछ? भगवान्ले गराउँछन् कि प्रकृतिले? यो पहिले देखिनै आरम्भ थियो, जसमा यस अध्यायमा पुनः प्रकाश पारियो। यसैप्रकार वर्ण-व्यवस्थाको चर्चा भइसकेको थियो। सृष्टिमा व्याप्त त्यसको स्वरूपको विश्लेषण यस अध्यायमा प्रस्तुत छ। अन्तमा गीताबाट प्राप्त हुने विभूतिहरूमा प्रकाश पारियो।

गत अध्यायमा अनेकौं प्रकरणहरूको विभाजन सुनेर अर्जुनले स्वयं एउटा प्रश्न राखे- त्याग र संन्यासलाई पनि विभागसहित बताउनुस्-

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

अर्जुनले भने- हे महाबाहो! हे हृदयका सर्वस्व! हे केशिनिषूदन! म संन्यास र त्यागको यथार्थ स्वरूप पृथक्-पृथक् जान्न चाहन्छु। पूर्ण त्याग संन्यास हो, जहाँ संकल्प र संस्कारहरूको पनि समापन छ र यसभन्दा पहिले साधनाको पूर्तिको लागि उत्तरोत्तर आसक्तिको त्याग नै त्याग हो। यहाँ दुई प्रश्न छन् कि संन्यासको तत्त्वलाई जान्न चाहन्छु र अर्को छ त्यागको तत्त्व जान्न चाहन्छु। यसमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो-

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अर्जुन! केही पण्डितजन काम्य कर्महरूको त्यागलाई संन्यास भन्दछन् र केही विचार-कुशल पुरुष सम्पूर्ण कर्म-फलहरूको त्यागलाई त्याग भन्दछन्।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

एक थरीका विद्वान्हरू यस्तो भन्दछन् कि सबै कर्म दोषयुक्त छन् अतः त्याग्न गर्न योग्य छ र दोस्रो थरीका भन्दछन् कि- यज्ञ, दान र तप त्याग्न योग्य छैनन्। यसप्रकार अनेक मत प्रस्तुत गरेर योगेश्वर श्रीकृष्ण आफ्नो पनि निश्चित मत दिनुहुन्छ-

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।४।।

हे अर्जुन! त्यस त्यागको विषयमा तिमी मेरो निश्चयलाई सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ! त्यो त्याग तीन प्रकारको भनिएको छ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञ, दान र तप- यी तीन प्रकारको कर्म त्याग्ने योग्य होइनन्। यिनलाई त गर्नु पर्छ; किनकि यज्ञ, दान र तप तीनवटै पुरुषहरूलाई पवित्र गर्ने हुन्।

श्रीकृष्णले चार प्रचलित मतहरूको उल्लेख गर्नुभयो। पहिलो- काम्य कर्महरूको त्याग, दोस्रो- सम्पूर्ण कर्मफलहरूको त्याग, तेस्रो- दोषयुक्त भएको कारण सबै कर्महरूको त्याग, चौथो मत थियो- यज्ञ, दान र तप त्याग्ने योग्य होइनन्। ती मध्ये एउटा मतमा आफ्नो सहमति प्रगट गर्दै भन्नुभयो- अर्जुन! मेरो पनि यो निश्चित गरेको मत छ कि यज्ञ, दान र तपरूप क्रिया त्याग्ने योग्य होइनन्। यसबाट सिद्ध छ कि कृष्ण-कालमा पनि कैयौं मत प्रचलित थिए, जसमा एउटा यथार्थ थियो। त्यस कालमा पनि कैयौं मत थिए, आज पनि

छन्। महापुरुष जब संसारमा आउँछ, तब कैयौं मत-मतान्तरमध्ये कल्याणकारी मतलाई झिकेर सामुन्ने प्रस्तुत गरिदिन्छ। प्रत्येक महापुरुषले यही गरेका छन्, श्रीकृष्णले पनि यही गर्नुभयो। वहाँले कुनै नयाँ मार्ग बताउनु भएन, बरू प्रचलित कैयौं मतहरूमध्ये सत्यलाई समर्थन दिएर त्यसलाई स्पष्ट गरिदिनुभयो।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण जोड (बल) दिएर भन्नुभयो- पार्थ! यज्ञ, दान र तपरूप कर्म आसक्ति र फललाई त्यागेर अवश्य गर्नुपर्छ। यो मेरो निश्चिय गरेको सर्वोत्तम मत हो। अब, अर्जुनको प्रश्न अनुसार वहाँ त्यागको विश्लेषण गर्नुहुन्छ-

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

हे अर्जुन! नियत कर्म (श्रीकृष्णको शब्दमा नियत कर्म एउटै छ, यज्ञको प्रक्रिया। यस नियत शब्दलाई आठ-दस चोटि श्रीकृष्णले भन्नुभयो। यसमा पटक-पटक जोड (बल) दिनुभयो कि साधक भूलले अर्को गर्न नलागोस्), यस शास्त्रविधिबाट निर्धारित कर्मको त्याग गर्नु उचित छैन। मोहले त्यसको त्यागगर्नु तामस भनिएको छ। सांसारिक विषय-वस्तुहरूको आसक्तिमा अल्झेर कार्यम् कर्म (कार्यं कर्म, नियत कर्म एक अर्काको पूरक हुन्)को त्याग तामसी हो। यस्तो पुरुष '**अधः गच्छति**'- कीरा-फट्यांग्रासम्मका अधम योनिहरूमा जान्छ; किनकि त्यसले भजनको प्रवृत्तिहरूलाई त्यागिदियो। अब राजस त्यागको विषयमा बताउनु हुन्छ-

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

कर्मलाई दुःखमय संझेर शारीरिक क्लेशको भयबाट त्यसको त्याग गर्ने व्यक्ति राजस त्यागलाई गरेर पनि त्यागको फललाई प्राप्त गर्दैन। जसबाट भजन पार लाग्दैन र '**कायक्लेशभयात्**'- यस भयबाट कर्मलाई त्यागि दिन्छ कि शरीरलाई कष्ट हुनेछ, त्यस मानिसको त्याग राजसी हो, त्यसलाई त्यागको फल परमशान्ति प्राप्त हुँदैन। तथा-

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

हे अर्जुन! 'गर्नु कर्तव्य हो।'- यस्तो सम्झेर जो 'नियतम्'- शास्त्रविधिबाट निर्धारित गरेको कर्म, सँग-दोष र फललाई त्यागेर गरिन्छ, त्यही सात्विक त्याग हो। अतः नियत कर्म र यस बाहेक अरू जे जति पनि छन्, त्यसलाई त्यागिदिनु पर्छ। यो नियत कर्म पनि के सधैं गर्दै रहनेछु वा कहिले यसको पनि त्याग हुनेछ? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ (अब अन्तिम त्यागको रूप हेरौं)-

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

हे अर्जुन! जो पुरुष 'अकुशलं कर्म' अर्थात् अकल्याणकारी कर्मबाट (शास्त्रले तोकेको नियत कर्म नै कल्याणकारी हो, यसको विरोधमा जे जति छ, यसै लोकको बन्धन हो, यसैले अकल्याणारी हो, यस्तै कर्महरूबाट) द्वेष गर्दैन र कल्याणकारी कर्ममा आसक्त हुँदैन, जो गर्नु थियो त्यो पनि बाँकी छैन- यस्तो सत्वले संयुक्त पुरुष संशयरहित, ज्ञानवान् र त्यागी हो, त्यसले सबै कुरा त्यागेको छ, तर प्राप्तिको साथ यो पूर्ण त्याग नै संन्यास हो। हुन सक्छ अझै कुनै अर्को सजिलो बाटो होला? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ- होइन। हेरौं-

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

शरीरधारी पुरुषहरूद्वारा (शरीरमात्र होइन, जसलाई तपाईं देख्नु हुन्छ। श्रीकृष्णको अनुसार प्रकृतिबाट उत्पन्न सत्, रज र तम तीनवटै गुणहरूले यस जीवात्मालाई शरीरहरूमा बाँध्दछन्। जबसम्म गुण जीवित छन्, तबसम्म त्यो जीवधारी हो। कुनै न कुनै रूपमा शरीर परिवर्तित हुँदै रहनेछ। शरीरको कारण जबसम्म जीवित छ) सम्पूर्णताले सबै कर्महरूको त्याग संभव छैन, यसैले जो पुरुष कर्म-फलको त्यागी हो, त्यही त्यागी हो- यस्तो भनिन्छ। अतः जबसम्म शरीरका कारणहरू जीवित छन्, तबसम्म नियतकर्म गर्नु र त्यसको फललाई त्याग्नु। यसको साटो कुनै अर्कै फलको कामना नगर। हुन त सकामी पुरुषहरूको कर्मको फल पनि हुन्छ-

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।।१२।।

सकामी पुरुषहरूको कर्मको राम्रो, नराम्रो र मिलेको- यस्तो तीन प्रकारका फल मरणोपरान्त पनि हुन्छन्, जन्म-जन्मान्तरसम्म पाउँछन्; तर **'संन्यासिनाम्'**- सर्वस्वको न्यास (अन्त्य) गर्ने पूर्ण त्यागी पुरुषहरूको कर्मको फल कुनै पनि कालमा हुँदैन। यही शुद्ध संन्यास हो। संन्यास चरमोत्कृष्ट अवस्था हो। राम्रो-नराम्रो कर्महरूको फल तथा पूर्ण न्यासकालमा त्यसको अन्त्यको प्रश्न पूर्ण भयो। अब पुरुषद्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्म हुनुमा के कारणहरू छन्? यसमाथि हेरौं-

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्महरूको सिद्धिको लागि पाँच कारणहरू सांख्य-सिद्धान्तमा भनिएका छन्, तिनीहरूलाई तिमी राम्ररी मबाट जान।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

यस विषयमा कर्त्ता (यो मन), पृथक्-पृथक् करण (जसद्वारा गरिन्छ, यदि शुभ पार लाग्दछ भने विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, अनवरत चिन्तनको प्रवृत्तिहरू कारण छन्। यदि अशुभ पार लाग्दछ भने काम, क्रोध, राग, द्वेष, लिप्सा इत्यादि करण छन्। यिनीहरूद्वारा प्रेरित हुनेछन्। विभिन्न प्रकारको भिन्न-भिन्न चेष्टाहरू (अनन्त इच्छाहरू), आधार (अर्थात् साधन, जुन इच्छासँग साधन मिल्दछ त्यही इच्छा पूर्ण हुन लाग्छ। र पाँचौं हेतु हो दैव अथवा संस्कार। यसैको पुष्टि गर्नुहुन्छ-

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

मानिस मन, वाणी अथवा शरीरले शास्त्रको अनुसार अथवा विपरीत जे जति कुनै कर्म आरम्भ गर्दछ, त्यसका यी पाँचवटै कारणहरू हुन्। तर यसो भएमा पनि-

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

जो पुरुष अशुद्ध बुद्धिको कारण त्यस विषयमा कैवल्यस्वरूप आत्मालाई कर्त्ता देख्दछ, त्यो दुर्बुद्धि यथार्थ देख्दैन अर्थात् भगवान्ले गर्दैन।

यस प्रश्नमा योगेश्वर श्रीकृष्णले दोस्रो पटक जोड (बल) दिनुभयो। अध्याय पाँचमा वहाँले भन्नुभएको थियो कि त्यो प्रभुले न गर्दछ, न गराउँछ, न क्रियाको संयोगलाई जोड्दछ, तब मानिस किन भन्दछन्? मोहबाट मानिसहरूको बुद्धि आवृत्त छ, यसैले केही पनि भन्न सक्छन्। यहाँ पनि भन्नुहुन्छ– कर्म हुनुमा पाँच कारणहरू छन्। त्यस्तो भए पनि जो कैवल्यस्वरूप परमात्मालाई कर्त्ता देख्छन्, त्यो मूढबुद्धि (दुर्बुद्धि) यथार्थ देख्दैनन् अर्थात् भगवान्ले गर्दैन, जबकि अर्जुनको लागि वहाँ ताल ठोकेर खडा हुनुहुन्छ। '**निमित्तमात्रं भव**' कि कर्त्ता–धर्त्ता त म हुँ, तिमी निमित्त बनेर खडा होउ। अन्ततः त्यो महापुरुष के भन्न चाहन्छ?

वस्तुतः भगवान् र प्रकृतिको बीचमा एउटा आकर्षण रेखा छ। जबसम्म साधक प्रकृतिको सीमामा छ, भगवानेले गर्दैन। धेरै नजिक भएर पनि द्रष्टारूपमा नै रहन्छ। अनन्यभावले इष्टलाई समाते पछि वहाँ हृदय–देशमा संचालक बन्न जान्छ। साधक प्रकृतिको आकर्षण सीमाबाट निस्केर वहाँको क्षेत्रमा आउँछ। यस्तो अनुरागीको लागि वहाँ ताल ठोकेर सधैं उभि रहन्छ। मात्र त्यसैको लागि भगवान्ले गर्दछ। अतः चिन्तन गरौं। प्रश्न पूर्ण भयो। अगाडि हेरौं–

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

जुन पुरुषको अन्तःकरणमा 'म कर्त्ता हुँ'– यस्तो भाव छैन तथा जसको बुद्धि लिपायमान हुँदैन, त्यो पुरुष यी सबै लोकहरूलाई मारेर पनि वास्तवमा न त मार्दछ र न बाँधिन्छ। लोकसम्बन्धी संस्कारहरूको विलय नै लोक–संहार हो। अब त्यस नियत–कर्मको प्रेरणा कसरी हुन्छ? यसमा हेरौं–

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः।।१८।।

अर्जुन! परिज्ञाता अर्थात् पूर्णज्ञाता महापुरुषहरूद्वारा, '**ज्ञानं**'- त्यसलाई जान्ने विधिले र '**ज्ञेयम्**'- जान्ने योग्य वस्तु (श्रीकृष्णले पछाडी भन्नुभयो- म नै ज्ञेय, जानने योग्य वस्तु छु)बाट कर्म गर्ने प्रेरणा मिल्दछ। पहिले त पूर्णज्ञाता कुनै महापुरुष होस्, वहाँद्वारा त्यस ज्ञानलाई जान्ने विधि प्राप्त होस्, '**लक्ष्य**'- ज्ञेयमा दृष्टि होस्, अनि कर्मको प्रेरणा मिल्छ र कर्त्ता (मनको लगन), करण (विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि) तथा कर्मको जानकारीबाट कर्मको संग्रह हुन्छ, कर्म एकत्र हुन लाग्छ। पछाडी भनिएको थियो कि प्राप्तिको पश्चात् त्यस पुरुषको कर्म गर्नाले कुनै प्रयोजन हुँदैन र न छोडेपछि हानि नै हुन्छ; फेरि पनि लोक-संग्रह अर्थात् पनि हुनेहरूको हृदयमा कल्याणकारी साधनहरूको संग्रहका लागि त्यो कर्ममा अग्रसर हुन्छ। कर्त्ता, करण र कर्मद्वारा यिनीहरूको संग्रह हुन्छ। ज्ञान, कर्म र कर्त्ताको पनि तीन-तीन भेदहरूमा छन्-

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता पनि गुणहरूको भेदले सांख्यशास्त्रमा तीन-तीन प्रकारका भनिएका छन्, तिनीहरूलाई पनि तिमी यथावत् सुन। प्रस्तुत छ पहिले ज्ञानको भेद-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

अर्जुन! जुन ज्ञानले मानिस पृथक्-पृथक् सबै भूतहरूमा एक अविनाशी परमात्म भावलाई विभागरहित एकरस देख्छ, त्यो ज्ञानलाई तिमी सात्विक जान। ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति हो, जसको साथै गुणहरूको अन्त्य हुनु छ। यो ज्ञानको परिपक्व अवस्था हो। अब राजस ज्ञानलाई हेरौं-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

जुन ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण भूतहरूमा विभिन्न प्रकारका अनेकौं भावहरूलाई बेग्ला-बेग्लै जान्दछन् कि यो राम्रो हो, यो नराम्रो हो- त्यो ज्ञानलाई तिमी

राजस ज्ञान। यस्तो स्थिति छ भने राजसी स्तरमा तिम्रो ज्ञान हो। अब हेरौं तामस ज्ञान–

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जुन ज्ञान एकमात्र शरीरमा नै सम्पूर्णताको सदृश आसक्त छ, युक्तिरहित अर्थात् जसको पछाडि कुनै क्रिया छैन, तत्त्वको अर्थस्वरूप परमात्माको जानकारीबाट अलग गर्ने र तुच्छ छ, त्यो ज्ञानलाई तामस भनिन्छ। अब प्रस्तुत छ कर्मका तीन भेदहरू–

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

जुन कर्म '**नियतम्**'– शास्त्र–विधिले निर्धारित छ, अरु होइन, सँगदोष र फलको इच्छा नराख्ने पुरुषहरूद्वारा बिना राग–द्वेषले गरिन्छ, त्यो कर्मलाई सात्विक भनिन्छ। (नियत कर्म (आराधना) चिन्तन हो, जो परममा प्रवेश दिलाउँछ।)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

जुन कर्म धेरै परिश्रमले युक्त छ, फलको इच्छा गर्ने र अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा गरिन्छ, त्यो कर्मलाई राजस भनिन्छ। यो पुरुष पनि त्यही नियत कर्म गर्दछ; तर फरक यति मात्र छ कि फलको इच्छा र अहंकारबाट युक्त छ। यसैले उबाट हुने कर्म राजस हुन्। अब हेरौं तामस–

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

जुन कर्म अन्ततः नष्ट हुनेवाला छ, हिंसा–सामर्थ्यको विचार नगरी मात्र मोहवश आरम्भ गरिन्छ, त्यो कर्मलाई तामस भनिएको हो। स्पष्ट छ, यो कर्म शास्त्रको नियत कर्म होइन। त्यसको स्थानमा भ्रान्ति छ। अब हेरौं कर्त्ताको लक्षण–

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

जो कर्त्ता संग-दोषबाट रहित भएर, अहंकारको वचन नबोल्ने, धैर्य र उत्साहले युक्त भएर, कार्य सिद्ध हुने र न हुनेमा हर्ष, शोक इत्यादि विकारहरूले सर्वथा रहित भएर कर्ममा (अहर्निश) प्रवृत्त छ, त्यो कर्त्तालाई सात्विक भनिन्छ। यी नै उत्तम साधकको लक्षण हो। कर्म त्यही हो- नियत कर्म।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

आसक्तियुक्त, कर्मको फल चाहने, लोलुप, आत्माहरूलाई कष्ट दिने, अपवित्र र हर्ष-शोकमा जो लिप्त छ, त्यो कर्त्तालाई राजस भनिन्छ।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

जो चंचल चित्तवाला, असभ्य, घमण्डी, धूर्त, अर्काको काममा बाधा पुर्‍याउने, शोक गर्ने स्वभावको, आलसी र दीर्घसूत्री छ कि फेरि गर्नेछु, त्यो कर्त्तालाई तामस भनिन्छ। दीर्घसूत्री कर्मलाई भोली-भोली भनेर टार्नेवाला हुन; यद्यपि गर्ने इच्छा त्यसलाई पनि रहन्छ। यसप्रकार कर्त्ताको लक्षण पूर्ण भयो। अब योगेश्वर श्रीकृष्णले नवीन प्रश्न उठाउनु भयो- बुद्धि, धारणा र सुखको लक्षण-

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

धनञ्जय! बुद्धि र धारणा शक्तिको पनि गुणहरूको अधारमा तीन प्रकारका भेद सम्पूर्णताले विभागपूर्वक मबाट सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

पार्थ! प्रवृत्ति र निवृत्तिलाई, कर्त्तव्य र अकर्त्तव्यलाई, भय र अभयलाई तथा बन्धन र मोक्षलाई जो बुद्धि यथार्थ जान्दछ, त्यो बुद्धि सात्विकी हो।

अर्थात् परमात्म-पथ, आवागमन-पथ दुबैको राम्रो जानकारी हुनु सात्विकी बुद्धि हो। यथा-

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

पार्थ! जुन बुद्धिद्वारा मानिस धर्म-अधर्मलाई तथा कर्त्तव्य र अकर्त्तव्यलाई पनि यथावत् जान्दैन, अधूरो जान्दछ, त्यो बुद्धि राजसी हो। अब तामसी बुद्धिको स्वरूपलाई हेरौं-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

पार्थ! तमोगुणले ढाकिएको जुन बुद्धिले अधर्मलाई धर्म मान्दछ तथा सम्पूर्ण हितहरूलाई विपरीत नै देख्छिन्, त्यही बुद्धि तामसी हो।

यहाँ श्लोक तीसदेखि बत्तीससम्म बुद्धिको तीन भेदहरू बताइयो। पहिलो बुद्धि कुन कार्यबाट निवृत्त हुनु छ र कुनमा प्रवृत्त हुनु छ, कुन कर्त्तव्य हो र कुन अकर्त्तव्य हो, यिनीहरूको राम्रो जानकारी राख्ने बुद्धि सात्विकी हो। जसले कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यलाई धमिलो ढंगले जान्दछ, यथार्थ जान्दैन, त्यो राजसी बुद्धि हो र अधर्मलाई धर्म, नश्वरलाई शाश्वत तथा हितलाई अहित- यसप्रकार विपरीत जानकारी हुने बुद्धि तामसी हो। यसप्रकार बुद्धिको भेद समाप्त भयो। अब प्रस्तुत छ अर्को प्रश्न, '**धृति**'- धारणका तीन भेदहरू-

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

'**योगेन**'- यौगिक प्रक्रियाद्वारा '**अव्यभिचारिणी**'- योग-चिन्तन बाहेक अर्को कुनै स्फुरण आउनु व्यभिचार हो, चित्त बरालिनु व्यभिचार हो; अतः यस्तो अव्यभिचारी धारणाले मानिस मन, प्राण र इन्द्रियहरूका क्रियालाई जसले धारण गर्दछ, त्यो धारणा सात्विकी हो। अर्थात् मन, प्राण र इन्द्रियहरूलाई इष्टको दिशामा फर्काउनु नै सात्विकी धारणा हो। तथा-

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

हे पार्थ! फलको इच्छागर्ने मानिस अभिआसक्तिले जुन धारणाद्वारा मात्र धर्म, अर्थ र कामलाई धारण गर्दछ (मोक्षलाई होइन), त्यो धारणा राजसी हो। यस धारणामा पनि लक्ष्य त्यही हो, मात्र कामना गर्दछ। जे जति गर्दछ, त्यसको बदलामा चाहन्छ। अब तामसी धारणाको लक्षण हेरौं–

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

हे पार्थ! दुष्टबुद्धिहुने मानिस जुन धारणाद्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख र अभिमानलाई पनि (यी सबैलाई छोड्दैन) धारण गरेको हुन्छ, त्यो धारणा तामसी हो। यो प्रश्न समाप्त भयो। अगाडीको प्रश्न छ, सुख–

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

अर्जुन! अब सुख पनि तीन प्रकारको मबाट सुन। तीमध्ये जुन सुखमा साधक अभ्यासले रमण गर्दछ अर्थात् चित्तलाई समेटेर इष्टमा रमण गर्दछ र जो दुःखको अन्त्य गर्नेवाला छ तथा,

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

उपर्युक्त सुख साधनको आरम्भकालमा यद्यपि विषसदृश लाग्छ (प्रह्लादलाई शूलीमा चढाइयो, मीरालाई विष मिल्यो। कबीर भन्नुहुन्छ– '**सुखिया सब संसार है, खाये और सोवे। दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे।**' अतः आरम्भमा विषजस्तै आभास हुन्छ) तर परिणाममा अमृततुल्य छ, अमृत तत्त्वलाई दिलाउनेवाला हो। अतः आत्म–विषयक बुद्धिको प्रसादले उत्पन्न भएको सुखलाई सात्विक भनिन्छ। तथा–

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

जुन सुख विषय र इन्द्रियहरूको संयोगले हुन्छ, त्यो यद्यपि भोगकालमा अमृत सदृश हुन्छ तर परिणाममा विषको सदृश हुन्छ, किनकि जन्म-मृत्युको कारण हो, त्यो सुखलाई राजस भनिन्छ। तथा-

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

जुन सुख भोगकालमा र परिणाममा पनि आत्मालाई मोहमा पार्ने छ, निद्रा '**या निशा सर्वभूतानाम्**'- जगत्को निशामा अचेत राख्ने छ, आलस्य र व्यर्थको चेष्टाहरूबाट उत्पन्न यस्तो सुखलाई तामस भनिएको छ। अब योगेश्वर श्रीकृष्ण गुणहरूको पहुँच बताउनु हुन्छ, जुन सबैको पछि लागेको छन्-

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

अर्जुन! पृथ्वीमा, स्वर्गमा अथवा देवताहरूमा यस्तो कुनै पनि प्राणी छैन, जुन प्रकृतिबाट उत्पन्न यी तीनवटै गुणहरूबाट रहित होस्। अर्थात् ब्रह्मदेखि लिएर कीरा-फट्याङ्ग्रासम्म यावन्मात्र जगत् क्षण-भंगुर, मर्ने-बाँच्ने हुन्, तीनवटै गुणहरूको अन्तर्गत छन् अर्थात् देवताहरू पनि तीनै गुणहरूका विकार हुन्; नश्वर हुन्।

यहाँ बाह्य देवताहरूलाई योगेश्वरले चौथो पटक लिनुभयो। (अध्याय सात, नौ, सत्र तथा अठारौं अध्यायमा)। यी सबैको एउटै अर्थ छ कि देवता पनि तीनवटै गुणहरूको अन्तर्गत छन्। जो व्यक्ति यिनलाई भज्दछ, नश्वरको पूजा गर्दछ।

भागवतको द्वितीय स्कन्धमा महर्षि शुक तथा परीक्षितको प्रसिद्ध आख्यान छ, जसमा उपदेश दिंदै वहाँ भन्नुहुन्छ कि स्त्री-पुरुषमा प्रेमको लागि शङ्कर-पार्वतीको, आरोग्यको लागि अश्विनीकुमारको, विजयको लागि इन्द्रको तथा धनको लागि कुबेरको पूजा गर्नुपर्छ। यसैप्रकार विविध कामनाहरू बताएर अन्त्यमा निर्णय दिनुहुन्छ कि सम्पूर्ण कामनाहरूको पूर्ति र मोक्षको लागि त

एकमात्र नारायणको पूजा गर्नु पर्दछ। '**तुलसी मूलहिं सींचिए, फूलइ फलई अघाई।**' अस्तु, सर्वव्यापक प्रभुको स्मरण गरौं, जसको पूर्तिको लागि सद्‌गुरुको शरण, निष्कपट भावले प्रश्न र सेवा एकमात्र उपाय हो।

आसुरी र दैवी सम्पद् अन्तःकरणका दुई प्रवृत्तिहरू हुन्, जसमा दैवी सम्पद् परमदेव परमात्माको दिग्दर्शन गराउँदछ, यसैले दैवी भनिन्छ; तर यी पनि गुणहरूको अन्तर्गत छन्। गुण शान्त भएपछि यसको पनि शान्ति हुन्छ। तत्पश्चात् त्यस आत्म-तृप्त योगीको लागि कुनै पनि कर्त्तव्य बाँकी रहदैन।

अब प्रस्तुत छ, पछाडिबाट आरम्भ भएको प्रश्न वर्ण-व्यवस्था। वर्ण जन्म-प्रधान हो अथवा कर्महरूबाट प्राप्त हुने अन्तःकरणको योग्यताको नाम हो? यसमा हेरौं-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

हे परंतम! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य र शूद्रहरूको कर्म स्वभावबाट उत्पन्न गुणहरूद्वारा विभक्त गरिएका छन्। स्वभावमा सात्विक गुण छ भने तपाईंमा निर्मलता हुनेछ, ध्यान-समाधिको क्षमता हुनेछ। तामसी गुण छ भने आलस्य, निद्रा, प्रमाद रहनेछ, त्यसै स्तरबाट तपाईंबाट कर्म पनि हुनेछ। जो गुण कार्यरत छ, त्यही तपाईंको वर्ण हो, स्वरूप हो। यसैप्रकार अर्द्ध-सात्विक र अर्द्ध-राजसबाट एउटा वर्ग क्षेत्रियको हो र आधाभन्दा कम तामस तथा विशेष राजसबाट द्वितीय वर्ग वैश्यको हो।

यस प्रश्नलाई योगेश्वर श्रीकृष्णले यहाँ चौथो पटक लिनुभयो। अध्याय दुईमा यी चारै वर्णहरूमध्ये एउटा क्षत्रियको नाम लिनुभयो कि क्षेत्रियको लागि युद्धभन्दा श्रेष्ठ अर्को कुनै मार्ग नै छैन। तेस्रो अध्यायमा वहाँले भन्नुभयो- दुर्बल गुण हुनेहरूको लागि पनि उसको स्वभावबाट उत्पन्न योग्यतानुसार धर्ममा प्रवृत्त हुनु, त्यसमा मर्नु परे पनि परम कल्याणकारक हो, अर्काको नक्कल गर्नु भयावह हो। अध्याय चारमा बताउनुभयो कि चार वर्णहरूको सृष्टि मैले गरें। तब के मानिसहरूलाई चार जातिहरूमा बाँडियो? भन्नुहुन्छ- होइन, '**गुणकर्म विभागशः**'- गुणहरूको योग्यताबाट कर्मलाई चार सोपानहरू

(खुड्‌किलाहरू)मा बाँडियो। यहाँ गुण एक मापदण्ड हो, त्यस द्वारा नापेर कर्म गर्ने क्षमतालाई चार भागमा बाँडियो। श्रीकृष्णको शब्दमा, कर्म एउटा मात्र अव्यक्त पुरुषको प्राप्तिको लागि क्रिया हो। ईश्वर-प्राप्तिको आचरण आराधना हो, जसको प्रारम्भ मात्र एक इष्टमा श्रद्धाबाट हुन्छ। चिन्तनको विधि-विशेष छ, जसलाई अगाडि नै बताई सक्नु भएको छ, यस यज्ञार्थ कर्मलाई चार भागमा बाँडियो। अब हामी कसरी सम्झौं कि हामीमा कुन गुण छ र कुन श्रेणीको छ? यसमा वहाँ भन्नुहुन्छ-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

मनको शमन, इन्द्रियहरूको दमन, पूर्ण पवित्रता, मन, वाणी र शरीरलाई इष्टको अनुरूप तपाउनु, क्षमाभाव, मन, इन्द्रियहरू र शरीरको सर्वथा सरलता, आस्तिक बुद्धि अर्थात् एक इष्टमा सच्चा आस्था, ज्ञान अर्थात् परमात्माको जानकारीको संचार, विज्ञान अर्थात् परमात्माबाट मिल्ने निर्देशहरूको जागृति एवम् त्यसको अनुसार चल्ने क्षमता यी सबै स्वभावबाट उत्पन्न भएका ब्राह्मणहरूका कर्म हुन् अर्थात् जब स्वभावमा यी योग्यताहरू भेटिन्छ, कर्म धारावाही भएर स्वभावमा ढलोस् (मिलोस्), तब यो ब्राह्मण श्रेणीको कर्त्ता हो। तथा-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

शूरवीरता, ईश्वरीय तेज मिल्नु, धैर्य, चिन्तनमा दक्षता अर्थात् '**कर्मसु कौशलम्**'- कर्म गर्नमा दक्षता, प्रकृतिको संघर्षबाट नभाग्ने स्वभाव, दान अर्थात् सर्वस्वको समर्पण, सबै भावहरूमा स्वामीभाव अर्थात् ईश्वरभाव- यी सबै क्षत्रियको '**स्वभावजम्**'- स्वभावबाट उत्पन्न भएका कर्महरू हुन्। स्वभावमा यी योग्यताहरू पाइन्छन् भने त्यो कर्त्ता क्षत्रिय हो। अब प्रस्तुत छ वैश्य तथा शूद्रको स्वरूप-

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

कृषि, गो–रक्षा र व्यवसाय वैश्यका स्वभावजन्य कर्म हुन्। गोपालन नै किन? भैंसीलाई मारौं? बाख्रा नराखौं? यस्तो केही पनि होइन। सुदूर वैदिक वाङ्मयमा 'गो' शब्द अन्तःकरण एवं इन्द्रियहरूको लागि प्रचलित थियो। गो–रक्षाको अर्थ हो, इन्द्रियहरूको रक्षा। विवेक–वैराग्य–शम–दमद्वारा इन्द्रियहरू सुरक्षित हुन्छन्, काम–क्रोध–लोभ–मोहद्वारा यिनीहरू विभक्त हुन्छन्, क्षीण हुन्छन्। आत्मिक सम्पत्ति नै स्थिर सम्पत्ति हो। यो आफ्नो निजी धन हो, जुन एक पटक साथ भएपछि सधैं साथ दिन्छन्। प्रकृतिको द्वन्द्वहरूबाट उनीहरूको विस्तारै–विस्तारै संग्रह गर्नु व्यवसाय हो ('**विद्या धनम् सर्वधनप्रधानम्**'– यसलाई अर्जित गर्नु वाणिज्य हो) खेती? शरीर नै एउटा क्षेत्र हो। यसको अन्तरालमा छरेको बीउ संस्कार–रूपमा राम्रो र नराम्रोसित उम्रन्छन्। अर्जुन! बरू यस निष्काम कर्ममा बीज अर्थात् आरम्भको नाश हुँदैन। (तीमध्ये कर्मको तेस्रो श्रेणीमा कर्म अर्थात् इष्ट–चिन्तन नियत कर्म) परमतत्वको चिन्तनको जुन बीउ यस क्षेत्रमा राखिएका छन्, त्यसलाई सुरक्षित राख्दै यसमा आउने विजातीय विकारहरूको निराकरण गर्दै जानु खेती हो। '**कृषि निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।।**' (**मानस, ४/१४/८**)– यसप्रकार इन्द्रियहरूको सुरक्षा तथा प्रकृतिको द्वन्द्वहरूबाट आत्मिक सम्पत्तिलाई संग्रहीत गर्नु र यस क्षेत्रमा परमतत्वको चिन्तनको सम्वर्द्धन– यो वैश्य श्रेणीको कर्म हो।

श्रीकृष्णको अनुसार '**यज्ञशिष्टाशिनः**'– पूर्तिकालमा यज्ञ जसलाई दिन्छ, त्यो हो परात्पर ब्रह्म। त्यसको पान गर्ने सन्तजन सम्पूर्ण पापहरूबाट मुक्त हुन्छन् र त्यसैको विस्तारै–विस्तारै चिन्तन–क्रियाबाट बीजारोपण हुन्छ। त्यसको सुरक्षा खेती हो। वैदिक शास्त्रहरूमा अन्नको अर्थ हो परमात्मा। त्यो परमात्मा नै एकमात्र अशन हो, अन्न हो। चिन्तनको पूर्तिकालमा यो आत्मा पूर्णतः तृप्त हुन्छ, फेरि कहिलै पनि अतृप्त हुँदैन, आवागमनमा आउँदैन। यस अन्नको बीउलाई जमाउँदै अगाडी बढाउनु कृषि हो।

आफूभन्दा उन्नत अवस्था भएका, प्राप्तिभएका गुरुजनको सेवा गर्नु शूद्रको स्वभावजन्य कर्म हो। शूद्रको अर्थ नीच होइन बरू अल्पज्ञ हो। निम्न

श्रेणीको साधक नै शूद्र हो। प्रवेशिका श्रेणीको त्यो साधकले परिचर्याबाट नै आरम्भ गर्नुपर्छ। विस्तारै-विस्तारै सेवाले उसको हृदयमा ती संस्कारहरूको सृजन हुनेछन् र क्रमशः हिडेर त्यो वैश्य, क्षत्रिय र ब्राह्मणसम्मको दूरी तय गरेर, वर्णहरूलाई पनि पार गरेर ब्रह्ममा प्रवेश पाउनेछ। स्वभाव परिवर्तनशील छ। स्वभावको परिवर्तनको साथ वर्ण-परिवर्तन हुन्छ। वस्तुतः यी वर्ण अति उत्तम, उत्तम, मध्यम र निष्कृष्ट चार अवस्थाहरू हुन्, कर्मपथमा चल्ने साधकको उच्च-नीच चार भऱ्याङहरू छन्; किनकि कर्म एउटै छ नियत कर्म। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- परमसिद्धिको प्राप्तिको लागि यही एउटा मात्र बाटो हो कि स्वभावमा यस्तो योग्यता छ त्यहींबाट आरम्भ गरोस्। यसलाई हेरौं-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

आ-आफ्नै स्वभावमा पाउने योग्यताको अनुसार कर्ममा लागेको मानिस '**संसिद्धिम्**'- भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धि प्राप्त गर्दछ। पछाडि पनि बताउनु भयो- यस कर्मलाई गरेर तिमी परमसिद्धि प्राप्त गर्नेछौ। कुन कर्म गरेर? अर्जुन! तिमी शास्त्र-विधिबाट निर्धारित कर्म, यथार्थ कर्म गर। अब स्वकर्म गर्ने क्षमताको अनुसार कर्ममा लागेको मानिस परमसिद्धिलाई कुन प्रकार प्राप्त गर्दछ, त्यो विधि मबाट सुन। ध्यान दिनुस्-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

जुन परमात्माबाट सबै भूतहरूको उत्पत्ति भयो, जसबाट यो सम्पूर्ण जगत् व्याप्त छ, त्यस परमेश्वरलाई '**स्वकर्मणा**'- आफ्नो स्वभावबाट उत्पन्न भएको कर्मद्वारा अर्चन गरेर मानिस परमसिद्धिलाई प्राप्त गर्दछ। अतः परमात्माको भावना र परमात्माको सर्वांगीण अर्चन र क्रमशः चल्नु आवश्यक छ। जस्तो कि कुनै ठूलो कक्षा (श्रेणी)मा बस्छ भने सानो पनि गुमाउँछौं, ठूलो त मिल्ने छैन। अतः यस कर्मपथमा सोपानशः नै हिड्ने विधान छ। जस्तै ३/३५मा। यसैमाथि पुनः जोड (बल) दिंदै वहाँ भन्नुहुन्छ कि तपाईं अल्पज्ञ नै भए पनि त्यहींबाट आरम्भ गर्नुस्। त्यो विधि हो- परमात्मा प्रति समर्पण।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

राम्रो किसिमले अनुष्ठान गरिएको अर्काको धर्मभन्दा गुणरहित भए पनि स्वधर्म परमकल्याणकारक हो। '**स्वभावनियतं**'- स्वभावले निर्धारित गरिएको कर्म गर्दै मानिस पाप अर्थात् आवागमनलाई प्राप्त गर्दैन। प्रायः साधकहरूलाई उच्चाटन हुन लाग्छ कि हामी सेवा गर्दै नै रहनेछौं, वहाँ त ध्यानस्थ हुनुहुन्छ। राम्रो गुणहरूको कारण उनको सम्मान छ। चाँडै उनीहरू नक्कल (देखासिकी) गर्न लाग्दछन्। श्रीकृष्णको अनुसार, नक्कल वा ईर्ष्याबाट केही मिल्ने छैन। आफ्नो स्वभावबाट कर्म गर्ने क्षमता अनुसार कर्म गरेर नै कोही परमसिद्धि पाउँछ, छोडेर होइन।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

कौन्तेय! दोषयुक्त (अल्पज्ञ अवस्थावाला छ भने सिद्ध छ कि अहिले दोषहरूको बाहुल्यता छ, यस्तो दोषयुक्त पनि) '**सहजं कर्म**'- स्वभावबाट उत्पन्न सहज कर्मलाई त्याग्नु हुँदैन; किनकि धूवाँबाट अग्निको सदृश सबै कर्म कुनै न कुनै दोषबाट आवृत्त छन्। ब्राह्मण श्रोणी नै सही, कर्म त गरिराख्नु परिरहेको छ। स्थिति नमिलेसम्म दोष विद्यमान हुन्छ, प्रकृतिका आवरण विद्यमान हुन्छ। दोषको अन्त्य त्यहाँ हुनेछ, जहाँ ब्राह्मण श्रेणीको कर्म पनि ब्रह्ममा प्रवेशसँगै विलय हुन्छ। त्यो प्राप्तिको लक्षण के हो, जहाँ कर्महरूबाट प्रयोजन रहदैन?

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

सर्वत्र आसक्तिबाट रहित बुद्धिभएका, स्पृहाबाट सर्वथा रहित, जितेको अन्तःकरणवाला पुरुष '**संन्यासिनाम्**'- सर्वस्वको न्यासको अवस्थामा परम नैष्कर्म्यको सिद्धिलाई प्राप्त गर्दछ। यहाँ संन्यास र परम नैष्कर्म्य सिद्धि पर्याय हुन्। सांख्ययोगी त्यहीं पुग्दछ, जहाँ निष्काम कर्मयोगी। यो उपलब्धि दुबै मार्गीहरूको लागि समान छ। अब परम नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त गरेको पुरुष

जसरी ब्रह्मलाई प्राप्त गर्दछ, त्यसको चित्रण संक्षेपमा गर्नुहुन्छ–

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

कौन्तेय! जुन ज्ञानको परानिष्ठा छ, पराकाष्ठा छ, त्यस परमसिद्धिलाई प्राप्त गरेको पुरुष ब्रह्मलाई जसरी प्राप्त गर्दछ, त्यस विधिलाई तिमी मबाट संक्षेपमा जान। अगाडीको श्लोकमा त्यही विधि बताइरहनु भएको छ, ध्यान दिनुस–

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

अर्जुन! विशेषरूपले शुद्ध बुद्धिले युक्त, एकान्त र शुभदेशको सेवन गर्नेवाला, साधनामा जति सहायक हुन्छ त्यति नै आहार गर्नेवाला, जितेको मन, वाणी र शरीरवाला, दृढ वैराग्यलाई राम्ररी प्राप्त गरेको पुरुष निरन्तर ध्यान–योगको परायण र यस्तो धारणाले युक्त अर्थात् यी सबैलाई धारण गर्ने तथा अन्तःकरणलाई वशमा गरेर शब्दादिक विषयहरूलाई त्यागेर, राग–द्वेषलाई नष्ट गरेर तथा–

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध, बाहिरी वस्तुहरू र आन्तरिक चिन्तनहरूलाई त्यागेर, ममतारहित, शान्त अन्तःकरण भएको पुरुष परब्रह्मको साथ एकीभाव हुनको लागि योग्य हुन्छ। अगाडि हेरौं–

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

ब्रह्मसंग एकीभाव हुने योग्यता भएको त्यो प्रसन्नचित्त पुरुष न त कुनै वस्तुको लागि शोक गर्दछ र न कसैको आकांक्षा नै गर्दछ। सबै भूतहरूमा

समभाव भएको त्यो भक्तिको पराकाष्ठामा छ। भक्ति आफ्नो परिणाम दिने स्थितिमा छ, जहाँ ब्रह्ममा प्रवेश मिल्दछ। अब–

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

त्यस पराभक्तिद्वारा त्यो मलाई तत्वले जान्दछ। त्यो तत्व हो के? म जस्तो र जुन प्रभाववाला छु, अजर–अमर–शाश्वत जुन अलौकिक गुणधर्मवाला छु, त्यसलाई जान्दछ र मलाई तत्त्वबाट जानेर चाँडै नै ममा प्रवेश गर्दछ। प्राप्तिकालमा त भगवान् देखिन्छ र प्राप्तिपश्चात् तत्क्षण त्यो आफ्नो आत्मस्वरूपलाई त्यस ईश्वरीय गुणधर्महरूसँग युक्त पाउँछ कि आत्मा नै अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त र सनातन हो।

दोस्रो अध्यायमा योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो– आत्मा नै सत्य हो, सनातन हो, अव्यक्त र आत्मस्वरूप हो; तर यी विभूतिहरूबाट युक्त आत्मालाई मात्र तत्वदर्शीहरूले देखे। अब त्यहाँ प्रश्न स्वभाविक थियो कि– वस्तुतः तत्वदर्शिता के हो? धेरै मानिस पाँच तत्व, पचीस तत्वको बौद्धिक गणना गर्न लाग्दछन्; तर यसमा श्रीकृष्णले यहाँ अठारौं अध्यायमा निर्णय दिनुभयो कि परमतत्व हो परमात्मा। जसले वहाँलाई जान्दछ, त्यही तत्वदर्शी हो। अब यदि तपाईंलाई त्यो तत्वको चाहना छ, परमात्म तत्वको चाहना छ, भने भजन–चिन्तन आवश्यक छ।

यहाँ श्लोक उनञ्चासबाट पचपन्नसम्म योगेश्वर श्रीकृष्णले स्पष्ट गर्नुभयो कि संन्यास मार्गमा पनि कर्म गर्नु पर्छ। वहाँले भन्नुभयो– '**संन्यासेन**'– संन्यास द्वारा (अर्थात् ज्ञानयोगद्वारा) कर्म गर्दा–गर्दै इच्छारहित, आसक्तिरहित तथा जितेको शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष जुन प्रकार नैष्कर्म्यको परमसिद्धिलाई प्राप्त गर्दछ, त्यसलाई संक्षेपमा भन्नेछु। अहंकार, बल, दर्प, काम–क्रोध, मद–मोह इत्यादि प्रकृतिमा गिराउने विकारहरू जब सर्वथा शान्त हुन्छ र विवेक, वैराग्य, शम–दम, एकान्त सेवन, ध्यान इत्यादि ब्रह्ममा प्रवेश दिलाउने योग्यताहरू जब पूर्णतया परिपक्व हुन्छन् त्यस बेला त्यही ब्रह्मलाई जान्ने योग्य हुन्छ। त्यस योग्यताको नाम नै पराभक्ति हो, यसै योग्यताद्वारा त्यो

तत्त्वलाई जान्दछ। तत्त्व के हो? मलाई जान्दछ। भगवान् जो छ, जुन विभूतिहरूबाट युक्त छ, त्यसलाई जान्दछ र मलाई जानेर तत्क्षण ममा स्थित हुन्छ। अर्थात् ब्रह्म, तत्त्व, ईश्वर, परमात्मा र आत्मा एक अर्काका पर्याय हुन्। एउटाको जानकारीसँग यी सबैको जानकारी हुन्छ। यही परमसिद्धि, परमगति, परमधाम पनि हो।

अतः गीताको दृढ़ निश्चय छ कि संन्यास र निष्काम कर्मयोग दुबै परिस्थितिहरूमा परम नैष्कर्म्य सिद्धि पाउनको लागि नियत कर्म (चिन्तन) आवश्यक छ।

अहिलेसम्म त संन्यासीको लागि भजन-चिन्तनमा जोड (बल) दिनुभयो र अब समर्पण भनेर त्यही वार्तालाई निष्काम कर्मयोगीको लागि पनि भन्नुहुन्छ-

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

ममाथि विशेषरूपले आश्रित भएको पुरुष सम्पूर्ण कर्महरूलाई सधैं गर्दै, केही पनि त्रुटी न राखेर गर्दै मेरो कृपा-प्रसादबाट शाश्वत, अविनाशी परमपदलाई प्राप्त गर्दछ। कर्म त्यही हो- नियत कर्म, यज्ञको प्रक्रिया। पूर्ण योगेश्वर सद्गुरुको आश्रित साधकले उनको कृपा-प्रसादले चाँडै पाउँछ। अतः त्यसलाई पाउनको लागि समर्पण आवश्यक छ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

अतः अर्जुन! सम्पूर्ण कर्महरूलाई (जति तिमीबाट हुन सक्छ) मनद्वारा अर्पित गरेर, आफ्नो भरमा होइन बरू मलाई समर्पण गरेर, मेरो परायण भएर बुद्धियोग अर्थात् योगको बुद्धिको अवलम्बन गरेर निरन्तर ममाथि चित्त लगाउ। योग एउटै छ, जो सर्वथा दुःखहरूको अन्त्य गर्ने र परमतत्व परमात्मामा प्रवेश दिलाउने हो। त्यसको क्रिया पनि एउटै छ- यज्ञको प्रक्रिया, जो मन तथा इन्द्रियहरूको संयम, श्वास-प्रश्वास तथा ध्यान इत्यादिमा निर्भर छ। जसको परिणाम पनि एउटै छ- '**यान्ति ब्रह्म सनातनम्।**' यसैमाथि अगाडि भन्नुहुन्छ-

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

यसप्रकार ममा निरन्तर चित्तलाई लगाउने भएर तिमी मेरो कृपाले मन र इन्द्रियहरूको सम्पूर्ण दुर्गहरूलाई अनासाय नै तर्न सफल हुनेछौ। '**इन्द्रिन्ह द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।। आवत देखहि विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।।**' (रामचरितमानस, ७/११७/११)- यी नै दुर्जय दुर्ग हुन्। मेरो कृपाले तिमी यी बाधाहरूलाई अतिक्रमण गर्नेछौ तर यदि अहंकारको कारण मेरो वचन सुनेन भने विनष्ट हुनेछौ, परमार्थबाट च्युत हुनेछौं। यस कुरालाई योगेश्वरले धेरै पटक दोहऱ्याउनुभयो; हेरौं- १६/१८-१९ए १७/५-६। १६/२३मा उहाँ भन्नुहुन्छ- यस शास्त्रविधिलाई त्यागेर अरू विधिहरूबाट जसले भज्ने गर्छ, उनको जीवनमा न सुख हुन्छ, न शान्ति हुन्छ, न सिद्धि हुन्छ र न परमगति नै हुन्छ। त्यो सबैभन्दा बढी भ्रष्ट हुनजान्छ। यहाँ भन्नुहुन्छ- यदि अहङ्कारवश तिमी मेरो कुरा सुनेनौं भने विनष्ट हुनेछौ। अतः लोक-समृद्धि र परमश्रेय प्राप्तिको लागि सम्पूर्ण साधन-क्रमको आदिशास्त्र योगेश्वर श्रीकृष्णोक्त यही गीता हो। फेरी यसमाथि जोड (बल) दिनुहुन्छ-

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

जसलाई तिमी अहंकारको आश्रय लिएर यस्तो मान्दछौ कि युद्ध गर्ने छैन, तब यो तिम्रो निश्चय मिथ्या हो; किनकि तिम्रो स्वभावले तिमीलाई बलात् (बलपूर्वक, जबर्दस्ती) युद्धमा लगाउनेछ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

कौन्तेय! मोहवश तिमी जुन कर्म गर्ने इच्छा गर्दैनौ, त्यसलाई पनि आफ्नो स्वभावबाट उत्पन्न भएको कर्मबाट बाँधिएर परवश (विवश) भएर गर्नेछौं। प्रकृतिको सङ्घर्षबाट नभाग्ने तिम्रो क्षत्रिय श्रेणीको स्वभावले तिमीलाई बलपूर्वक कर्ममा लगाउनेछ। प्रश्न पूरा भयो। अब वहाँ ईश्वर कहाँ बस्नु हुन्छ?- यसमा भन्नुहुन्छ-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

अर्जुन! त्यो ईश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणिहरूको हृदय-देशमा निवास गर्दछ। यति नजिक छ भने मानिसहरू किन जान्दैनन्? मायारूपी यन्त्रमा आरूढ भएर सबै मानिसहरू भ्रमवश चक्कर लगाउँदै रहन्छन्, यसैले जान्दैनन्। यो यन्त्र ठूलो बाधक हो, जो पटक-पटक नश्वर कलेवरहरूमा (शरीरहरूमा) घुमाउदै रहन्छ। तब शरण कसको लिने?-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

यसैले हे भारत! सम्पूर्ण भावले त्यस ईश्वरको (जो हृदय-देशमा स्थित छ) अनन्य शरणलाई प्राप्त गर। उसको कृपा-प्रसादले तिमी परमशान्ति, शाश्वत परमधामलाई प्राप्त गर्नेछौं। अतः ध्यान गर्नु छ भने हृदय-देशमा गर। यो जान्दा-जान्दै पनि मन्दिर, मस्जिद, चर्च वा अन्यत्र खोज्नु समय बरबाद गर्नु हो। हो, जानकारी नभएसम्म स्वाभाविक छ। ईश्वरको निवास-स्थान हृदय हो। भागवतको चतुःश्लोकी गीताको सारांश पनि यही हो कि हुनत म सवत्र छु, तर प्राप्त हुन्छु हृदय-देशमा ध्यान गरेपछि मात्र।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

यसप्रकार बस यति नै गोपनीयभन्दा पनि अतिगोपनीय ज्ञान मैले तिम्रो लागी भनें। यस विधिले सम्पूर्ण रूपले विचार गर, अनि तिमीलाई जस्तो इच्छा लाग्दछ त्यस्तै गर। सत्य यही हो, शोधको स्थली यही हो, प्राप्तिको स्थली पनि यही हो। तर हृदयस्थित ईश्वर देखिंदैन, यसमा उपाय बताउनु हुन्छ-

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीय भन्दा पनि अतिगोपनीय मेरो रहस्ययुक्त वचनलाई तिमी फेरी सुन। (भन्नुभएको छ, तर फेरि सुन। साधकको लागि इष्ट सधैं खडा

रहन्छ) किनकि तिमी मेरो अतिशय प्रिय छौ, यसैले यो परम हितकारक वचन म तिम्रो लागि फेरि पनि भन्नेछु। त्यो हो के?–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

अर्जुन! तिमी ममा नै अनन्य मनवाला होउ, मेरो अनन्य भक्त होउ, मेरो प्रति श्रद्धाले पूर्ण होऊ (मेरो समर्पणमा अश्रुपात् हुन लागोस्) मलाई नै नमन गर। यसो गरेमा तिमी मलाई नै प्राप्त गर्नेछौ। यो म तिम्रो लागि सत्य प्रतिज्ञा गरेर भन्छु, किनकि तिमी मेरो अत्यन्त प्रिय छौ। अगाडि बताउनु भयो कि ईश्वर हृदय–देशमा छ त्यसको शरणमा जाऊ, यहाँ भन्नुहुन्छ– मेरो शरणमा आऊ। यो अति गोपनीय रहस्ययुक्त वचन सुन कि मेरो शरणमा आऊ। वास्तवमा योगेश्वर श्रीकृष्ण के भन्न चाहनु हुन्छ? यही कि साधकको लागि सद्गुरुको शरण नितान्त आवश्यक छ। श्रीकृष्ण एक पूर्ण योगेश्वर हुनुहुन्थ्यो। अब समर्पणको विधि बताउनु हुन्छ–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

सम्पूर्ण धर्महरूलाई त्यागेर (अर्थात् म ब्राह्मण श्रेणीको कर्त्ता हुँ वा शूद्र श्रेणीको, क्षत्रिय हुँ अथवा वैश्य– यस विचारलाई त्यागेर) मात्र एउटा मेरो अनन्य शरणलाई प्राप्त गर। म तिमीलाई सम्पूर्ण पापहरूबाट मुक्त गराउने छु। तिमी शोक नगर।

यी सबै ब्राह्मण, क्षेत्रिय इत्यादि वर्णहरूको विचार नगरेर (कि यस कर्म–पथमा कुन स्तरको हुँ) जो अनन्य भावले शरणमा हुन्छ, इष्टबाहेक अरु कसैलाई देख्दैन, त्यसको क्रमशः परिवर्तन, उत्थान तथा सम्पूर्ण पापहरूबाट निवृत्ति (मोक्ष)को जिम्मेवारी त्यो इष्ट (सद्गुरु) स्वयं आफ्नो हातमा लिनुहुन्छ।

प्रत्येक महापुरुषले यही भने। शास्त्र जब लेख्नमा आउँछ, तब लाग्दछ कि यो सबैको लागि हो; तर हो वस्तुतः अधिकारीको लागि नै। अर्जुन अधिकारी थिए त्यसै उसलाई जोड (बल) दिएर भन्नुभयो। अब योगेश्वर स्वयं निर्णय दिनुहुन्छ कि यसको अधिकारी को हुन्?–

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

अर्जुन! यसप्रकार तिम्रो हितको लागि भनिएको यस गीताको उपदेशलाई कुनै कालमा बिर्सेर पनि न त तपरहित मानिस प्रति भन्नु पर्छ, न भक्तिरहित प्रति भन्नु पर्छ, न सुन्ने इच्छा नभएको प्रति र जो मेरो निन्दा गर्दछ– यो दोष हो, त्यो दोष हो– यसप्रकार झूठो आलोचना गर्दछ, त्यसको प्रति पनि भन्नु हुँदैन। महापुरुष नै थिए, जसको समक्ष स्तुतिकर्ताहरूको साथ–साथै कतिपय निन्दक पनि रहेका होलान्। यिनीहरूलाई पनि भन्नु हुँदैन। तर प्रश्न स्वाभाविक छ कि भन्ने कसलाई? यसमा हेरौं–

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

जुन मानिस मेरो पराभक्ति प्राप्त गरेर यस परम रहस्ययुक्त गीताको उपदेशलाई मेरा भक्तहरूमा भन्नेछ, जसले सुन्नेछ त्यो भक्त निःसन्देह मलाई नै प्राप्त गर्नेछ। किनकि उपदेशलाई राम्ररी सुनेर हृदयंगम गरेर त्यस अनुसार चल्नेछ तथा पार पाउनेछ। अब त्यस उपदेशकर्ताको लागि भन्नुहुन्छ–

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

न त त्योभन्दा बढी मेरो अतिशय प्रिय कार्य गर्नेवाला मानिसहरूमा कोही छ न त्योभन्दा बढी मेरो अत्यन्त प्यारो पृथ्वीमा अर्को कोही हुनेछन्। कोबाट? जो मेरो भक्तहरूमा उपदेश भन्नेछ, उसलाई उता त्यस पथमा हिंडाउनेछ; किनकि कल्याणको यही एकमात्र स्रोत हो, राजमार्ग हो। अब हेरौं अध्ययन–

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

जुन पुरुष यस धर्ममय हामी दुबैको संवादलाई '**अध्येष्यते**'– राम्ररी मनन गर्नेछ, ऊद्वारा म ज्ञान–यज्ञले पूजित हुनेछु अर्थात् यस्तो यज्ञ जसको परिणाम ज्ञान हो, जसको स्वरूप अगाडि बताइको छ, जसको तात्पर्य हो– साक्षात्कारसँग पाइने जानकारी, यस्तो मेरो निश्चित मत हो।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

जुन पुरुष श्रद्धायुक्त र ईर्ष्यारहित भएर मात्र सुन्नेछ, त्यो पनि पापहरूबाट मुक्त भएर उत्तम कर्म गर्नेहरूको श्रेष्ठ लोकहरूलाई प्राप्त हुनेछ। अर्थात् गर्न पार लागेन भने सुन्नेमात्र गर, उत्तम लोक तब पनि छ, किनकि उसले चित्तमा ती उपदेशहरूलाई ग्रहण त गर्दछ। यहाँ ६७ देखि ७१सम्म पाँच श्लोकमा भगवान् श्रीकृष्णले यो बताउनुभयो कि गीताको उपदेश अनाधिकारीहरूलाई भन्नु हुँदैन; तर जो श्रद्धावान् छ त्यसलाई अवश्य भन्नुपर्छ। जसले सुन्नेछ, त्यो भक्त मलाई प्राप्त गर्दछ; किनकि अति गोपनीय कथालाई सुनेर पुरुष चल्न लाग्छ। जो भक्तहरूमा भन्नेछ, त्यो भन्दा बढी प्रिय भन्नेवाला मेरो कोही पनि छैन। जसले अध्ययन गर्नेछ, ऊद्वारा म ज्ञान-यज्ञले पूजित हुनेछु। यज्ञको परिणाम नै ज्ञान हो। जो गीताको अनुसार कर्म गर्नमा असमर्थ छ तर श्रद्धाले मात्र सुन्नेछ, उसले पनि पुण्य लोकहरूलाई प्राप्त गर्नेछ। यसप्रकार भगवान् श्रीकृष्णले यसको भन्ने, सुन्ने तथा अध्ययनको फल बताउनुभयो। प्रश्न पूरा भयो। अब अन्त्यमा वहाँ अर्जुनलाई सोध्नुहुन्छ कि केही बुझ्यौ?-

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

हे पार्थ! के मेरो यो वचन तिमीले एकाग्रचित्त भएर सुन्यौ? के तिम्रो अज्ञानले उत्पन्न भएको मोह नष्ट भयो? यसमा अर्जुनले भने-

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अच्युत! तपाईंको कृपाले मेरो मोह नष्ट भयो। मलाई स्मृति प्राप्त भयो। (जुन रहस्यमय ज्ञानलाई मनुले स्मृति-परम्पराद्वारा चलाएको थियो, त्यसैलाई अर्जुनले प्राप्त गऱ्यो।) अब म संशयरहित भएर स्थित छु र तपाईंको आज्ञाको पालन गर्नेछु। जबकि सैन्य निरीक्षणको समय दुबै सेनाहरूमा स्वजनलाई देखेर अर्जुन व्याकुल भएका थिए, उनले निवेदन गरेको थिए कि-

गोविन्द! स्वजनलाई मारेर हामी कसरी सुखी हुन्छौ? यस्तो युद्धबाट शाश्वत कुलधर्म नष्ट हुनेछ, पिण्डोदक क्रिया लुप्त हुनेछ, वर्णसंकर उत्पन्न हुनेछन्। हामी बुझ्ने भएर पनि पाप गर्नको लागि उद्यत छौं। यसबाट बच्ने उपाय किन न गर्ने? शस्त्रधारी यी कौरव म शस्त्ररहितलाई रणभूमिमा मारुन्, यो मर्नु पनि श्रेयस्कर हो। गोविन्द! म युद्ध गर्ने छैन- भन्दै ऊ रथको पछिल्लो भागमा बसे।

यसप्रकार गीतामा अर्जुनले योगेश्वर श्रीकृष्णको समक्ष प्रश्न-परिप्रश्नहरूको शृंखला राखे। जस्तै अध्याय २/७- त्यो साधन मेरो लागि भन्नुस् जसद्वारा म परमश्रेय प्राप्त गरुँ? २/५४- स्थितप्रज्ञ महापुरुषको लक्षण के हो? ३/१- जब तपाईंको दृष्टिमा ज्ञानयोग श्रेष्ठ छ भने मलाई भयंकर कर्महरूमा किन लगाउनु हुन्छ? ३/३६- मानिस इच्छा नभए पनि कसको प्रेरणाले पापको आचरण गर्दछ? ४/४- तपाईंको जन्म त आज भयो; तर सूर्यको जन्म धेरै पुरानो छ अनि म यो कसरी मानौं कि कल्पको आदिमा यस योगलाई तपाईंले सूर्य प्रति भन्नुभएको थियो? ५/१- कहिले तपाईं संन्यासको प्रशंसा गर्नुहुन्छ भने कहिले निष्काम कर्मको। यी मध्ये निश्चय गरेर भन्नुस् जसबाट म परमश्रेय प्राप्त गरुँ? ६/३५- मन चंचल छ, फेरि शिथिल प्रयत्नवाला श्रद्धावान् पुरुष तपाइलाई प्राप्त नगरेर कुनचाहीँ दुर्गतिलाई प्राप्त हुन्छ? ८/१-२- गोविन्द! जसको तपाईले वर्णन गर्नुभयो त्यो ब्रह्म के हो? त्यो अध्यात्म के हो? अधिदेव अधिभूत के हो? यस शरीरमा अधियज्ञ के हो? त्यो कर्म के हो? अन्त्य समयमा तपाईं कुन प्रकारले जानकारीमा आउनुहुन्छ? सात प्रश्न गरे। अध्याय १०/१७मा अर्जुनले जिज्ञासा गरे कि निरन्तर चिन्तन गर्दै म कुन-कुन भावहरूद्वारा तपाईंको स्मरण गरुँ? ११/४मा उनले निवेदन गरे कि जुन विभूतिहरूलाई तपाईंले वर्णन गर्नुभयो उनीहरूलाई म प्रत्यक्ष देख्न चाहन्छु। १२/१- जो अनन्य श्रद्धाले लागेको भक्तजन राम्ररी तपाईंको उपासना गर्दछन् र दोस्रो जो अक्षर अव्यक्तको उपासना गर्दछन्- यी दुबैमा उत्तम योगवेत्ता कुन हो? १४/२१- तीनवटै गुणहरूबाट अतीत भएको पुरुष कुन लक्षणहरूले युक्त हुन्छ तथा मानिस कुन उपायले यी तीनवटै गुणहरूबाट अतीत हुन्छ? १७/१- जुन मानिस उपरोक्त शास्त्रविधिलाई त्यागेर तर श्रद्धायुक्त भएर यजन गर्दछन् तिनको गति कस्तो हुन्छ? १८/१- हे महाबाहो! म त्याग र

संन्यासको यथार्थ स्वरूपलाई पृथक्-पृथक् जान्न चाहन्छु।

यसप्रकार अर्जुनले प्रश्न गर्दै गयो। जो ऊ गर्न सक्दैनथे ती गोपनीय रहस्यहरूलाई भगवान्‌ले स्वयं दर्शाउनुभयो। यसको समाधान हुनासाथ ऊ प्रश्नहरूबाट विरत भयो र भने कि गोविन्द! अब म तपाईंको आज्ञाको पालन गर्नेछु। वस्तुतः यी प्रश्न मानव मात्रका लागि हुन्। यी सबै प्रश्नहरूको समाधान नगरी कुनै पनि साधक श्रेय-पथमा अग्रसर हुन सक्दैन। श्रेय-पथमा अग्रसर हुनको लागि सम्पूर्ण गीताको श्रवण अतिआवश्यक छ। अर्जुनको समस्या समाधान भयो। साथै योगेश्वर श्रीकृष्णको श्रीमुखबाट निःसृत (निस्केका) वाणीको उपसंहार भयो। यसमा सञ्जयले भने-

(एघारहौं अध्यायमा विराट् रूपमा दर्शन दिएर योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो कि अर्जुन! अनन्य भक्तिद्वारा म यसप्रकारले देख्न-(जस्तो तिमीले देखेका छौ) लाई तत्त्वबाट जान्न तथा प्रवेश गर्नका लागि सुलभ छु। (११/५४)। यसप्रकार दर्शन गर्नेवाला साक्षात् मेरो स्वरूपलाई प्राप्त गर्दछन् र यहाँ पनि अर्जुनसँग सोध्दन्छन्- के तिम्रो मोह नष्ट भयो? अर्जुनले भने- मेरो मोह नष्ट भयो। मैले आफ्नो स्मृतिलाई प्राप्त गरिसकेकोछु। तपाईं जो भन्नुहुन्छ, त्यही गर्नेछु। दर्शनकोसाथै अर्जुनले मुक्त हुनुपर्ने थियो। वस्तुतः अर्जुनलाई जो हुनु थियो त्यो भयो; तर शास्त्र भविष्यमा आउने पीढि (सन्तान)हरूको लागि हुन्छ। त्यसको उपयोग तपाईं सबैको लागि नै छ)।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

यसप्रकार मैले वासुदेव र महात्मा अर्जुन (अर्जुन एक महात्मा हुन्, योगी हुन्, साधक हुन्, न कि कुनै धनुर्धर जो मार्नको लागि उभिएको छ अतः महात्मा अर्जुन)को यस विलक्षण र रोमाञ्चकारी संवादलाई सुने। तपाईंमा सुन्ने क्षमता कसरी आयो? अगाडि भन्नुहुन्छ-

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

श्री व्यासजीको कृपाले वहाँले दिनुभएको दृष्टिबाट मैले यस परम गोपनीय योगलाई साक्षात् भनिरहेका स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णबाट सुनेको छु। सञ्जय श्रीकृष्णलाई योगेश्वर मान्दछ। जो स्वयं योगी हुन् र अर्कोलाई पनि योग प्रदान गर्ने क्षमता राख्दछ त्यो योगेश्वर हो।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

हे राजन्! केशव र अर्जुनको यस परम कल्याणकार र अद्‌भुत संवादलाई स्मरण गर्दै म बारम्बार हर्षित भइरहेको छु। अतः यस संवादलाई सधैं स्मरण गर्नु पर्दछ र यसै स्मृतिले प्रसन्न रहनु पर्दछ। अब उनको स्वरूप स्मरण गरेर सञ्जय भन्दछ–

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

हे राजन! हरिको (जो शुभाशुभ सबैको हरण गरेर स्वयं बाँकी रहन्छ ती हरिको) अति अद्‌भुत रूपलाई पुनः–पुनः स्मरण गरेर मेरो चित्तमा महान् आश्चर्य हुन्छ र म बारम्बार हर्षित हुन्छु। इष्टको स्वरूप पटक–पटक स्मरण गर्ने वस्तु हो। अन्त्यमा सञ्जय निर्णय दिन्छन्–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

राजन्! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण र धनुर्धर अर्जुन (ध्यान नै धनुष हो, इन्द्रियहरूको दृढता नै गाण्डीव हो अर्थात् स्थिरतासाथ ध्यान गर्ने महात्मा अर्जुन) हो, त्यहीं '**श्रीः**'– ऐश्वर्य, विजय– जसको पछाडि हार छैन, ईश्वरीय विभूति र चल संसारमा अचल रहने नीति हो, यस्तो मेरो मत छ।

आज त धनुर्धर अर्जुन छैन। यो नीति, विजय विभूति त अर्जुनसम्म सीमित रह्यो? यो तत्सामयिक थियो। यो त द्वापरमा नै समाप्त भयो? तर यस्तो कुरा होइन। योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि म सबैको हृदयमा निवास गर्दछु। तपाईंको हृदयमा पनि वहाँ हुनुहुन्छ। अनुराग नै अर्जुन हो। अनुराग

तपाईंको अन्तःकरणको इष्टोन्मुखी लगनको नाम हो। यदि यस्तो अनुराग तपाईंमा छ भने सधैं वास्तविक विजय हुन्छ र अचल स्थिति दिलाउने नीति पनि सधैं रहनेछ, न कि कुनै बेला थियो। जबसम्म प्राणिहरू रहनेछन्, परमात्माको निवास उसको हृदय-देशमा रहनेछ, विकल आत्मा त्यसलाई पाउनको लागि इच्छुक रहनेछ र तीमध्ये जसको पनि हृदयमा त्यसलाई पाउने अनुराग जागृत हुनेछ त्यही अर्जुनको श्रेणीको हुनेछ; किनकि अनुराग नै अर्जुन हो। अतः मानवमात्र यसको प्रत्याशी बन्न सक्दछन्।

निष्कर्ष–

यो गीताको समापन अध्याय हो। आरम्भमा अर्जुनको प्रश्न थियो कि, प्रभो ! म त्याग र संन्यासको भेद र स्वरूपलाई जान्न चाहन्छु। योगेश्वर श्रीकृष्णले यसमा प्रचलित चारवटा मतहरूको चर्चा गर्नुभयो। यीमध्ये एउटा सही पनि थियो। यसैसित मिल्दो-जुल्दो निर्णय योगेश्वर श्रीकृष्णले दिनुभयो कि यज्ञ, दान र तप कुनै कालमा त्याग्ने योग्य छैन। यी मनीषीहरूलाई पनि पवित्र गर्ने हुन्। यी तीनवटैलाई राख्दै, यिनका विरोधी विकारहरूको त्याग गर्नु नै वास्तविक त्याग हो। यो सात्विक त्याग हो। फलको इच्छासँग त्याग राजसी र मोहवश नियत कर्मको नै त्याग गर्नु तामसी त्याग हो र संन्यास त्यागको नै चरमोत्कृष्ट अवस्था हो। नियत कर्म र ध्यानजनित सुख सात्विक हो। इन्द्रिय र विषयको भोग राजसी हो र तृप्तिदायक अन्नको उत्पत्तिबाटरहित दुःखद सुख तामसी हो।

मानिस-मात्रद्वारा शास्त्रको अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य हुनमा पाँच कारणहरू छन्- कर्त्ता (मन), पृथक्-पृथक् करण (जसद्वारा गरिन्छ। शुभ पार लाग्दछ भने विवेक, वैराग्य, शम, दम, करण हुन्। अशुभ पार लाग्दछ भने काम, क्रोध, राग-द्वेष इत्यादि करण हुनेछन्), विभिन्न प्रकारका इच्छाहरू-इच्छाहरू अनन्त छन्, सबै पूर्ण हुन सक्दैनन्। मात्र त्यो इच्छा पूर्ण हुन्छ जससित आधार मिल्दछ। चौथो कारण हो आधार (साधान) र पाँचौं हेतु हो- दैव (प्रारब्ध वा संस्कार)। प्रत्येक कार्य हुनुमा यही नै पाँचवटा कारणहरू हुन्, तैपनि जो कैवल्य स्वरूप परमात्मालाई कर्त्ता मान्दछ, त्यो मूढबुद्धि यथार्थ जान्दैन। अर्थात् भगवान्ले गर्दैन, जबकि पछाडि भनिसक्नु भएको छ

कि अर्जुन! तिमी निमित्तमात्र भएर खड़ा होऊ, कर्त्ता-धर्त्ता त म हुँ। अन्ततः ती महापुरुषको आशय के हो?

वस्तुतः प्रकृति र पुरुषको बीच एउटा आकर्षण सीमा छ। जबसम्म मानिस प्रकृतिमा क्रियाशील छ, तबसम्म माया प्रेरणा गर्दछ र जब त्यो यसभन्दा माथि उठेर इष्टमा समर्पित हुन जान्छ र त्यो इष्ट जब हृदय-देशबाट रथी हुन्छ, फेरि भगवान् गर्नुहुन्छ। यस स्तरमा अर्जुन थिए, सञ्जय पनि थिए र सबैका लागि यस (कक्षा) मा पुग्ने विधान छ। अतः यहाँ भगवान्ले प्रेरणा गर्नुहुन्छ। पूर्णज्ञाता महापुरुष, जान्ने विधि र ज्ञेय परमात्मा यी तीनवटैको संयोगले कर्मको प्रेरणा मिल्दछ। यसैले कुनै अनुभवी महापुरुष (सद्गुरु)को सान्निध्यमा सम्झने प्रयास गर्नुपर्छ।

वर्ण-व्यवस्थाको प्रश्नलाई चौथो पटक लिंदै योगेश्वर श्रीकृष्णले बताउनु भयो। इन्द्रियहरूको दमन, मनको शमन, एकाग्रता, शरीर-वाणी र मनलाई इष्टको अनुरूप तपाउनु, ईश्वरीय जानकारीको संचार, ईश्वरीय निर्देशनमा चल्ने क्षमता इत्यादि ब्रह्ममा प्रवेश दिलाउने योग्यता ब्राह्मण श्रेणीको कर्म हो। शौर्य, पछि नहट्ने स्वभाव, सबै भावहरूमा स्वामीभाव, कर्ममा प्रवृत्त हुने दक्षता क्षत्रिय श्रेणीको कर्म हो। इन्द्रियहरूको संरक्षण, आत्मिक सम्पत्तिको संवर्द्धन इत्यादि वैश्य श्रेणीको कर्म हो र परिचर्या शूद्र श्रेणीको कर्म हो। शूद्रको अर्थ हो अल्पज्ञ। अल्पज्ञ साधक जसले नियत कर्म चिन्तनमा दुई घण्टा बसेर दस मिनट पनि आफ्नो पक्षमा पाउँदैनन्। शरीर अवश्य बसेको छ, तर जुन मनलाई टिकाउनु छ, त्यो त हावासँग कुरा गर्दछ। यस्तो साधकको कल्याण कसरी हुन्छ? उसले आफूभन्दा उन्नत अवस्थाको अथवा सद्गुरुको सेवा गर्नु पर्दछ। विस्तार-विस्तारै त्यसमा पनि संस्कारहरूको सृजन हुनेछ, गति समात्नेछ। अतः यस अल्पज्ञको कर्म सेवाबाट नै प्रारम्भ हुनेछ। कर्म एउटै छ- नियत कर्म, चिन्तन। त्यसको कर्त्ताका चार श्रेणीहरू छन्- अति उत्तम, उत्तम, मध्यम र निकृष्ट नै ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हुन्। मानिसलाई होइन बरू गुणको माध्यमबाट कर्मलाई चार भागमा बाँडियो। गीतोक्त वर्ण यतिमै छ।

तत्वलाई स्पष्ट गर्नुहुँदै वहाँले भन्नुभयो कि- अर्जुन! त्यस परमसिद्धिको विधि बताउनेछु, जो ज्ञानको परानिष्ठा हो। विवेक, वैराग्य, शम, दम, धारावाही

चिन्तन र ध्यानको प्रवृत्ति, ब्रह्ममा प्रवेश दिलाउने सम्पूर्ण योग्यताहरू जब परिपक्व हुन्छन्; काम, क्रोध, मोह, राग-द्वेष आदि प्रकृतिमा घिसारेर राख्ने प्रवृत्तिहरू जब पूर्णतया शान्त हुन्छन्, त्यस समय त्यो व्यक्ति ब्रह्मलाई जान्ने योग्य हुन्छ। त्यही योग्यताको नाम पराभक्ति हो। पराभक्तिद्वारा नै त्यो तत्वलाई जान्दछ। तत्व के हो? बताउनुभयो- म जो हुँ, जुन विभूतिहरूले युक्त छु, त्यसलाई जान्दछ अर्थात् परमात्मा जो हो। अव्यक्त, शाश्वत, अपरिवर्तनशील जुन अलौकिक गुणधर्मवाला हो, त्यसलाई जान्दछ र जानेर त्यो तत्क्षण ममा स्थित हुन्छ। अतः तत्व हो परमतत्व, न कि पाँच वा पचीस तत्व। प्राप्तिको साथ आत्मा त्यही स्वरूपमा स्थित हुन्छ, त्यही गुणधर्महरूले युक्त हुन्छन्।

ईश्वरको निवास बताउँदै योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि अर्जुन! त्यो ईश्वर सम्पूर्ण भूतहरूको हृदय-देशमा निवास गर्दछ; तर मायारूपी यन्त्रमा आरुढ भएर मानिसहरू भटकी रहेका छन्, यसैले जान्दैनन्। अतः अर्जुन! तिमी हृदयमा स्थित त्यस ईश्वरको शरणमा जाऊ। यसभन्दा पनि एउटा गोपनीय रहस्य अझै छ कि सम्पूर्ण धर्महरूको चिंतालाई छोडेर तिमी मेरो शरणमा आऊ। तिमी मलाई प्राप्त गर्नेछौ। यो रहस्य अनाधिकारीसित भन्नु हुँदैन- जो भक्त होइन, त्यसलाई भन्नु हुँदैन। तर जो भक्त हो, त्यसलाई अवश्य भन्नुपर्छ। त्यससँग गोप्य राखेमा कल्याण कसरी हुनेछ? अन्त्यमा योगेश्वर श्रीकृष्णले सोध्नुभयो- अर्जुन! मैले जे जति भने, त्यसलाई तिमीले राम्ररी सुन्यौ- बुझ्यौं? तिम्रो मोह नष्ट भयो कि भएन? अर्जुनले भने- भगवन्! मेरो मोह नष्ट भयो। मैले आफ्नो स्मृति प्राप्त गरेको छु। तपाईं जे जति भन्नुहुन्छ त्यही सत्य हो, अब म त्यही गर्नेछु।

सञ्जय, जसले यी दुबैको संवाद राम्ररी सुनेको छ, आफ्नो निर्णय दिन्छ कि श्रीकृष्ण महायोगेश्वर र अर्जुन एक महात्मा हुनुहुन्छ। उनको संवाद पटक-पटक स्मरण गरेर त्यो हर्षित हुँदैछ। अतः यसको स्मरण गर्दै रहनुपर्छ। त्यो हरिको रूपलाई स्मरण गरेर लगातार हर्षित हुन्छ। अतः बारम्बार स्वरूपको स्मरण गर्दै रहनु पर्छ, ध्यान गर्दै रहनुपर्छ। जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हुनुहुन्छ र जहाँ महात्मा अर्जुन छ, त्यहीं श्री छ, विजय-विभूति र ध्रुवनीति पनि उहीं हो। सृष्टिको नीतिहरू आज छन् भने भोलि फेरिने छ। ध्रुव त एकमात्र परमात्मा हो

यसमा प्रवेश दिलाउने नीति ध्रुवनीति पनि त्यहीं हो। यदि श्रीकृष्ण र अर्जुनलाई द्वापरकालीन व्यक्ति-विशेष मात्रै हो भने आज न श्रीकृष्ण छ न अर्जुन! तपाईंलाई न विजय मिल्नु पर्छ न विभूति। तब त गीता तपाईंको लागि व्यर्थ छ? तर होइन। श्रीकृष्ण एक योगी हुनुहुन्थ्यो, अनुरागले पूर्ण हृदयवाला महात्मा नै अर्जुन हो। यी सधैं रहन्छन् र रहनेछन् पनि। श्रीकृष्णले आफ्नो परिचय दिनुहुँदै भन्नुभयो कि हुन त म अव्यक्त छु तर जुन भावलाई म प्राप्त छु, त्यो ईश्वर सबैको हृदय-देशमा निवास गर्दछ। त्यो सधैं छ र रहनेछ पनि। सबैलाई त्यसैको शरणमा जानुछ। शरणमा जाने नै महात्मा हो, अनुरागी हो। अनुराग नै अर्जुन हो। यसको निम्ति कुनै स्थितप्रज्ञ महापुरुषको शरणमा जानु नितान्त आवश्यक छ; किनकि त्यो नै यसको प्रेरक हो।

यस अध्यायमा संन्यासको स्वरूप स्पष्ट गरियो कि सर्वस्वको न्यास नै संन्यास हो। मात्र गेरुआ वस्त्र धारण गर्नु संन्यास होइन। जबकि यसको साथ एकान्तको सेवन गर्दै नियत कर्ममा आफ्नो शक्ति सम्झेर अथवा समर्पणको साथ सतत् प्रयत्न अपरिहार्य छ। प्राप्तिको साथ सम्पूर्ण कर्महरूको त्याग नै संन्यास हो, जुन मोक्षको पर्याय हो। यही नै संन्यासको पराकाष्ठा हो। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संन्यासयोगो' नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

यसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण र अर्जुनको संवादमा 'संन्यास योग' नामक अठारौं अध्याय पूर्ण हुन्छ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'संन्यासयोगो' नाम अष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

यसप्रकार श्रीमत् परमहंस परमानन्दज्यूका शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृत 'श्रीमद्भगवद्गीता'को भाष्य 'यथार्थ गीता'मा 'संन्यास योग' नामक अठारौं अध्याय समाप्त हुन्छ।

।।हरिः ॐ तत्सत्।।

उपशम

प्रायः टीकाहरूमा मानिसहरू नयाँ कुराहरू खोज्दछन्; तर वस्तुतः सत्य त सत्य हो। त्यो न नयाँ हुन्छ र न पुरानो हुन्छ। नयाँ कुराहरू त अखबारमा छापिंदै रहन्छन्, जुन चाँही नयाँ-पुराना घटनाहरू हुन्। सत्य अपरिवर्तनशील छ, भने अरू कसैले के भन्नु? यदि भन्दछ भने त्यसले पाएको छैन। प्रत्येक महापुरुष यदि हिंडेर त्यो लक्ष्यसम्म पुग्यो भने उसले एउटै कुरा भन्नेछ। उसले समाजको बीचमा फाटो उत्पन्न गर्न सक्दैन। यदि गर्छ भने सिद्ध छ कि त्यसले पाएको छैन। श्रीकृष्ण पनि त्यही सत्यलाई भन्नुहुन्छ जो पूर्व मनीषिहरूले देखेका थिए, पाएका थिए र भविष्यमा हुने महापुरुषहरूले यदि पाउँछन् भने यही भन्नेछन्।

महापुरुष र उनको कार्य-प्रणाली– महापुरुष संसारमा सत्यको नाममा फैलिएको र सत्यजस्तो प्रतीत हुने कुरीतिहरूलाई शमन गरेर कल्याणको पथ प्रशस्त गरिदिन्छ। यो पथ पनि संसारमा पहिलेदेखि नै रहन्छ, तर त्यसैको समानान्तर, त्यस्तै आभास हुने अनेकौं पथ प्रचलित हुन्छन्। तीमध्ये सत्यलाई छुट्याउन अप्ठ्यारो हुन्छ कि वस्तुतः सत्य के हो। महापुरुष सत्यस्थित हुनाले त्यसमध्ये सत्यलाई चिन्दछ, त्यसलाई निश्चित गर्दछ र त्यो सत्यतिर अभिमुख हुन समाजलाई प्रेरित गर्दछ। यस्तै प्रयास रामले गर्नुभयो, महावीरले गर्नुभयो, महात्मा बुद्धले गर्नुभयो, ईसा र मुहम्मदले पनि यही गरे। साथै कबीर, गुरुनानक इत्यादि सबैले यही गरे। महापुरुष यस संसारबाट विदा भएपछि भविष्यका पीढिका मानिसहरूले उनले बताएको मार्गको अनुसरण नगरेर उनीहरूको जन्मस्थल, मृत्युस्थल र ती स्थलहरूलाई पूज्न थाल्छन् जहाँ उनीहरू गएका थिए। क्रमशः उनीहरूले त्यसको मूर्ति बनाएर पूजन थाल्छन्। यद्यपि आरम्भमा उनले उनीहरूको स्मृतिलाई नै एकत्र गर्छन्, तर कालान्तरमा भ्रममा पर्दछन् र त्यही भ्रम रुढीको रूप लिन्छ।

योगेश्वर श्रीकृष्णले पनि तत्सामयिक समाजमा सत्यको नाममा पलाएको रीति-रिवाजहरूलाई खण्डन गरेर समाजलाई प्रशस्त पथमा खडा गरीदिए।

अध्याय २/१६मा वहाँले भन्नुभयो, अर्जुन! असत् वस्तुको अस्तित्व नै छैन र सत्को भने तीनवटै कालमा अभाव छैन। भगवान् भएकोले म यो आफ्नो तर्फबाट भनिरहेको छैन बरू यसको फरक तत्वदर्शीहरूले देखे र त्यसैलाई म भन्न गइरहेको छु। तेह्रौं अध्यायमा वहाँले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको वर्णन त्यसैप्रकार गर्नुभयो, जो '**ऋषिभिर्बहुधागीतम्**'- ऋषिहरूद्वारा प्रायः गाइसकिएका थिए। अठारौं अध्यायमा त्याग र संन्यासको तत्व बताउँदै वहाँले चारवटा मतहरूमध्ये एउटाको चयन गर्नुभयो र त्यसलाई आफ्नो समर्थन दिनुभयो।

संन्यास- कृष्णकालमा अग्निलाई स्पर्श नगर्ने तथा चिन्तनको पनि त्याग गरेर योगी, संन्यासी भनिनेहरूको सम्प्रदाय पनि फस्ट्याइ रहेको थियो। यसको खण्डन गर्दै वहाँले स्पष्ट गर्नुभयो कि ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग, दुबैमध्ये कुनै पनि मार्ग अनुसार कर्मलाई त्याग्ने विधान छैन। कर्म त गर्ने पर्दछ। कर्म गर्दा-गर्दै साधना यति सूक्ष्म हुन्छ कि सर्व-संकल्पहरूको अभाव हुन जान्छ, त्यो पूर्ण संन्यास हो। बीच बाटोमा संन्यास नामको कुनै वस्तु नै छैन। मात्र क्रियाहरूलाई त्यागेर तथा अग्निलाई नछुनाले न कोही संन्यासी हुन्छ, न योगी- जसलाई अध्याय दुई, तीन, पाँच, छः र खासगरी अठारौं अध्यायमा देख्न सकिन्छ।

कर्म- यस्तै भ्रान्ति कर्मको सम्बन्धमा पनि पाइन्छ। अध्याय २/३९मा वहाँले बताउनु भयो कि अर्जुन! अहिलेसम्म यो बुद्धि तिम्रो लागि सांख्ययोगको विषयमा भनियो र अब यसैलाई तिमी निष्काम कर्मको विषयमा सुन। यससँग युक्त भएर तिमी कर्महरूको बन्धनलाई राम्ररी नाश गर्न सक्छौं। यसको थोरै आचरण पनि महान् जन्म-मरणको भयबाट उद्धार गराउने हुन्छ। यस निष्काम कर्ममा निश्चियात्मक क्रिया एउटै छ, बुद्धि एउटै छ, दिशा पनि एउटै छ, तर अविवेकीहरूको बुद्धि अनन्त शाखा भएको हुन्छ, यसैले त्यो कर्मको नाममा अनेकौं क्रियाहरूको विस्तार गरिलिन्छन्। अर्जुन! तिमी नियत कर्म गर। अर्थात् क्रियाहरू धेरै छन्, उनीहरू कर्म होइनन्। कर्म कुनै निर्धारित दिशा हो। कर्म कुनै एउटा यस्तो वस्तु हो, जो जन्म-जन्मान्तरबाट भइरहेको शरीरको यात्रालाई अन्त्य गरिदिन्छ। यदि एउटा पनि जन्म लिनु पऱ्यो भने यात्रा पूर्ण कहाँ हुन्छ भयो?

यज्ञ– त्यो नियत कर्म कुन हो? श्रीकृष्णले स्पष्ट गर्नुभयो कि **'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**– अर्जुन! यज्ञको प्रक्रिया नै कर्म हो। यसको अतिरिक्त संसारमा जे जति पनि गरिन्छ ती यसै लोकका बन्धन हुन्, न कि कर्म। कर्मले त यस संसार–बंधनबाट मोक्ष दिलाउँछ। अब त्यो यज्ञ के हो जसलाई क्रियान्वित गरेमा कर्म सम्पादित हुन सकोस्? अध्याय चारमा श्रीकृष्णले तेह्र–चौध विधिहरूबाट यज्ञको वर्णन गर्नुभयो जुन सबै मिलाएर परमात्मामा प्रवेश दिलाउने विधि–विशेषको चित्रण हो– जो श्वासबाट, ध्यानबाट, चिन्तन र इन्द्रिय–संयम आदिबाट सिद्ध हुने हो। श्रीकृष्णले यो पनि स्पष्ट पार्नुभयो कि भौतिक द्रव्यहरूसँग यस यज्ञको कुनै सम्बन्ध छैन। भौतिक द्रव्यहरूबाट सिद्ध हुने यज्ञ अत्यल्प हुन्। तपाई करोडौंको हवन नै किन नगर्नुस्। सम्पूर्ण यज्ञ मन र इन्द्रियहरूको अन्तःक्रियाबाट सिद्ध हुने हुन्। यज्ञ पूर्ण भएपछि यज्ञ जसलाई सृष्टि गर्दछ, त्यस अमृततत्वको जानकारीको नाम ज्ञान हो। त्यस ज्ञानामृतको पान गर्ने योगी सनातन ब्रह्ममा प्रवेश पाउँछ। जसमा प्रवेश पाउनु थियो। पाइसक्यो, फेरि त्यस पुरुषलाई कर्म गर्नाले कुनै प्रयोजन हुँदैन। यसैले सम्पूर्ण कर्म साक्षात्कारसहित ज्ञानमा समाप्त हुन्छन्। कर्म गर्ने बन्धनबाट त्यो मुक्त हुन्छ। यसप्रकार निर्धारित यज्ञलाई कार्यरूप दिनु कर्म हो। कर्मको शुद्ध अर्थ हो आराधना।

यस नियत कर्म, यज्ञार्थ कर्म अथवा तदर्थ कर्मबाहेक गीतामा अरु कुनै कर्म छैन। यसैमाथि श्रीकृष्णले ठाउँ–ठाउँमा जोड (बल) दिनुभयो। अध्याय छःमा यसैलाई वहाँले 'कार्यम् कर्म' भन्नुभयो। अध्याय सोह्रमा बताउनुभयो कि काम, क्रोध र लोभलाई त्यागेपछि नै त्यो कर्म आरम्भ हुन्छ, जो परमश्रेयलाई दिलाउनेवाला हो। सांसारिक कर्महरूमा जे जति व्यस्त छ, त्यससँग काम, क्रोध र लोभ त्यतिकै बढीमात्रामा सुसज्जित देखिन्, समृद्ध पाइन्छन्। यसै नियतकर्मलाई वहाँले शास्त्र–विधानोक्त कर्मको संज्ञा दिनुभयो। गीता आफैमा पूर्ण तथा प्रथम शास्त्र हो। सत्रौं तथा अठारौं अध्यायमा पनि शास्त्र–विधिबाट निर्धारित कर्म, नियत कर्म, कर्त्तव्य कर्म र पुण्य–कर्मबाट इंगित गरेर वहाँले पटक–पटक विश्वस्त गराउनुभयो कि कर्म नै परमकल्याणकारक हो।

योगेश्वर श्रीकृष्णले यति जोड (बल) दिएर भने पनि तपाई त्यस नियत कर्मलाई नगरेर, श्रीकृष्णको कुरा नमानेर उल्टो-सोझो कल्पना गर्नुहुन्छ कि संसारमा जे केही पनि गरिन्छ कर्म हो। केही पनि त्याग्नु आवश्यक छैन, मात्र फलको कामना नगर, भइसक्यो निष्काम कर्मयोग। कर्त्तव्य भावनाले गर- भइसक्यो कर्त्तव्ययोग। जे पनि गर, नारायणिलाई समर्पण गर- भइसक्यो समर्पण योग। यसप्रकार यज्ञको नाम आउँनासाथ हामी भूत-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, पंच-यज्ञ, विष्णुको निमित्त गरिने यज्ञ बनाइलिन्छौं र त्यसको क्रियामा स्वाहा भनेर खडा हुन्छौं। यदि श्रीकृष्णले स्पष्ट भन्नुभएको छैन भने हामी जे पनि गर्नुहुन्छ। यदि बताउनु भएको छ भने जति भनिएको छ, त्यति नै मान। तर हामी मात्र पाउँदैनौं। परम्परामा अनेकौं रीति-रिवाजहरू, पूजा-पद्धतिहरू हाम्रो मस्तिष्कमा भरिएका छन्। बाहिरी वस्तुहरूलाई कदाचित् हामी बेचेर भाग्न पनि सक्छौं, तर यी पूर्वाग्रहहरू मस्तिष्कमा बसेर हामीसँगै हिड्छन्। श्रीकृष्णका शब्दहरूलाई पनि हामी त्यसैको अनुरूप ढालेर ग्रहण गर्दछौं। गीता त अत्यन्त बोधगम्य, सरल संस्कृतमा छ। तपाई अन्वयार्थ नै लिनुभयो भने कहिले पनि शंका हुँदैन। यही प्रयास प्रस्तुत पुस्तकमा गरिएको छ।

युद्ध - यदि यज्ञ र कर्म- यही दुई प्रश्नलाई यथार्थ सम्झेमा युद्ध, वर्ण-व्यवस्था, वर्णसंकर, ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा संक्षेपमा सम्पूर्ण गीता नै तपाईले बुझ्नसक्नु हुन्छ। अर्जुन लड्न चाहदैनथे। उनले धनुष फ्याँकिर रथको पछिल्लो भागमा बसे, तर योगेश्वर श्रीकृष्णले एउटा मात्र कर्मको शिक्षा दिएर कर्मलाई दृढ मात्र गराउनुभएन, बरू अर्जुनलाई त्यस पथमा चल्न पनि लगाउनुभयो। युद्ध भयो- यसमा शंका छैन। गीताको पन्ध्र-बीस श्लोकहरू यस्तो छन्, जसमा पटक-पटक वहाँले भन्नुभयो, अर्जुन! तिमी युद्ध गर। तर एउटा पनि श्लोक यस्तो छैन, जुन बाहिरी मार-काटको समर्थन गर्दछ। (द्रष्टव्य छ- अध्याय २, ३, ११, १५ र १८) किनकि जुन कर्ममा जोड (बल) दिइयो त्यो थियो नियत कर्म, जो एकान्त-देशको सेवनबाट, चित्तलाई सबैतिरबाट समेटेर ध्यान गर्नाले हुन्छ। जब कर्मको यी स्वरूप हो, चित्त एकान्त र ध्यानमा लागेको छ भने युद्ध कस्तो? यदि गीतोक्त कल्याण युद्ध गर्नेको लागि नै हो भने तपाई गीताको पछि लाग्न छोड्दिनुस। तपाईको समक्ष अर्जुनजस्तो युद्धको कुनै परिस्थिति त छैन।

वस्तुतः तब पनि त्यो स्थिति विद्यमान थियो र आज पनि जस्ताको त्यस्तो नै छ। जब चित्तलाई सबैतिरबाट समेटेर तपाई हृदय-देशमा ध्यान गर्न लाग्नुहुन्छ तब काम, क्रोध, राग, द्वेषादि विकारहरू तपाईको चित्तलाई टिक्न दिंदैनन्। ती विकारहरूसँग संघर्ष गर्नु, तिनीहरूको अन्त्य गर्नु नै युद्ध हो। विश्वमा युद्ध भई नै रहन्छन्, तर त्यसबाट कल्याण छैन बरू विनाश नै हुन्छ। त्यसलाई शान्ति भनौं वा परिस्थिति। अरु कुनै शान्ति यस संसारमा पाइदैन। शान्ति तब मिल्दछ, जब यो आत्मा आफ्नै शाश्वतलाई पाउँछ। यही एकमात्र शान्ति हो, जसको पछि अशान्ति छैन। तर यो शान्ति साधनगम्य छ, त्यसैको लागि नियत कर्मको विधान हो।

वर्ण – त्यस कर्मलाई नै चार वर्णमा बाँडियो। चिन्तनमा त सबै लाग्दछन्; तर कसैले श्वास-प्रश्वासको गति रोक्नमा सक्षम हुन्छ, त कसैले आरम्भमा दुई घण्टा चिन्तनमा बसेर दस मिनट पनि आफ्नो पक्षमा पाउँदैन, यस्तो स्थिति हुने कल्पज्ञ साधक शूद्र श्रेणीको हो। त्यो आफ्नो स्वाभाविक क्षमता अनुसार परिचर्याबाट नै कर्म आरम्भ गरोस्। क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय र विप्र श्रेणीको क्षमता उसको स्वभावमा ढल्दै जानेछ। त्यो उन्नत हुँदै जानेछ। तर त्यो ब्रह्माण श्रेणी पनि दोषयुक्त छ; किनकि अहिले त्यो ब्रह्म अलग छ। ब्रह्ममा प्रवेश पाएपछि त्यो ब्राह्मण पनि रहँदैन। वर्णको अर्थ हो आकृति। यो शरीर तपाईको आकृति होइन। तपाईको आकृति त्यस्तै छ, जस्तो तपाईको वृत्ति छ? श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ- अर्जुन! पुरुष श्रद्धामय छ, यसैले कहीं न कहीं उसको श्रद्धा अवश्य होला। जस्तो श्रद्धाभएको त्यो पुरुष छ, स्वयं पनि उही हो। जस्तो वृत्ति, त्यस्तै पुरुष। वर्ण कर्मको क्षमताको आन्तरिक मापदण्ड हो; तर मानिसहरूले नियत कर्मलाई छोडेर बाहरी समाजमा जन्मको आधारमा जातिहरूलाई वर्ण मानेर उनको जीविका निश्चित गरे, जो एक सामाजिक व्यवस्था मात्र थियो। उनीहरू कर्मको यथार्थ रूपलाई बग्याउछन्, जसबाट उनको ढोंगपूर्ण सामाजिक मर्यादा र जीविकामा बाधा नपरोस्। कालान्तरमा वर्णको निर्धारण मात्र जन्मबाट हुन लाग्यो। यस्तो केही पनि होइन। श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि चार वर्णहरूको सृष्टि मैले गरें। के भारतको बाहिर सृष्टि छैन? अन्यत्र यी जातिहरूको अस्तित्व नै छैन। भारतमा नै यसको अन्तर्गत लाखौं जाति-उपजातिहरू छन्। श्रीकृष्णले के

मानिसलाई बाँड्नुभएको थियो? होइन, '**गुणकर्म विभागशः**'– गुणको आधारमा कर्मलाई बाँडियो। '**कर्माणि प्रविभक्तानि**'– कर्मलाई बाँडियो। यदि कर्म बुझियो भने वर्ण पनि बुझिन्छ र वर्ण बुझेपछि वर्णसङ्करको यथार्थ रूप पनि तपाई बुझ्नु हुनेछ।

वर्णसङ्कर – यस कर्म–पथबाट च्युत हुनु नै वर्णसङ्कर हो। आत्माको शुद्ध वर्ण हो परमात्मा। त्यसमा प्रवेश दिलाउने कर्मबाट हटेर प्रकृतिमा मिश्रित हुने नै वर्णसङ्कर हो। श्रीकृष्णले स्पष्ट गर्नुभयो कि कर्म नगरीकन त्यस स्वरूपलाई कसैले पनि पाउदैन र प्राप्तिवाला महापुरुषलाई कर्म गर्नाले न कुनै लाभ छ न छोडेमा कुनै हानि। तापनि लोक–संग्रहको लागि ऊ कर्ममा अग्रसर हुन्छ। ती महापुरुषहरू जस्तै मलाई पनि प्राप्त हुने योग्य कुनै वस्तु अप्राप्त छैन, तापनि म पछिका व्यक्तिहरूको हितको इच्छाबाट कर्ममा नै अग्रसर छु। यदि गर्दिन भने सबै वर्णसङ्कर हुनजान्छन्। स्त्रीहरूको दूषित हुनाले वर्णसङ्कर भएको त सुनियो; तर यहाँ श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ कि स्वरूपस्थ महापुरुष कर्म नगरेमा वर्णसङ्कर हुन्छ। त्यस महापुरुषको नकुल गरेर आराधना बन्द गरेमा ऊ प्रकृतिमा भौंतारिदै रहने छ, वर्णसङ्कर हुनेछ। किनकि यस कर्मलाई गरेर त्यस परम नैष्कर्म्यको स्थितिलाई आफ्नो शुद्ध वर्ण परमात्मालाई पाउन सकिन्छ।

ज्ञानयोग तथा कर्मयोग – कर्म एउटै छ– नियत कर्म, आराधना; तर त्यसलाई गर्ने दुई दृष्टिकोणहरू छन्। आफ्नो शक्तिलाई सम्झेर, हानि–लाभको निर्णय लिएर यस कर्मलाई गर्नु 'ज्ञानयोग' हो। यस मार्गको साधक जान्दछ– "आज मेरो यो स्थिति छ, अगाडि यस भूमिकामा परिणत हुनेछु। फेरि आफ्नै स्वरूपलाई प्राप्त गर्नेछु।" यस भावनालाई लिएर कर्ममा प्रवृत्त हुन्छ। जो आफ्नो स्थितिको ज्ञान राखेर हिड्छ यसैलाई ज्ञानमार्गी भनिन्छ। समर्पणको साथ त्यही कर्ममा प्रवृत्त हुनु, हानि–लाभको निर्णय इष्टमा सुम्पेर हिड्नु निष्काम कर्मयोग, भक्तिमार्ग हो। दुबैका प्रेरक सद्‌गुरु हुन्। एउटै महापुरुषबाट शिक्षा लिएर एउटा स्वावलम्बी भएर त्यस कर्ममा प्रवृत्त हुन्छ र दोस्रो वहाँबाट शिक्षा लिएर, वहाँमा निर्भर भएर प्रवृत्त हुन्छ। यति मात्र फरक छ। यसैले योगेश्वर श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! सांख्यद्वारा जुन परमसत्य प्राप्त हुन्छ, त्यही परमसत्य निष्काम कर्मयोगद्वारा पनि प्राप्त हुन्छ। जो दुबैलाई एउटै देख्छ, उसले नै यथार्थ देख्छ।

दुबैलाई क्रिया बताउने तत्वदर्शी एक छ, क्रिया पनि एउटै छ– आराधना। कामनाहरूको त्याग दुबै गर्दछन् र परिणाम पनि एउटै छ। मात्र कर्मगर्ने दृष्टिकोण दुई छन्।

एक परमात्मा - नियत कर्म मन र इन्द्रियहरूको एउटा निर्धारित अन्तःक्रिया हो। जब कर्मको यही स्वरूप हो भने बाहिर मन्दिर, मस्जिद, चर्च बनाएर देवी–देवताहरूको मूर्ति वा प्रतीक बनाएर पूज्नु कहाँसम्म संगत हो? भारतमा हिन्दू भनिने समाज (वस्तुतः ती सनातनधर्मी हुन्। उनीहरूका पूर्वजले परमसत्यको शोध गरेर देश–विदेशमा त्यसको प्रचार गरे। त्यस पथमा हिड्ने विश्वमा जहाँ भए पनि ती सबै सनातनधर्मी हुन्। यति गौरवशाली हिन्दू समाज) कामनाबाट विवश भएर विविध भ्रान्तिहरूमा परे। श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– अर्जुन! देवताहरूको स्थानमा देवता नामको कुनै शक्ति छैन। जहाँ कहीं पनि मानिसको श्रद्धा हुन्छ, त्यसको आडमा उभिएर म नै फल दिन्छु, त्यसको श्रद्धालाई पुरा गर्दछु किनकि म नै सर्वत्र छु। तर उसको त्यो पूजन अविधिपूर्वक छ, उनको फल नाशवान् छ। कामनाबाट जसको ज्ञान अपहरण भएको छ, ती मूढबुद्धि नै अरु देवताहरूलाई पूज्दछ। सात्विक मानिसहरू देवताहरूलाई पूज्दछन्, राजसी यक्ष–राक्षसहरूलाई तथा तामसी भूत–प्रेतहरूलाई पूजदछन्। घोर तप गर्दछन्। तर अर्जुन! उनीहरू शरीरमा स्थित भूतसमुदाय र अन्तःकरणमा स्थित म परमात्मालाई कृश गर्दछन्, न कि पूज्दछन्। उनलाई तिमी निश्चय नै आसुरी स्वभावसँग संयुक्त जान। यसभन्दा बढी श्रीकृष्ण के भन्नुहुन्छ? वहाँले स्पष्ट भन्नुभयो– अर्जुन! ईश्वर सबै प्राणीको हृदयमा रहन्छ। मात्र उसैको शरणमा जाऊ। पूजाको स्थान हृदयमा छ, बाहिर होइन। तापनि मानिस ढुङ्गा, पानी, मन्दिर–मस्जिद, देवी–देवताहरूको पछि लागेकै हुन्छ। उनीहरूको साथमा श्रीकृष्णको पनि एउटा प्रतिमा बढाईदिन्छन्। श्रीकृष्णकै साधनामा जोड दिने तथा जीवनभरि मूर्ति–पूजाको खण्डन गर्ने बुद्धको पनि मूर्ति उनका अनुयायीहरूले बनाए र पूजा गर्न लागे, जबकि महात्मा बुद्धले भन्नुभएको थियो– आनन्द! तथागतको शरीर–पूजामा समय नष्ट नगर्नु।

मन्दिर, मस्जिद, चर्च, तीर्थ, मूर्तिहरू तथा स्मारकहरूबाट पूर्ववर्ती महापुरुषहरूको स्मृति संरक्षित पारिन्छ, जसबाट उनीको उपलब्धिको स्मरण

हुँदै रहोस्। महापुरुषमा महिला–पुरुष सबै हुँदै आएका छन्। जनककी कन्या 'सीता' पूर्वजन्ममा एक ब्राह्मण–कन्या थिइन्। आफ्नो पिताको प्रेरणाबाट परब्रह्मलाई पाउन उनले तपस्या गरिन्; तर सफल हुन सकिनन्। अर्को जन्ममा उनले रामलाई प्राप्त गरिन् र चिन्मय, अविनाशी आदिशक्तिको रूपमा प्रतिष्ठित भइन्। ठीक यसैप्रकार राजकुलमा उत्पन्न मीरामा परमात्माको भक्तिको प्रस्फुटन भयो। सबैकुरा छोडेर उनी भगवान्‌को चिन्तनमा लागिन्। विभिन्न बाधाहरूलाई पार गर्दै सफल भइन्। यिनको स्मृति सम्झनको लागि मन्दिर बन्यो, स्मारक बन्यो; जसबाट समाज उनको उपदेशहरूबाट अनुप्राणित हुन सकोस्। मीरा, सीता अथवा यस पक्षको शोधकर्त्ता प्रत्येक महापुरुष हाम्रो आदर्श हुन्। हामीले उनीहरूको पदचिन्हलाई अनुसरण गर्नु पर्छ; तर यो भन्दा ठूलो भूल के हुन्छ, यदि हामी मात्र उनको पाऊमा फूल चढाएर, चन्दन लगाएर आफ्नो कर्त्तव्यको इतिश्री मानि हाल्छौ।

प्रायः जो जसको आदर्श हुन्छ, त्यसको मूर्ति, चित्र, खराऊ, स्थान अथवा त्यससँग सान्दर्भिक केहि पनि देख्दा–सुन्दा मनमा श्रद्धा उत्पन्न हुन्छ। यो उचित नै हो। हामी पनि आफ्नो गुरुदेव भगवान्‌को चित्रलाई फोहोरमा फ्याँक्न सक्दैनौं; किनकि वहाँ हाम्रो आदर्श हुनुहुन्छ। वहाँकै प्रेरणा तथा कथनानुसार हामीले चल्नु छ। जुन स्वरूप वहाँको हो, क्रमशः त्यसको प्राप्ति हाम्रो पनि अभीष्ट हो र त्यही वहाँको यथार्थ पूजा पनि हो। यहाँसम्म त ठीक छ कि जुन वस्तुतः आदर्श हुन्, त्यसको निरादर नगरौं; तर त्यसमा पत्र–पुष्प चढाउनुलाई नै भक्ति मान्दछ, त्यतिलाई नै कल्याण–साधन मानेमा हामी लक्ष्यभन्दा धेरै टाढा अलमलिन सक्छौं।

आफ्नो आदर्शको उपदेशहरूलाई हृदयंगम गर्नु तथा त्यस अनुसार चल्ने प्रेरणा ग्रहण गर्नको लागि नै स्मारकको उपयोग हो, त्यसलाई आश्रम, मन्दिर, मस्जिद, चर्च, मठ, विहार, गुरुद्वारा वा कुनै पनि नाम दिनुस्। तर ती केन्द्रहरूको सम्बन्ध धर्मसँग छ। जसको प्रतिमा छ, उसले के गरे र के पायो? कस्तो तपस्या गऱ्यो? कसरी प्राप्त गऱ्यो? मात्र यतिनै सिक्नको लागि हामी त्यहाँ पुग्छौं र पुग्नु पनि पर्छ; तर यदि यी स्थानहरूमा महापुरुषहरूको पदचिन्हको बारेमा भनिएन, गरेर सिकाइएन, कल्याणको व्यवस्था मिल्दैन भने त्यो स्थान गलत हो। त्यहाँ

तपाईलाई मात्र रुढि मिल्नेछ। त्यहाँ गएमा तपाईको हानि हुनेछ। व्यक्तिगत रूपबाट घर-घर, गली-गली गएर उपदेश पुऱ्याउनुभन्दा सामूहिक उपदेश केन्द्रहरूको रूपमा यी धार्मिक संस्थानहरूको स्थापना गरिएको थियो; तर कालान्तरमा यी प्रेरणास्थलहरूबाटै मूर्ति-पूजा तथा रुढिहरूले धर्मको स्थान ग्रहण गरे। यहींबाट भ्रम उत्पन्न भयो।

ग्रन्थ - यसैप्रकार पुस्तकको अध्ययन आवश्यक छ, जसबाट तपाई त्यस निर्दिष्ट क्रियालाई बुझ्न सक्नु हुन्छ, जसलाई योगेश्वर श्रीकृष्णले नियत कर्म भन्नुभएको छ र जब राम्ररी बुझिन्छ तब गर्न चाँडै लागौं। विस्मृत हुन लागे भने पुनः अध्ययन गरौं। यस्तो होइन कि पुस्तकलाई हात जोडेर अक्षेता, चन्दन छर्केर राखौं होइन। पुस्तक मार्ग-निर्देशक चिह्न हो, जसले पूर्तिपर्यन्त साथ दिन्छ। हेर्दै अगाडी बढ्दै जाऊ- आफ्नो गन्तव्यतिर। जब इष्टलाई हृदयबाट समात्छौं तब त्यो इष्ट नै पुस्तक बन्ने छ। अतः स्मृति सँगाल्नु हानिकारक होइन; तर यी स्मृति-चिन्हहरूको पूजाबाट नै सन्तुष्ट हुनु हानिकारक हो।

धर्म - (अध्याय २/१६-२९) योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार- असत् वस्तुको अस्तित्व छैन र सत्को कहिले अभाव छैन। परमात्मा नै सत्य हो, शाश्वत हो, अजर, अमर, अपरिवर्तनशील र सनातन हो; तर त्यो परमात्मा अचिन्त्य र अगोचर छ, चित्तको तरंगबाट पर छ। अब चित्तको निरोध कसरी गर्ने? चित्तको निरोध गरेर त्यस परमात्मालाई पाउने विधि-विशेषको नाम कर्म हो। यस कर्मलाई कार्यरूप दिनु नै धर्म हो, दायित्व हो।

गीता (अध्याय २/४०) मा छ कि अर्जुन! यस कर्मयोगमा आरम्भको नाश हुदैन। यस कर्मरूपी धर्मको थारै पनि साधन जन्म-मृत्युको भयबाट उद्धार गर्ने हुन्छ अर्थात् यस कर्मलाई कार्यरूप दिनु नै धर्म हो।

यस नियत कर्म (साधन-पथ)लाई साधकको स्वभावमा उपलब्ध क्षमताको अनुसार चार भागमा बाँडिएका छन्। कर्मलाई सम्झेर मानिस जहिलेदेखि आरम्भ गर्दछ, त्यस आरम्भिक अवस्थामा त्यो शूद्र छ। क्रमशः विधिलाई जानेमा त्यो वैश्य हुन्छ। प्रकृतिको सङ्घर्षलाई खप्ने क्षमता र शौर्य आएमा त्यही व्यक्ति क्षत्रिय र ब्रह्मको तद्रूप हुने क्षमता, ज्ञान (वास्तविक जानकारी), विज्ञान (ईश्वरीय

वाणी प्राप्त हुनु), त्यस अस्तित्वमा निर्भर रहने क्षमता- यस्ता योग्यताहरू आएपछि नै त्यो ब्राह्मण हो। यसैले योगेश्वर श्रीकृष्ण (गीता, अध्याय १८/४६-४७)मा भन्नुहुन्छ कि स्वभावमा पाइने क्षमताको अनुसार कर्ममा लाग्नु स्वधर्म हो। हलुङ्गो भए पनि स्वभावबाट उपलब्ध स्वधर्म श्रेयतर हो र क्षमता अर्जित नगरीकन नै अर्काको उन्नत कर्मको परिपालन पनि हानिकारक हो। स्वधर्ममा मर्नु पनि श्रेयस्कर हो; किनकि लुगा फेर्नाले त्यो फेर्ने व्यक्तिमा परिवर्तन हुँदैन। त्यसको साधनको क्रम त्यहींबाट पुनः आरम्भ हुन्छ, जहाँबाट समाप्त भएको थियो। सोपानशः हिडेर उसले परमसिद्धि अविनाशी पद प्राप्त गर्ने छ।

यसैमा पुनः जोड (बल) दिनुहुन्छ कि जुन परमात्माबाट सबै प्राणिहरूको उत्पत्ति भएको छ, जो सर्वत्र व्याप्त छ, स्वभावबाट उत्पन्न भएको क्षमताको अनुसार त्यसलाई राम्ररी पूजेर मानवले परमसिद्धि प्राप्त गर्दछ। अर्थात् निश्चित विधिबाट एक परमात्माको चिन्तन नै धर्म हो।

धर्ममा प्रवेश कसलाई छ? यसलाई गर्ने अधिकार कसलाई छ? यसलाई स्पष्ट गर्दै योगेश्वरले बताउनुभयो- "अर्जुन! अत्यन्त दुराचारी पनि यदि अनन्य भावले मलाई भाज्दछ (अनन्य अर्थात् अन्य न), मलाई छोडेर अरु कसैलाई नभजेर मलाई मात्र भजेमा '**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**'- ऊ चाँडै धर्मात्मा हुन्छ, उसको आत्मा धर्मबाट संयुक्त हुन्छ।" अतः श्रीकृष्णको अनुसार धर्मात्मा त्यो हो, जसले एक परमात्मामा लागि अनन्य निष्ठाले लागको छ। धर्मात्मा त्यो हो, जसले एउटा परमात्माको प्राप्तिको लागि नियत कर्मको आचरण गर्दछ। धर्मात्मा त्यो हो, जो स्वभावबाट नियत क्षमता अनुसार परमात्माको शोधमा संलग्न छ।

अन्त्यमा भन्नुहुन्छ कि '**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**'- अर्जुन! सबैधर्महरूको चिन्तालाई छोडेर मात्र मेरो शरणमा आऊ। अतः एक परमात्माप्रति समर्पित व्यक्ति नै धार्मिक हो। एउटा परमात्मामा श्रद्धा स्थिर गर्नु नै धर्म हो। त्यस एउटा परमात्माको प्राप्तिको निश्चित क्रिया गर्नु धर्म हो। यस स्थितिलाई प्राप्त महापुरुष, आत्मतृप्त महापुरुषहरूको सिद्धान्त नै सृष्टिमा एउटामात्र धर्म हो। उनको शरणमा जानु पर्छ कि उनीहरूले कसरी परमात्मालाई प्राप्त गरे? कुन मार्गबाट हिडें? त्यो मार्ग सधैं एउटै छ, त्यही मार्गबाट हिड्नु धर्म हो।

धर्म मानिसको आचरणको वस्तु हो। त्यो आचरण मात्र एउटै छ– **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।'** (२/४१) यस कर्मयोगमा निश्चयात्मक क्रिया एउटै छ– इन्द्रियहरूको चेष्टा र मनको व्यापारलाई संयमित गरेर आत्मामा (परात्पर ब्रह्ममा) प्रवाहित गर्नु (४/२७)।

धर्मान्तरण - सनातनधर्मको आदिदेश भारतमा कुरीतिहरू यहाँसम्म फैलिए कि मुसलमानहरूको आक्रमणको समय उनीहरूको धर्म आक्रामकहरूद्वारा एक गाँस भात र दुई घुड्का पानी पिउनाले नष्ट हुन लाग्यो। धर्मभ्रष्ट घोषित हजारौं हिंदूहरूले आत्महत्या गरे। धर्मको लागि उनीहरू मर्न जान्दथे, तर धर्मलाई बुझ्न सकेन्। धर्म त लज्जावतीको बिरुवा जस्तै भयो। लज्जावती छुने बितिकै खुम्चिन्छ र पछि पुनः पहिले जस्तै हुन्छ। उनको सनातन धर्म त यस्तो खुम्चियो कि कहिले पनि कोपिला आएन। जुन सनातन आत्मालाई भौतिक वस्तुहरूले स्पर्श पनि गर्न पाउन सक्दैन भने त्यही कहीं छुनु–खानुले नष्ट हुन्छ? तपाई तरवारबाट मर्नुस्, धर्म त छुने बितिकै मऱ्यो? के वास्तवमा धर्म नष्ट भएको थियो? कहिले पनि होइन, धर्मको नाममा कुनै कुरीति चलि रहेको थियो त्यो नष्ट भयो। अलाउद्दीन खिलजीको शासनकालमा बयानाको काजी मुगीसुद्दीनले व्यवस्थो गरे कि, यदि कोई मुसलमान थुक्न चाहन्छ त हिन्दूहरूले आफ्नो मुख खोलिदिनु पर्छ। त्यो हिन्दू दीनदार हुनेछ, किनकि उससँग कुनै धर्म नै छैन। खरब के भन्यो उसले? मुखमा थुक्नाले एउटै मुसलमान बन्दथ्यो, कुवाँमा थुक्नाले त हजारौं बन्न थे। वस्तुतः त्यो अत्याचारी थियो वा त्यस समयको हिन्दू समाज?

जसले यस प्रकारले धर्म–परिवर्तन गऱ्यो, के उसले धर्मलाई पायो? हिन्दूबाट मुसलमान बन्नु वा एकप्रकारको रहन–सहनबाट अर्को रहन–सहनमा प्रवेश गर्नु धर्म त होइन। यसप्रकार योजनाबद्ध षड्यंत्रको शिकंजा बनाएर जसले उनीहरूलाई बदल्यो, के उनीहरू धर्मात्मा थिए? उनीहरू त अझै ठूलो कुरीतिहरूको शिकार थिए। हिन्दू त्यसैमा गएर अल्झिए। अविकसित र गुमराह (बाटो विर्सने) कबीलाहरूलाई सभ्य बनाउनको लागि मुहम्मदले विवाह, तलक, वसीयत, लेन–देन, सूद (ब्याज), गवाही, कसम, प्रायश्चित, रोजी–रोटी, खान–पान, रहन–सहन इत्यादि विषयमा एउटा सामाजिक व्यवस्था दियो तथा मूर्तिपूजा,

शिर्क, व्यभिचार, चोरी, रक्सी, जूआ, आमा-हजुरआमा इत्यादिसँग विवाहमा प्रतिबन्ध लगाये। समलैंगिक तथा रजस्वला मैथुनको निषेध गरेर, रोजाका (उपासनाका) दिनहरूमा पनि यसको लागि छूट दियो, जन्नत (स्वर्ग)मा धेरै समवयस्क, अनछुई हूर (सुन्दरी) र किशोर बालकहरूको प्रलोभन दियो। यो कुनै धर्म थिएन, एक प्रकारको सामाजिक व्यवस्था थियो। यस्तो केही भनेर वहाँले वासनामा डुबेको समाजलाई त्यताबाट घुमाएर आफूतिर उन्मुख गरे। स्त्रीहरूलाई जन्नत (स्वर्ग)मा कति पुरुषहरू मिल्नेछन्? यसमा वहाँले सोच्नु भएन। यो उनको दोष होइन, दोष त्यस देश-काल र परिस्थितिको थियो, जसमा स्त्रीहरूको आकाँक्षाहरूमा कसैको ध्यान जाँदैनथ्यो।

मुहम्मद साहबले जसलाई धर्म भने, उता कसैको ध्यान नै छैन। वहाँले भन्नुभएको थियो- जुन पुरुषको एउटा पनि श्वास त्यस ख़ुदा (ईश्वर)को नाउँ नलिइकन खाली जान्छ, त्यससँग खुदा कयामतमा (मरेपछि) त्यस्तै नै सोद्धछ जस्तै कुनै पापीसँग पापको बदलामा सोधिन्छ। जसको सजाय छ- सधैं-सधैंको लागि दोज़ख (नर्क)। कति सच्चा मुसलमानहरू छन्, जसको एउटा पनि श्वास रीत्तो जाँदैन? करोडौंमा कदाचित् नै कोही होला। बाँकी त सबैका श्वास रीत्तो नै जान्छन्, जसको सजाय त्यही हो जुन पापीहरूको लागि हो। भन्ने आवश्यकता छैन 'दोज़ख' (नर्क)। मुहम्मदले व्यवस्था दियो कि जो कसैलाई सताउँदैन, पशुहरूलाई पनि कुनै दुःख दिंदैन, उसले आकाशबाट खुदा (ईश्वर)को आवाज सुन्छ। यो सबै स्थानहरूको लागि थियो; तर पछिका व्यक्तिहरूले एउटा बाटो निकाले कि मक्कामा एउटा मस्जिद छ, जसमा हरियो घाँस काट्नु हुँदैन, त्यस मस्जिदमा कुनै पशुहरूलाई मार्नु हुदैन, कसैलाई दुःख दिनु हुँदैन र घुम्दै-फिर्दै ऊ त्यही दायरा (घेर)मा खडा भयो। के खुदाको आवाज सुन्नुभन्दा पहिले मुहम्मदले कुनै मस्जिद बनाएको थियो? कहिलै कुनै मस्जिदमा कोही आयत ओर्ले? यो मस्जिद त उनको स्थली रहेको छ, जसमा उनको यादगार (सम्झाना) सुरक्षित छ। मुहम्मदको आशयलाई तबरेजले जानेको थियो, मंसुरले जानेको थियो, इकबालले जानेको थियो; तर उनीहरू मज़हबी मानिसहरूको शिकार बने, उनलाई विभिन्न यातनाहरू दिइयो। सुकरातलाई विष खुवाइयो; किनकि उनले मानिसहरूलाई नास्तिक बनाइरहेको थियो। यस्तै आरोप ईसामा

पनि लगाइयो, उनलाई फाँसी दिइयो; किनकि वहाँ विश्राम समयमा पनि कामे गर्थे, अन्धाहरूलाई दृष्टि गर्दथे। यस्तो भारतमा पनि छ। जब कोही प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष सत्यतिर इंगित गर्दछ, तब यी मन्दिर-मस्जिद, मठ-सम्प्रदाय र तीर्थहरूबाट जसको जीविका चल्दछ हाय-हाय गर्न लाग्दछन्, अधर्म-अधर्म कराउन थाल्दछन्। कसैलाई त यसबाट लाखौं-करोड़ौंको आय हुन्छ, भने कसैको दाल-रोटी मात्र चल्दछ। वास्तविकताको प्रचारबाट उनको जीविकालाई खतरा देखापर्छ। उनीहरूले सत्यलाई फैलिन दिंदैनन् र न दिनसक्छन्। यसको अतिरिक्त उनको विरोधको कुनै कारण नै छैन। सुदूरकालमा यो स्मृति किन सुरक्षित गरिएको थियो, यसको उनलाई आभास नै छैन।

गृहस्थहरूको अधिकार- प्रायः मानिस सोध्दछन् कि जब कर्मको यही स्वरूप हो, जसमा एकान्त देश (स्थान)को सेवन, इन्द्रिय-संयम, निरन्तर चिन्तन र ध्यान गर्नु हो भने गीता गृहस्थको लागि अनुपयोगी हो। तब त गीता मात्र साधुहरूको लागि हो। तर यस्तो होइन। गीता मूलतः उसको लागि हो, जो यस पथको पथिक हो र अंशतः उसको लागि पनि हो, जो यस पथको पथिक बन्न चाहन्छ। गीता मानव मात्रको लागि समान आशय राख्दछ। सद्गृहस्थहरूको लागि त यसको विशेष उपयोग छ; किनकि त्यहींबाट कर्म आरम्भ हुन्छ।

श्रीकृष्णले भन्नुभएको थियो अर्जुन! यस निष्काम कर्मयोगमा आरम्भको पनि नाश हुँदैन (यसको थोरैमात्र साधन जन्म-मरणको महान् भयबाट उद्धार गरेर नै छोड्दछ।)। तपाई नै भन्नुस्- थोरै साधन कसले गर्दछ? गृहस्थ अथवा विरक्त? गृहस्थ नै यसको लागि थोरै समय दिन्छ। यो उसैको लागि हो। अध्याय ४/३६मा भन्नुभयो- अर्जुन! यदि तिमी सम्पूर्ण पापीहरूभन्दा पनि बढी पाप गर्नेवाला छौं, तापनि ज्ञानरूपी डुङ्गाबाट निःसन्देह पार हुनेछौं। बढी पापी को छ? जो अनवरत लागेको छ त्यो अथवा जो अब लागन चाहन्छ? अतः सद्गृहस्थ आश्रमबाट नै कर्मको आरम्भ छ। अध्याय ६/३७-४५मा अर्जुनले सोधे- भगवन्! शिथिल प्रयत्नवाला श्रद्धावान् पुरुष परमगतिलाई नपाएर कुन दुर्गतिलाई प्राप्त हुन्छ? श्रीकृष्णले भन्नुभयो (अध्याय ६/४०-४५)- अर्जुन! योगबाट चलायमान भएको शिथिल प्रयत्नवाला पुरुषको पनि कहिलै विनाश हुँदैन। त्यो योगभ्रष्ट श्रीमान् ('शुचीनाम्'- शुद्ध (सत्य) आचरणवाला नै श्रीमान् हो)को

घर जन्म लिएर योगी–कुलमा प्रवेश पाउँछ, साधनतिर आकर्षित हुन्छ र अनेकौं जन्ममा हिडेर त्यहीं पुग्दछ, जसको नाम परमगति अर्थात् परमधाम हो। यो शिथिल प्रयत्न कसले गर्दछ? योगभ्रष्ट भएर त्यो कहाँ जन्म लिन्छ? त्यो गृहस्थ नै त बन्यो। त्यहींबाट त्यो साधनोन्मुख हुन्छ। अध्याय ९/३०मा वहाँले भन्नुभयो कि अत्यन्त दुराचारी पनि यदि अनन्यभावबाट मलाई भज्न लाग्यो भने त्यो साधु नै हो; किनकि त्यो निश्चयका साथ सही बाटोमा लागिसकेको छ। अत्यन्त दुराचारी को हुनेछ? जो भजनमा प्रवृत्त भएको छ त्यो अथवा जसले अहिले आरम्भ नै गरेको छैन? अध्याय ९/३२मा भन्नुभयो– स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनिवाला नै किन नहोस्, मेरो आश्रित भएर साधन गर्नाले परमगति पाउँछन्। हिन्दु होस्, ईसाई होस्, मुसलमान होस्; श्रीकृष्णले यस्तो केही भन्नुभएन। अत्यन्त दुराचारी पातकी नै किन नहोस् मेरो शरण भएर परमगति प्राप्त गर्दछन्। अतः गीता मानव मात्रको लागि हो। सद्गृहस्थ आश्रमबाट नै यस कर्मको आरम्भ हो। क्रमशः त्यही सद्गृहस्थ योगी बन्दछ, पूर्णत्यागी हुन्छ र तत्वको दिग्दर्शन गरेर परममा प्रवेश पाउँछ, जसलाई श्रीकृष्णले भन्नुभयो कि ज्ञानी मेरो स्वरूप हो।

स्त्री – गीतानुसार शरीर एउटा वस्त्र हो। जसरी पुरानो वस्त्र छाडेर नया वस्त्र धारण गरिन्छ त्यस्तै भुतादिका स्वामी आत्मा यस शरीरलाई त्यागेर अर्को शरीर (वस्त्र) धारण गर्दछ। तपाई पिण्डरूपमा स्त्री हुनुहुन्छ वा पुरुष, यो वस्त्रको आकार हो।

संसारमा पुरुष दुई प्रकारका छन्– क्षर र अक्षर। समस्त प्राणीको शरीर क्षर पुरुष अथवा परिवर्तनशील पुरुष हो। मनसहित इन्द्रियहरू जब कुटस्थ हुन्छ अनि अक्षर पुरुष हुन्छ। उसको कहिले विनाश हुदैन। यी भजनको अवस्था हो।

नारीको लागि कहिले सम्मान त कहिले अपमानको समाजमा भावना बनी रहन्छ तर गीता को अपौरूषेय वाणीमा यो छ कि शूद्र (अल्पज्ञ), वैश्य (विधिप्राप्त) नारी–पुरुष कोही किन न होस, मेरो शरणमा परमगति पाउछन्। अतः यस कल्याण मार्गमा नारीको त्यही स्थान छ जो एउटा पुरुषको छ।

भौतिक समृद्धि – गीता परमकल्याण दिनुको साथै मानिसहरूको लागि आवश्यक भौतिक वस्तुको पनि विधान गर्दछ। अध्याय ९/२०–२२मा योगेश्वर श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– धेरै मानिस निर्धारित विधिबाट मलाई पूजेर त्यसको सट्टामा स्वर्गको कामना गर्दछन्। उनीहरूलाई विशाल स्वर्ग–लोक मिल्दछ, म नै दिन्छु। जे माँग्दछौ, त्यो मबाट मिल्नेछ; तर उपभोगको पश्चात् समाप्त हुन जानेछ, किनकि स्वर्गका भोग पनि नश्वर हुन्। उसले पुनः जन्म लिनै पर्दछ। हो, मबाट सम्बन्धित भएको हुनाले ऊ नष्ट हुँदैन; किनकि म कल्याणस्वरूप हुँ। म उसलाई भोग दिन्छु र विस्तारै–विस्तारै निवृत्त गराएर पुनः कल्याणमा लगाइदिन्छु।

क्षेत्र – जुन परमात्माको श्रीमुखको वाणी यो गीता हो वहाँले स्वयं परिचय दिएको छ, '**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**'– अर्जुन! यो शरीर नै क्षेत्र (खेत) हो, जसमा रोपिएको राम्रो र नराम्रो कर्मबीज संस्काररूपमा संग्रहित हुन्छ तथा कालान्तरमा सुख–दुःखको रूप लिएर भोगको रूपमा मिल्छ। आसुरी सम्पद् अधम योनिहरूमा लैजानको लागि हो। यसको विपरीत दैवी सम्पद्ले परमात्मामा प्रवेश गराउँछ। सद्गुरुको सान्निध्यबाट यिनीहरूबाट निर्णयक युद्धको आरम्भ हुन्छ। यही नै क्षेत्र–क्षेत्रज्ञको लडाई हो।

टीकाकारहरू भन्दछन्– एउटा कुरुक्षेत्र बाहिर छ र अर्को मनको भित्र छ, गीताको एक अर्थ बाहिरी हो अर्को भित्री; तर यस्तो केही होइन। वक्ता एउटा कुरा भन्दछ तर श्रोता आफ्नो बुद्धिको अनुरूप नै त्यसलाई समात्न पाउँछन्। यसैले अनेकौं अर्थ प्रतीत हुन्छन्। साधन–पथमा क्रमशः हिडेर जुनसुकै व्यक्ति पनि श्रीकृष्णको स्तरमा खडा भएपछि जुन दृश्य श्रीकृष्णको सामुन्ने थियो, त्यही उसको सामुन्ने पनि हुनेछ। त्यही महापुरुषको वहाँको मनोगत भावलाई, गीताको सङ्केत सम्झन सक्छ, सम्झाउन सक्छ।

गीताके एउटा पनि श्लोक बाहिरको चित्रण गर्दैन। खानु, लाउनु, रहनु तपाई जान्नु नै हुन्छ। रहन–सहन, मान्यता, लोकरीति–नीतिमा देश–काल र परिस्थितिको अनुकूल परिवर्तन प्रकृतिको देन हो। यसमा श्रीकृष्णले तपाईलाई कस्तो व्यवस्था दिने? कहीं कन्याहरूको बाहुल्य छ, बहु–विवाह हुन्छ, त कहीं उनीहरूको संख्या कम छ। कहीं अनेकौं दाजू–भाईहरूको बिच एउटै स्वास्नी

बस्छिन्- यसमा श्रीकृष्ण कस्तो व्यवस्था दिने? द्वितीय विश्वयुद्धपछि पश्चात् जापानमा जनसंख्याको कमी एउटा समस्या बनेको थियो, त्यसबेला तीसवटा बच्चाहरू जन्मदिने महिलालाई 'मदरलैण्ड' (राष्ट्रकी आमा)को उपाधिले सम्मानित गरिएको थियो। वैदिककालीन भारतमा पहिले दशवटा बच्चा जन्माउने विधान थियो, अब 'एउटा वा दुईवटा बच्चा, हुन्छ घरमा अच्छा'को नारा लागिरहेको छ। केहि गरी त्यो पनि रहेन भने देशको लागि चिन्ताको विषय होइन, समस्याको हल हुन्छ। श्रीकृष्णले यसमा कस्तो व्यवस्था दिने?

श्रेय - काम, क्रोध, लोभ, मोहको स्कूल कहीं खुलेको छैन तापनि यी विकारहरूमा केटाहरू ठूलो तथा बुजुर्गभन्दा केहीबढी प्रवीण निस्कन्छन्। यसमा श्रीकृष्णले के शिक्षा दिने? त्यो सबै प्रकृतिद्वारा स्वचालित छन्। कहिले वेद पढाइन्थ्यो, धनुर्वेद-गदायुद्ध सिकाइन्थ्यो, आज यिनीहरूलाई कसले सिकाउँछ? आज त पिस्तोल चलाइरहेछन्। स्वाचलित यन्त्रहरूको योग हो। कहिले रथ-संचालन सिक्नु पर्दथ्यो, घोडाको लिदी फ्याँक्नु पर्दथ्यो, आज गाडीहरूको तेल सफा गरिन्छ। यसमा श्रीकृष्ण के बताउने? घोडालाई यसरी नमल भन्ने। बाहिर तपाईलाई कस्तो व्यवस्था दिने? पहिला स्वाहा भनेर वर्षा हुन्थ्यो, आज इच्छित फसल लिन लागेका छन्। योगेश्वर भन्नुहुन्छ कि प्रकृतिबाट उत्पन्न गुणहरूद्वारा परवश भएर मानिस परिस्थितिको अनुसार बदलिरहन्छ। गुण स्वतः उनलाई ढाल्न (तयार पार्न) सक्षम छन्। भौतिकशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र ऊ रच्दै रहन्छ। एउटै वस्तु यस्तो छ जसलाई मानिस जान्दैन, चिन्दैन। जो छन् त उसैसँग, तर उसलाई अज्ञात छ। गीता सुनेर अर्जुनलाई त्यही स्मृति पुनः फर्केर आएको थियो। त्यो स्मृति हो परमात्माको, जुन हृदय-देशमा रहेर पनि त्यस भन्दा धेरै पर छ। त्यसैलाई मानिसले पाउन चाहन्छ, तर बाटो पाउँदैन। कल्याण-पथबाट नै मानिस अनभिज्ञ छ। मोहको आवरण यति बाक्लो छ कि उत्ता सोच्ने समय नै पाउँदैन। ती महापुरुषले तपाईको लागि समय दिएका छन्, त्यस कर्मलाई स्पष्ट गरेका छन्, जसलाई गर्ने निर्देश गीतामा छ। गीता मुख्यतः यही दिन्छ। भौतिक वस्तुहरू पनि उसलाई मिल्दछ, तर श्रेयको तुलनामा प्रेय नगण्य छन्।

योग-प्रदाता – योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार कल्याण–पथको जानकारी, त्यसको साधना र त्यसको प्राप्ति सद्‌गुरुबाट हुन्छ। यता–उता तीर्थहरू घुमेमा वा बढी परिश्रमबाट यो तबसम्म प्राप्त हुँदैन, जबसम्म कुनै सन्तद्वारा प्राप्त नहोस्। अध्याय ४/३४मा श्रीकृष्णले अर्जुनलाई भन्नुभयो– अर्जुन! तिमी कुनै तत्त्वदर्शी महापुरुष नजिक गएर, राम्ररी दण्डवत् गरेर, निष्कपट भावबाट सेवा गरेर, प्रश्न गरेर त्यस ज्ञानलाई प्राप्त गर। प्राप्तिको एउटा मात्र उपाय हो– कुनै महापुरुषको सान्निध्य र उसको सेवा। उसको अनुसार चलेर योगको संसिद्धिकालमा पाउनेछौं। अध्याय १८/१८मा वहाँले बताउनुभयो कि परिज्ञाता अर्थात् तत्त्वदर्शी महापुरुष, ज्ञान अर्थात् जान्ने विधि र ज्ञेय परमात्मा– तीनवटै कर्मको प्रेरक हुन्, अतः श्रीकृष्णको अनुसार महापुरुष नै कर्मको माध्यम हो न कि पुस्तक मात्र। पुस्तक त एउटा नक्शा हो, नक्शा रटेर कोही निरोगी बन्दैन, बरू त्यसलाई अमल (व्यवहार)मा ल्याउनु छ।

नरक – अध्याय १६/१६मा आसुरी सम्पद्‌को वर्णन गर्दै योगेश्वर श्रीकृष्णले बताउनुभयो कि विभिन्न प्रकारले भ्रमित चित्तवाला, मोहमा फँसेका, आसुरी स्वभाव हुने मानिस अपवित्र नरकमा खस्छन्। प्रश्न स्वाभाविक छ कि नरक कस्तो छ र कसलाई भनिन्छ? यसै क्रममा स्पष्ट गर्दै भन्नुहुन्छ कि मसित द्वेष राख्ने नराधमलाई म पुनः–पुनः आसुरी योनिमा पुऱ्याउँछु, कठिन आसुरी योनिमा पुऱ्याउँछु। यही नरक हो। यस नरकको ढोका के हो? वहाँले बताउनुभयो– काम, क्रोध र लोभ नरकका तीन ढोकाहरू छन्, जसद्वारा आसुरी सम्पद्‌को गठन हुन्छ। अतः पटक–पटक कीरा–फट्याङ्ग्रा, पशु इत्यादि योनिहरूमा आउनु नै नरक हो।

पिण्डदान – प्रथम अध्यायमा विषादग्रस्त अर्जुनलाई शंका थियो कि युद्धजनित नरसंहारले पितृहरू पिण्डदान र तर्पणबाट वंचित हुनेछन्, पितृहरू तल झर्नेछन्। यसमा भगवान् श्रीकृष्णले भन्नुभयो– अर्जुन! तिमीलाई यस्तो अज्ञान कहाँबाट भयो? पिण्डोदक क्रियालाई योगेश्वरले अज्ञान भन्नुभयो र बताउनुभयो कि जसरी जीर्ण–शीर्ण कपडालाई त्यागेर मनुस्यले नयाँ कपडा लगाउँछ, ठीक यसैप्रकार गरी यो आत्मा जीर्ण शरीरलाई छोडेर तत्काल शरीररूपी नवीन कपडा धारण गर्दछ। यहाँ शरीर मात्र एउटा वस्त्र हो र जब आत्माले मात्र

वस्त्र बदल्यो, ऊ मरेन, नश्वर शरीरलाई नै बदलेको छ, उसका व्यवस्थाहरू पूर्ववत् छन् तब यस भोजन (पिण्डदान), आसन, शैया, सवारी, आवास वा जल इत्यादिले कसलाई तृप्त गरिन्छ? यही कारण हो कि योगेश्वरले यसलाई अज्ञान भन्नुभयो। अध्याय १५/७मा यसैमाथि जोड (बल) दिंदै भन्नु हुन्छ कि यो आत्मा मेरो सनातन अंश हो, स्वरूप हो र मनसहित पाँचै इन्द्रियहरूको कार्यकलापजन्य संस्कारलाई लिएर अर्को शरीर धारण गर्दछ र मनसहित षट्-इन्द्रियहरूद्वारा अगाडीको शरीरमा विषय-भोगहरू भोग्दछ। आत्माले जुन शरीरलाई धारण गऱ्यो त्यहाँ पनि भोग-सामग्री उपलब्ध छ, फेरि पिण्डदान किन दिइन्छ?

यता एउटा शरीरलाई छोडयो, उत्रा अर्को शरीर धारण गऱ्यो, त्यो सोझै त्यस शरीरमा जान्छ, बीचमा कुनै विराम छैन, कुनै स्थान छैन तब हजारौं पीढिहरूका पितृहरूले अनादिकालदेखि रहिरहनु र उनको जीविका वंश-परम्पराको हात निर्धारित गर्नु तथा पिंजडाको चरा जस्तै त्यसको रुदन, पतन एउटा अज्ञान मात्र हो। यसैले श्रीकृष्णले यसलाई अज्ञान भन्नुभयो।

पाप र पुण्य - यस प्रश्नमा समाजमा विभिन्न भ्रान्तिहरू छन्; तर योगेश्वर श्रीकृष्णको अनुसार रजोगुणबाट उत्पन्न यो काम र क्रोध भोगहरूबाट कहिले तृप्त नहुने महान् पापी हुन्। अर्थात् काम नै एउटा मात्र पापी हो। पापको उद्‌गम काम हो, कामनाहरू हुन। यी कामनाहरू रहन्छन् कहाँ? श्रीकृष्णले बताउनुभयो कि इन्द्रिय, मन र बुद्धि यसको वास-स्थान कहलाउँछन्। जब विकार तनमा होइन, मनमा नै हुन्छन्, तब शरीर धुनाले के हुन्छ?

श्रीकृष्णको अनुसार यस मनको शुद्धि हुन्छ नाम-जपबाट, ध्यानबाट, समकालीन कुनै तत्त्वदर्शी महापुरुषको सेवाबाट, उनको प्रति समर्पणबाट, जसको लागि वहाँ ४/३४मा प्रोत्साहित गर्नुहुन्छ कि '**तद्‌विद्धि प्रणिपातेन**' सेवा र प्रश्न गरेर त्यस ज्ञानलाई प्राप्त गर, जसबाट सबै पाप नष्ट हुनजान्छन्।

अध्याय ३/१३मा वहाँले भन्नुभयो कि यज्ञबाट बाँकी रहेको अन्नलाई खाने सन्तजन सम्पूर्ण पापहरूबाट मुक्त हुन्छन् र जो शरीरको लागि कामना गर्दछन्, ती पापी पाप नै खान्छन्। यहाँ यज्ञ चिन्तनको एउटा निश्चित क्रिया हो,

जसबाट मनमा निहित चराचर जगत्को संस्कार डढेर जान्छन्। मात्र ब्रह्म नै रहन्छ। अतः शरीरको जन्मको जुन कारण छ, त्यही पाप हो र जो त्यस अमृत तत्त्वलाई दिनेवाला हो, जसपछि कहिले शरीर धारण गर्न नपरोस्, त्यही पुण्य हो।

अध्याय ७/२९मा वहाँले भन्नुहुन्छ कि मेरो शरण भएर जन्म-मरण र दोषहरूबाट छुट्नको लागि यत्नगर्ने पुण्यकर्मी जुन पुरुषहरूको पाप नष्ट भइसकेको छ, ती सम्पूर्ण ब्रह्मलाई, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण अध्यात्म तथा राम्ररी मलाई जान्दछन्, र मलाई जानेर ममा नै स्थित रहन्छन्। अतः पुण्यकर्म त्यो हो, जो जन्म-मरण र दोषहरूबाट माथि उठाएर शाश्वतको जानकारी र त्यसैमा सधैंको लागि स्थिति दिलाउँछ र जो जन्म-मृत्यु, दुःख-दोषहरूको परिधिमा घुमाएर राख्दछ, त्यही पापकर्म हो।

अध्याय १०/३मा भन्नुहुन्छ- जो म जन्म-मृत्युबाट रहित, आदि-अन्तबाट रहित तथा सबै लोकहरूको महान् ईश्वरलाई साक्षात्कारसहित विदित गरिलिन्छ, त्यो पुरुष मरणधर्मा मानिसहरूमा ज्ञानवान् हो र त्यस्तो जान्नेवाला सम्पूर्ण पापहरूबाट मुक्त हुन्छ। अतः साक्षात्कारको साथै सम्पूर्ण पापहरूबाट निवृत्ति मिल्दछ।

सारांशतः पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको कारण नै पाप हो र जो त्यसबाट बचाएर शाश्वत परमात्मातिर घुमाउँछ, परमशान्ति प्राप्त गराओस्, त्यही पुण्यकर्म हो। साँचो बोल्नु, मात्र आफ्नै परिश्रमको खानु, स्त्रीहरूमा मातृ-भाव, इमान्दारी इत्यादि पनि यस पुण्य-कर्मका सहायक अंग हुन्; तर सर्वोत्कृष्ट पुण्य हो- परमात्माको प्राप्ति। जो एकमात्र परमात्माको श्रद्धालाई तोड्दछ, त्यही पाप हो।

सन्त सबै एक - गीता, अध्याय ४/१मा भगवान श्रीकृष्णले बताउनु भयो कि यस अविनाशी योगलाई कल्पको आदिमा मैले सूर्यलाई भनेको थिएँ, तर श्रीकृष्णको पूर्वकालीन इतिहास अथवा अरु कुनै पनि शास्त्रमा कृष्ण-नामको उल्लेख मिल्दैन।

वास्तवमा श्रीकृष्ण एउटा पूर्ण योगेश्वर हुनुहुन्छ। वहाँ एउटा अव्यक्त र अविनाशी भावको स्थितिको हुनुहुन्छ। जहिले पनि परमात्मासित मिलाउने

क्रिया अर्थात् योगको सूत्रपात् गरियो तब स्थिति भएको कुनै महापुरुषले गरे, चाहे त्यो राम हुन् वा कृष्ण, ऋषि जरथुस्त्र नै किन न रहेका हुन्। परवर्तीकालमा यही उपदेश ईसा, मुहम्मद, गुरुनानक इत्यादि जसद्वारा निस्कियो, भन्नुभयो श्रीकृष्णले नै।

अतः सबै महापुरुष एउटै हुन्। सबै एउटै बिन्दुको स्पर्श गरेर एउटै स्वरूपलाई पाउँछन्। यो पद एउटा एकाई हो। अनेकौं पुरुष यस पथमा चल्नेछन्, तर जब पाउने छन्, एउटै पद पाउनेछन्। यस्तो अवस्थालाई प्राप्त सन्तको शरीर एउटा घरमात्र रहन जान्छ। वहाँ शुद्ध आत्मस्वरूप हुनुहुन्छ। यस्तो स्थिति हुने वालाले जहिले पनि केहि भन्यो भने एउटा योगेश्वरले नै भन्नुभयो।

सन्त कहीं न कहीं जन्म त लिन्छ नै। पूर्व अथवा पश्चिममा, श्याम अथवा श्वेत परिवारमा, पूर्व-प्रचलित कुनै धर्मावलम्बीहरूको बीच अथवा अबोध कबीलाहरूमा, सामान्य जीवन गरीब परिवारमा अथवा धनी परिवारमा जन्म लिएर पनि सन्त उनको परम्परावाला हुँदैन। त्यो त आफ्नो लक्ष्य परमात्मालाई समातेर स्वरूपतिर अग्रसर हुन्छ, त्यही हुनजान्छ। उनको उपदेशहरूमा जाति-पाति, वर्णभेद र धनी-गरीबको मत-भिन्नता वा तगारो रहँदैन। यहाँसम्म कि उसको दृष्टिमा भाले-पोथीको भेद पनि रहँदैन। (हेरौं- गीता-१५/१६- **द्वाविमौ पुरुषौ लोके**)।

महापुरुषको पश्चात् उनको अनुयायीहरू आफ्नो सम्प्रदाय बनाएर संकुचित हुन्छ। कुनै महापुरुषको पछि लाग्ने यहूदी हुन्छ, भने कसैको अनुयायी ईसाई, मुसलमान, सनातनी इत्यादि हुन्छन्; तर यी पर्खालहरूसंग सन्तको सम्बन्ध हुँदैन। सन्त न त कुनै साम्प्रदायिक हो, न कुनै जाति। सन्त, सन्त हो। उनलाई कुनै सामाजिक संगठनमा सम्मिलित न गरौं।

अतः संसारभरिका सन्तहरूको, चाहे कुनै कबीला (समूह)मा उनको जन्म भएको होस्, चाहे कुनै मज़हब (सम्प्रदाय)वाला उनको पूजा बढी गरोस्, कुनै साम्प्रदायिक प्रभावमा आएर यस्तो सन्तको आलोचना गर्नु हुँदैन; किनकि ती निरपेक्ष हुन्। संसारको कुनै पनि स्थानमा उत्पन्न सन्त निन्दाको योग्य हुँदैन। यदि कोही यस्तो गर्दछ भने त्यो आफूभित्र स्थित अन्तर्यामी परमात्मालाई दुर्बल

गर्दछ, आफ्नो परमात्माबाट दूरी उत्पन्न गर्दछ, स्वयं आफ्नो क्षति गर्दछ। संसारमा जन्मलिनेहरूमा यदि तपाईको कोही सच्चा हितैषी छ भने त्यो सन्त नै हो। अतः उनको प्रति सहृदय रहनु संसारभरिका मानिसहरूको मूल कर्त्तव्य हो। यसबाट वंचित हुनु आफैलाई धोखा दिनु हो।

वेद - गीतामा वेदको वर्णन धेरै आएको छ; तर सबै मिलाएर वेद मार्ग निर्देशक चिन्ह (Mile Stone) मात्र हुन्। गन्तव्यसम्म पुगेपछि त्यस व्यक्तिको लागि उसको उपयोग समाप्त हुन्छ। अध्याय २/४५मा श्रीकृष्णले भन्नुभयो- अर्जुन! वेद तीनवटा गुणहरूसम्म मात्र प्रकाश गर्न सक्छ, तिमी वेदको कार्यक्षेत्रबाट माथि उठ। अध्याय २/४६मा भन्नुभयो- सबैतिरबाट परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय प्राप्तभएमा साना जलाशयबाट मानिसको जति प्रयोजन रहन्छ, राम्ररी ब्रह्मको ज्ञाता महापुरुष अर्थात् ब्राह्मणलाई वेदहरूबाट यति नै प्रयोजन रहन्छ, तर अर्काको लागि त उनको प्रयोजन छ। अध्याय ८/२८मा भन्नुभयो- अर्जुन! मलाई तत्त्वबाट राम्ररी जानेमा योगी वेद, यज्ञ, तप, दान इत्यादिको पुण्यफलहरूलाई पार गरेर सनातन पदलाई प्राप्त गर्दछन्। अर्थात् जबसम्म वेद जीवित छन्, यज्ञ गर्नु बाँकी छ, तबसम्म सनातन पदको प्राप्ति छैन। अध्याय १५/१मा बताउनुभयो- माथि परमात्मा नै जसको मूल छ, तल कीरा-फट्याङ्ग्रासम्म प्रकृति जसको शाखा-प्रशाखा छन्, संसार यस्तो पीपलको एउटा अविनाशी रुख हो। जसले यसलाई मूलसहित जान्दछ, त्यो वेदको ज्ञाता हो। यस जानकारीको स्रोत महापुरुष हो, वहाँद्वारा निर्दिष्ट भजन हो, पुस्तक वा पाठशाला पनि वहाँतिर नै प्रेरित गर्दछन्।

ओम् - श्रीकृष्णको निर्देशनमा ॐको जपको विधान पाइन्छ। अध्याय ७/८- ओंकार म हुँ, ८/१३- ॐ को जप र मेरो चिन्तन गर। अध्याय ९/१७- जान्नेयोग्य पवित्र ओंकार म हुँ। अध्याय १०/३३- अक्षरहरूमा अकार हुँ। अध्याय १०/२५- वचनहरूमा एक अक्षर म हुँ। अध्याय १७/२३- ॐ, तत् र सत् ब्रह्मको परिचायक हो। १७/२४- यज्ञ, दान र तपको क्रियाहरू ॐबाट प्रारम्भ हुन्छ। अतः श्रीकृष्णको अनुसार ॐ को जप नितान्त आवश्यक छ, जसको विधि कुनै अनुभवी महापुरुषहरूबाट सिकौं।

गीतोक्त ज्ञान नै विशुद्ध मनुस्मृति – गीता आदिमानव महाराज मनुभन्दा पनि अगाडी प्रकट भएको छ– **'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान-हमव्ययम्।'** (४/१) अर्जुन! यस अविनाशी योगलाई मैले कल्पको प्रारम्भमा सूर्यसँग भने र सूर्यले मनुसँग भने। मनुले त्यसलाई सुनेर आफ्नो याददास्तमा धारण गर्नुभयो; किनकि सुनेको वस्तु मनको स्मृतिमा नै राख्न सकिन्छ। यसैलाई मनुले राजा इक्ष्वाकुसँग भने। इक्ष्वाकुबाट राजर्षिहरूले जाने र यस महत्वपूर्णकालदेखि यो अविनाशी योग यसै पृथ्वीमा हराएर गयो। शुरुमा भनने न सुनने परम्परा थियो। लिख्न पनि सकिन्छ– यस्तो कल्पनासम्म पनि थिएन। मनु महाराजले यसलाई मानसिक स्मृतिमा धारण गर्नुभयो र स्मृतिको परम्परा दिनुभयो। यसकारण यो गीतोक्त ज्ञान नै विशुद्ध मनुस्मृति हो।

भगवान्ले यस ज्ञानलाई मनुभन्दा पनि पहिले सूर्यसँग भन्नुभयो, तब यसलाई 'सूर्यस्मृति' किन भनिदैन? वास्तवमा सूर्य ज्योतिर्मय परमात्माको त्यो अंश हो जसबाट यस मानव-सृष्टिको रचना भयो। भगवान् श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– "म नै परमचेतन बीजरूपले पिता हूँ, प्रकृति गर्भ धारण गर्ने माता हुन्।" त्यो बीजरूप पिता सूर्य हो। सूर्य परमात्माको त्यो प्रशक्ति हो जसले मानवको संरचना गऱ्यो। त्यो कुनै व्यक्ति होइन र परमात्माको त्यस ज्योतिर्मय तेजबाट मानवको उत्पत्ति हुने वितिकै त्यस तेजमा गीतोक्त ज्ञान पनि प्रसारित गरे अर्थात् सूर्यसँग भने। सूर्यले आफ्नो पुत्र मनुसँग भने, यसकारण यो मनुस्मृति हो। सूर्य कुनै व्यक्ति होइन, बरू बीउ हो।

भगवान् श्रीकृष्ण भन्नुहुन्छ– अर्जुन! त्यही पुरातन योग म तिम्रो लागि भन्न गइरहेको छु। तिमी प्रिय भक्त हौ, अनन्य सखा हौ। अर्जुन मेधावी थिए, सही अधिकारी थिए। वहाँले प्रश्न-परिप्रश्नहरूको श्रृंखला उभ्याई दिए। तपाईको जन्म त अहिले भएको छ तर सूर्यको जन्म त धेरै अगाडि भएको छ। तपाई नै सूर्यसँग भन्नुभयो, यसलाई म कसरी मानीलिउँ? यसप्रकार बीस-पचीस प्रश्न वहाँले गर्नुभयो। गीताको समापनसम्म वहाँको सम्पूर्ण प्रश्न समाप्त भयो, तब भगवान्ले जुन प्रश्न अर्जुनले गर्न सक्दैन्थे, जुन उसको हितमा थियो तिनीहरूलाई वहाँले आफै उठाउनुभयो र समाधान गर्नुभयो। अन्त्यमा भगवान्ले भन्नुभयो,

अर्जुन! के तिमीले मेरो उपदेशलाई एकाग्रचित्त भएर श्रवण गर्‍यौं? के मोहले उत्पन्न भएको तिम्रो अज्ञान नष्ट भयो? अर्जुनले भने–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।१८/७३।।

भगवान्! मेरो मोह नष्ट भयो। मैले स्मृतिलाई प्राप्त गरेको छु। सुनेको मात्र छैन, बरू स्मृतिमा धारण गरी सकेको छु। म तपाईको आदेशको पालन गर्नेछु, युद्ध गर्नेछु। वहाँले धनुष उठाउनु भयो, युद्ध भयो, विजय पाउनुभयो, एउटा विशुद्ध धर्म-साम्राज्यको स्थापना भयो र एउटा धर्मशास्त्रको रूपमा त्यै आदिधर्मशास्त्र गीता फेरि प्रसारणमा आयो।

गीता तपाईको आदिधर्मशास्त्र हो। यो नै मनुस्मृति हो, जसलाई अर्जुनले आफ्नो स्मृतिमा धारण गरेका थिए। मनुको समक्ष दुईवटा कृतिहरूको उल्लेख छ- एउटा त सूर्यबाट उपलब्ध गीता, अर्को वेद मनु समक्ष ओर्ले। तेस्रो कुनै पनि कृति मनुको समयमा प्रकट भएको थिएन। त्यसबेला लेख्न-लेख्न लगाउने प्रचलन थिएन, कागज-कलमको प्रचलन थिएन, त्यसैले ज्ञानलाई श्रुत अर्थात् सुनने र स्मृति-पटलमा धारण गर्ने परम्परा थियो। जसबाट मानवको प्रादुर्भाव भयो, सृष्टिको प्रथम मानव ती मनु महाराजले वेदलाई श्रुति तथा गीतालाई स्मृतिको सम्मान दिनुभयो।

वेद मनुको समक्ष ओर्लेका थिए, यीनलाई सुन, यी सुनने योग्य छन्। पछि गएर यसलाई बिर्सि दिए पनि केही हानि हुने छैन; तर गीता स्मृति हो, सधैं स्मरण राख। यसले प्रत्येक मानवलाई सधैं रहिरहने जीवन, सधैं रहिरहने शान्ति र सधैं रहिरहने समृद्धि, ऐश्वर्यसम्पन्न जीवन प्राप्त गराउने ईश्वरीय गायन हो।

भगवान्ले भन्नुभयो- अर्जुन! यदि तिमीले अहंकारबस मेरो उपदेश सुनेनौ भने विनष्ट हुनेछौ अर्थात् गीताको उपदेशहरूलाई हेला गर्नेहरू नष्ट हुन जाने छन्। अध्याय पन्ध्रको अन्तिम श्लोक (१५/२०) मा भगवान्ले भन्नुभयो- '**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।**' यो गोपनीय भन्दा पनि अति गोपनीय शास्त्र मद्वारा भनिएको छ। यसलाई तत्त्वसमेत जानेर तिमी सम्पूर्ण ज्ञान र परमश्रेयको प्राप्ति गर्नेछौ। अध्याय सोह्रको अन्तिम दुई श्लोकमा भन्नु भयो-

'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।' यो शास्त्रविधिलाई त्यागेर, कामनाहरूबाट प्रेरित भएर अरु अरु विधिहरूद्वारा जसले भज्दछ, त्यसको जीवनमा न त सुख छ, न समृद्धि छ र न परमगति छ।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।' त्यस कारण अर्जुन! तिम्रो कर्तव्य र अकर्तव्यको व्यवस्थामा यो शास्त्र नै प्रमाण हो। यसलाई राम्ररी अध्ययन गर, त्यसपछि आचरण गर। तिमी मभित्र निवास गर्नेछौं, अविनाशी पद प्राप्त गर्नेछौं। सधैं रहिरहने जीवन, सधैं रहिरहने शान्ति र समृद्धि पाउनेछौं।

गीता मनुस्मृति हो र भगवान् श्रीकृष्णको अनुसार गीता नै धर्मशास्त्र हो। अरु कुनै शास्त्र होइन, अरु कुनै स्मृति छैन। समाजमा प्रचलित अनेकौं स्मृतिहरू गीता विस्मृत हुनुको दुष्परिणाम हो। स्मृतिहरू विभिन्न राजाहरूको संरक्षणमा लेखिएको समाजमा उँच-नीच (सानो-ठूलो)को पर्खाल सृजना गर्न, यसलाई जारीराख्ने उपाय हो। मनुको नामबाट प्रचलित तथाकथित मनुस्मृतिमा मनुकालीन वातावरणको चित्रण छैन। मूल मनुस्मृति गीता एउटा परमात्मालाई नै सत्य मान्दछ, त्यसमा विलय गराउँछ; तर वर्तमान कालमा प्रचलित करीब १६४ स्मृतिहरू परमात्माको नामसम्म लिदैन, न त परमात्मालाई प्राप्त गर्ने उपायहरू माथि प्रकाश पार्दछन्। ती मात्र स्वर्गको आरक्षणसम्म सीमित रहने 'न अस्ति'- जो छँदैछैन, त्यसैलाई प्रोत्साहन दिन्छन्। त्यसमा मोक्षबारे उल्लेखसम्म पनि छैन।

महापुरुष - महापुरुष बाहिरी तथा आंतरिक, व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक, लोकरीति र यथार्थ वेद-रीति दुबैको जानकारी राख्दछन्। यही कारण हो कि समस्त समाजलाई महापुरुषहरूले रहन-सहनको विधान बताउनुभयो र एउटा मर्यादित व्यवस्था दिनुभयो। वशिष्ट, विश्वामित्र, स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण, महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध, मूसा, ईसा, मुहम्मद, रामदास, दयानन्द, गुरु गोविन्द सिंह इत्यादि सहस्र महापुरुषहरूले यस्तो गरे; तर यी व्यवस्थाहरू सामयिक हुन्छन्। पीडित समाजलाई भौतिक वस्तु प्रदान गर्नु यथार्थ होइन। भौतिक झंझट क्षणिक हुन्, शाश्वत होइनन्, त्यसैले उनको समाधान पनि तत्सामयिक हुन्छ। त्यसलाई चिरंतन व्यवस्थाको रूपमा ग्रहण गर्न सकिंदैन।

व्यवस्थाकार - सामाजिक विकृतिहरूलाई महापुरुषले सुल्याउने गर्दछन्। यदि यसलाई सुल्झाइएन भने ज्ञान-वैराग्यजनित परमको साधन कसले सुन्नेछ? व्यक्ति जुन वातावरणमा अल्झिएको छ, त्यसलाई त्यहाँबाट हटाएर यथार्थलाई जान्ने स्थितिमा ल्याउनको लागि अनेकौं प्रलोभन दिइन्छन्। यस अर्थमा महापुरुष जुन शब्दको प्रयोग गर्दछ, कुनै व्यवस्था दिन्छ, त्यो धर्म होइन। त्यसबाट सय-दुई सय वर्षको व्यवस्था मिल्दछ, चार-छः सय वर्षको लागि उदाहरण बन्न जान्छ र हजार-दुई हजार वर्षमा त्यो सामाजिक आविष्कार नवीन परिस्थितिहरूको साथ निष्प्राण हुन्छ। गुरु गोविन्द सिंहको सामाजिक व्यवस्था शस्त्र अनिवार्य थियो। के अब त्यस तरवारको शस्त्रको स्थानमा औचित्य छ? ईसा गदहामाथि बस्दथे। (मत्ती २१) गधाको सम्बन्धमा उसले दिएको व्यवस्थाहरूको आज के उपयोग छ? भने- कसैको गधा न चोर। आज गदहा कसले पाल्दछ? यसैप्रकार योगेश्वर श्रीकृष्णले त्यस समयको समाजलाई सम्यक् व्यवस्थित गर्नुभयो, जसको उल्लेख महाभारत, भागवत इत्यादि ग्रन्थहरूमा छन्, साथै यी ग्रन्थहरूमा वहाँले यथार्थको पनि जतातत चित्रण गर्नुभयो। परमकल्याणकारी साधना र भौतिक व्यवस्थाहरूको निर्देशलाई एउटैमा समावेश गरेमा समाज तत्वनिर्णयक क्रमलाई पूर्णरूपेण बुझ्न पाउँदैन। भौतिक व्यवस्थाहरूलाई त्यो जस्ताको त्यस्तै होइन, बरू बढाई-चढाई ग्रहण गर्दछ; किनकि त्यो भौतिक हो। 'महापुरुषले भने'- यस्तो भनेर यी व्यवस्थाहरूको लागि महापुरुषहरूको उदाहरण पनि दिन्छन्। उनीहरू महापुरुषको वास्तविक क्रियालाई बंग्याएर भाँचेर त्यसलाई भ्रामक बनाई दिन्छन्। वेद, रामायण, महाभारत, बाइबल, कुरान सबै प्रति पूर्वाग्रहयुक्त धमिलो धारणाहरू बाँकी छन्।

बाहिरी धरातलमा जीवनयापन गर्ने समाज वहाँको भनाईको स्थूल आशय मात्र गर्न सक्छन्। त्यसैले भगवान् श्रीकृष्णले शाश्वत धाम, अनन्त जीवन सधैं रहिरहने शान्ति प्रदायिनी गीता शास्त्रलाई भौतिक व्यवस्थाहरूबाट अलग राखे। महाभारत भारतको बृहत् इतिहास तथा गौरवशाली संस्कृति-शास्त्र हो। वहाँले यस विशाल इतिहासको बिचमा यसको गायन गर्नुभयो, जसबाट भविष्यमा आउने सम्पूर्ण सन्ततिहरू यस धर्मशास्त्रलाई धार्मिक धरातलमा जस्ताको त्यस्तै बुझ्न सकोस्। कालान्तरमा महर्षि पतञ्जलि इत्यादि अनेक महापुरुषहरूले

पनि परमश्रेयको यथार्थ विधिलाई सामाजिक व्यवस्थाबाट हटाएर अलग प्रस्तुत गरे।

गीता मानिस मात्रको लागि - भगवान्ले यस धर्मशास्त्रको उपदेश '**प्रवृत्ते शस्त्र सम्पाते**' (गीता, १/२०)- ठीक शस्त्र-संचालनको समयमा गर्नुभयो; किनकि वहाँ राम्ररी जान्नु हुन्थ्यो कि भौतिक संसारमा कहिले पनि शान्ति र सुख हुन सक्दैन। अरबौं मानिसहरूको आहुतिपछि पनि जुन विजेता हुनेछ, त्यो पनि विफल मनोरथ र आखिरमा उदास नै हुनेछ, त्यसैले वहाँले यस्तो शाश्वत युद्धको परिचय गीताको माध्यमले दिनुभयो जसमा एक पल्ट विजय भएपछि, सधैं रहिरहने विजय, अनन्त विजय र अक्षयधाम छ, जुन मानव मात्रको लागि सधैं सुलभ छ, जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको लडाई हो, प्रकृति र पुरुषको सङ्घर्ष हो, अन्तःकरणमा अशुभको अन्त्य र परमात्म-स्वरूपको प्राप्तिको साधन हो।

उत्तम अधिकारीको लागि मात्र वहाँले व्यक्त गर्नुभयो। श्रीकृष्णले पटक-पटक भन्नुभयो कि तिमी अति नै प्रेम राख्ने भक्तको हितको इच्छाले भन्दैछु। यो अत्यन्त गोपनीय छ। अन्त्यमा वहाँले भन्नुभयो- जो भक्त होइनौ भने प्रतीक्षा गर। त्यसलाई बाटोमा ल्याऊ र फेरि उसैको लागि भन। यही मानिस मात्रको लागि यथार्थ कल्याणको एउटामात्र साधन छ, जसको क्रमबद्ध वर्णन श्रीकृष्णोक्त गीता हो।

प्रस्तुत टीका - योगेश्वर श्रीकृष्णद्वारा प्रसारित श्रीमद्भगवद्गीताको आशयलाई यथावत अनुवाद गर्नुको कारण प्रस्तुत टीकाको नाम 'यथार्थ गीता' हो। यो भगवानको अन्तस्प्रेरणामा आधारित छ। गीता आफैंमा पूर्ण साधन-ग्रन्थ हो। सम्पूर्ण गीतामा शङ्काको एउटा पनि स्थल छैन। जहाँ कहीं शङ्का छ, त्यो बौद्धिक स्तरमा यसलाई जान्न सकिंदैन, यसैले प्रतीत हुन्छ। अतः बुझ्न सकिएन भने कुनै तत्वदर्शी महापुरुषको सान्निध्यमा बुझ्ने प्रयास गरौं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

निवेदन

'यथार्थ गीता' योगेश्वर श्रीकृष्णको परम पुनीत वाणी श्रीमद्भगवद्गीताको नै अर्थ हो। यसमा तपाईको हृदयमा स्थित परमात्माको प्राप्तिको विधान, प्राप्तिपश्चात् गरेको चित्रण हो। अवहेलनाको दृष्टिबाट यसको उपयोग वर्जित छ, होइन भने हामी आफ्नो लक्ष्यको जानकारीबाट वंचित रहनेछौं। यसको श्रद्धापूर्वक अध्ययनले मानव आफ्नो कल्याणको साधनबाट परिपूर्ण हुन्छ र अलिकति पनि ग्रहण गरेमा परमश्रेयलाई प्राप्त गर्नेछ; किनकि यस ईश्वर-पथमा आरम्भको कहिले पनि नाश हुँदैन।

– स्वामी अड़गड़ानन्द

कैसेट प्रसारणमा अध्यायहरूको पूर्वको भूमिका

१. मात्र एउटा परमात्मामा श्रद्धा र समर्पणको सन्देशदिने गीता सबैलाई पवित्र गर्ने खुल्ला आमन्त्रण दिन्छ। सृष्टिमा कहीं पनि बस्ने धनी र गरीब, कुलीन र आदिवासी, पुण्यात्मा र पापी, स्त्री र पुरुष, सदाचारी एवम् अत्यन्त दुराचारी सबैको त्यसमा प्रवेश छ। विशेष गरेर गीता पापीहरूको उद्धारको सुगम बाटो बताउँछ, पुण्यात्मा त भज्दछन् नै। प्रस्तुत छ त्यही गीताको अद्वितीय व्याख्या, '**यथार्थ गीता**'को कैसेट प्रसारण–

२. शास्त्रको रचना दुई दृष्टिहरूबाट गरिन्छ– एउटा सामाजिक व्यवस्था र संस्कृतिलाई कायम राख्न, जसबाट मानिस पूर्वजहरूको पदचिन्हको अनुकरण गर्नुस्‌कुन् तथा अर्को यो हो कि ऊ शाश्वत शान्तिलाई प्राप्तगरोस्। रामचरितमानस, बाईबल, कुरान इत्यादिमा दुबै पक्षहरूको समावेश छ; तर भौतिक दृष्टि–प्रधान भएको हुनाले मानिस समाजोपयोगी व्यवस्थालाई मात्र समात्न पाउँछन्। आध्यात्मिक सूक्तिहरूलाई पनि उसले सामाजिक व्यवस्थाको संदर्भमा देख्नलाग्दछ; भन्दछ– यस्तो त शास्त्रमा लेखेको छ। यसैले वेदव्यासले दुबैको लागि एउटै ग्रन्थ महाभारत लेखे पनि आध्यात्मिक क्रियाको संकलन गीताको रूपमा बेग्लै गर्‍यो, जसबाट मानिसहरू यस मूल कल्याण–पथमा भ्रान्तिको मिश्रण गर्न नसकोस्। त्यही आध्यात्मिक मूल्यको साथ प्रस्तुत छ गीताको दिव्य–सन्देश–

३. गीता कुनै विशेष व्यक्ति, कुनै जाति, वर्ग, पन्थ, देश–काल वा कुनै रुढिग्रस्त सम्प्रदायको ग्रन्थ होइन; बरू यो सार्वलौकिक तथा सार्वकालिक धर्मशास्त्र हो। यो प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक आयुका प्रत्येक स्त्री–पुरुषको लागि सबैको लागि हो। वास्तवमा गीता सम्पूर्ण मानव जातिको धर्मशास्त्र हो। र यो कति गौरवपूर्ण कुरा हो कि गीता तपाईको धर्मशास्त्र हो–

४. पूज्य भगवान् महावीर, तथागत भगवान् बुद्ध विज्ञ भएपनि लोकभाषाहरूमा पनि गीताकै सन्देशवाहक हुन्। आत्मा सत्य हो र पूर्ण संयमबाट आत्मस्थितिको विधान हो– यो गीताकै विचार हो। बुद्धले त्यही तत्त्वलाई सर्वज्ञ तथा

अविनाशी पद भनेर गीताकै विचारलाई पुष्टगरेका छन्। यतिमात्र होइन, विश्ववाङ्मयमा धर्मको नाममा जे जति सार-सर्वस्व छ- जस्तै एउटा ईश्वर, प्रार्थना, पश्चाताप, तप इत्यादि- गीताकै उपदेश हुन्। त्यही उपदेश स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजीको मुखाब्जबाट निःसृत 'यथार्थ गीता' कैसेटरूपमा मानवमात्रको मुक्तिको दिव्यसन्देश बनेर उपस्थित छ।

५. भारतको लोकगाथाहरूमा उल्लेखित छन् कि सुकरातको शिष्य-परम्पराका मनीषि अरस्तूले आफ्नो शिष्य सिकन्दरलाई भारतबाट गीताज्ञानी गुरु ल्याउने निर्देश दिएको थियो। गीताकै एकेश्वरवादलाई विश्वको अनेकौं भाषामा मूसा, ईसा तथा विभिन्न सूफी महात्माहरूले प्रचार गरे। भाषान्तर भएकोले यी पृथक्-पृथक् प्रतीत हुन्छन् तर सिद्धान्त गीताकै हुन्। अतः गीता मानवमात्रको अतर्क्य धर्मशास्त्र हो। गीताको आशय '**यथार्थ गीता**'को रूपमा प्रस्तुत गरेर स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराजले मानवमात्रलाई एक अमूल्य निधि दिएको छ, जसको कैसेट रूपान्तरण श्रीजीतेन भाईको सौजन्यबाट भएको हो। गीताको दशौं हजार अनुवादहरूको बीच देदीप्यमान यस व्याख्याको आलोकमा तपाई सबै परमश्रेयको साधक बन्नुस्।

६. संसारमा प्रचलित सबै धर्म गीताको दूरस्थ प्रतिध्वनि मात्र हुन्। स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराजद्वारा यसको व्याख्या '**यथार्थ गीता**'लाई सुनेर जैन कुलोत्पन्न श्री जीतेन भाईजीले व्रत नै लिए कि कैसेटको माध्यमबाट यसको प्रसारण गरुँ, किनकि भगवान् महावीर, भगवान् गौतम बुद्ध, गुरुनानक, कबीर इत्यादिको श्रद्धापूरित तप-सिद्धान्तहरूको उच्चतम अभिव्यक्ति गीता हो। गीताको त्यही कैसेट सुमन तपाई सबैको समक्ष आत्मदर्शनार्थ प्रस्तुत छन्।

७. गीताको दुई हजार वर्षपछिसम्म धर्मको नाममा सम्प्रदाय बनेको थिएन। यसैले गीता मज़हब (सम्प्रदाय)मुक्त हो। त्यस बेला विश्वमनीषामा एउटै शास्त्र गुंजिरहेको थियो- उपनिषद्-सार गीता! मोक्ष र समृद्धिको स्रोत गीता! शास्त्र पढ्नुभन्दा त्यसको श्रवणगर्नु अधिक लाभदायक छ किनकि उच्चारणको शुद्धता इत्यादिमा एकाग्रता बाँडिन्छ। यसैले सरल भाषामा रूपान्तरित '**यथार्थ गीता**' को यो कैसेट तपाईको सेवामा प्रस्तुत छन्।

यसको श्रवणबाट केटाकेटीहरूमा, छर-छिमेकीहरूमा परमात्माको शुभ संस्कारहरूको संचार हुनेछ, तपाईको घर-आँगनको वायुमण्डल पनि तपोभूमि जस्तो सुरभित हुनेछ।

८. त्यो घर श्मशान छ जसमा प्रभुको चर्चा छैन। आजको मानव यति व्यस्त छन् कि चाहेर पनि भजनकोलागि समय निकाल्न पाउदैनन्। यस्तो परिस्थितिमा गीताको सन्देश कर्ण-कुहरसम्म पुगेमा परमश्रेय र समृद्धिका संस्कारहरूको बीजारोपण हुनजान्छ। भगवान्को वाणीका यी कैसेटहरूबाट दिनभरी त्यस प्रभुको स्मरण बनेको रहन्छ र यही भजनको आधारशिला हो।

९. आफ्ना केटाकेटीलाई शिक्षा दिलाउँछौ कि उनीहरू राम्रो संस्कार अर्जन गरुन्। राम्रो संस्कारको आशय मानिसहरू लगाउँछन् कि त्यो आफ्नो रोजी-रोटी, आवास-विकासको समस्याहरूको समाधान गरोस्। ईश्वरतिर कसैको ध्यान छैन। कसै-कसै संग सबैथोक छन् त्यसैले प्रभुलाई स्मरण गर्नेको आवश्यकता नै संझन्दैन। तर यी सबै त पार्थिव नै हुन्। नचाहिंदै पनि सम्पूर्ण वैभव यहीं छोडेर जानुपर्दछ। यस्तो स्थितिमा ईश्वरलाई चिन्नु नै एउटामात्र सम्बल हो, जसलाई प्रदान गरिरहेका छन् **'यथार्थ गीता'** को यो कैसेट प्रसारण-

१०. संसारमा जति पनि धार्मिक मत-मतान्तर छन् ती सबै कुनै महापुरुषको पछि श्रद्धालुहरूको सङ्गठित समाज हो। महापुरुषको एकान्त भजनस्थली नै कालान्तरमा तीर्थ, आश्रम, मठ र मन्दिरहरूको रूप लिन्छन् जहाँ महापुरुषको नाममा जीविकोपार्जनबाट लिएर विलासितासम्मको साधन एकत्रित गरिन्छ। गद्दीहरू महापुरुषहरूपछि बन्दछ, गद्दीबाट कोही महापुरुष बन्दैन। यसैले धर्म सदादेखि नै प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषको क्षेत्रको वस्तु रहेको छ। गीता यस्तै निर्विवाद महापुरुष योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको वाणी हो जसको चिरन्तन सत्यहरूबाट तपाईको साक्षात्कार गराई रहेका छन् **'यथार्थ गीता'** को यो कैसेट प्रसारण-

ॐ

गीता तपाईंको धर्मशास्त्र हो !

विश्वमा प्रचलित सबै धार्मिक विचारहरूको आदि उद्गमस्थल भारतको सम्पूर्ण अध्यात्म र आत्मस्थिति दिने सबै शोधको साधन-क्रमको स्पष्ट वर्णन यस गीतामा छ, जसमा ईश्वर एक, पाउने क्रिया एक, बाटोमा अनुकम्पा एक तथा परिणाम एक छ- त्यो हो प्रभुको दर्शन, भगवत् स्वरूपको प्राप्ति र कालभन्दा अतीत अनन्त जीवन। हेर्नुस्-‘यथार्थगीता’।

शास्त्र

परमात्मा प्रवेश गराउने क्रियात्मक अनुशासनको नियमहरूको संकलन नै शास्त्र हो। यस दृष्टिले भगवान् श्रीकृष्णोक्त गीता सनातन, शाश्वत धर्मको शुद्ध शास्त्र हो; जुन चारवटा वेद, उपनिषद्, सबै योगशास्त्र, रामचरित मानस तथा विश्वको सबैदर्शनशास्त्रहरूको एक्ले प्रतिनिधित्व गर्दछिन्। गीता मानवमात्रको लागि धर्मको अतर्क्य शास्त्र हो।

परमात्माको निवास

त्यो सर्वसमर्थ, सधैं रहिरहने परमात्मा मानवको हृदयमा स्थित छ। सम्पूर्ण भावहरूद्वारा उसको शरणजाने विधान छ, जसबाट शाश्वत धाम, सधैं रहिरहने शान्ति र अनन्त जीवनको प्राप्ति हुन्छ।

सन्देश

सत्य वस्तुको तीनवटै कालहरूमा अभाव छैन र असत्य वस्तुको अस्तित्व छैन। परमात्मा नै तीनवटै कालहरूमा सत्य हो, शाश्वत हो, सनातन हो।

– स्वामी अड़गड़ानन्द

५२०० वर्षको लामो अन्तरालपछि श्रीमद्भगवद्गीताको शाश्वत व्याख्या

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

फोन - (022) 28255300 • ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com • वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com